सौन्दर्य-शास्त्र

डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १६५३ ईस्वी

तीन रुपया

मुद्रक :—राम आसरे कक्कड़
हिन्दी-साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

'सुन्दर'—यह उन अभागे शब्दों में से है जिनके शुद्ध प्रयोग की अपेक्षा हम दुष्प्रयोग अधिक करते हैं। साधारणतया हम किसी भी रोचक अथवा तृप्ति देने वाली वस्तु को 'सुन्दर' कह उठते हैं। यह सच है कि सौन्दर्य में रोचकता उसका प्राण है और हमारे भावना-जीवन की तुष्टि और पुष्टि सौन्दर्य का चरम प्रयोजन है। यह भी सच है कि सौन्दर्य की अनुभूति केवल कलाकार अथवा दार्शनिक का एकाधिकार नहीं है, अपितु मनुष्य में सहज सरसता के कारण यह अत्यन्त साधारण है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्येक पार्थिव पदार्थ का पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकर्षण। किन्तु जिस प्रकार 'आकर्षण' की अनुभूति सर्व-साधारण होते हुए भी विश्लेषण के लिये कठिन है, उसी प्रकार सृष्टि में मानवी स्तर पर आकर्षण का मूल तत्त्व—सौन्दर्य—विलक्षण वस्तु है जिसके विश्लेषण के लिये शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक है।

हमारी साधारण तृप्ति में उद्वेग का स्पर्श रहता है। इससे जीवन का ह्रास होता है। सौन्दर्य जिस तृप्ति का नाम है उससे जीवन का विकास, प्राणों में स्फूर्त्ति, हृदय में उदात्त वेदना का संचार तथा कल्पना के लिये नवीन आलोक का सृजन और शान्ति का संचार होता है। श्रम नहीं, विश्राम ही सौन्दर्यानुभूति का फल है। इस विशेषता के कारण ही यह जीवन के लिये परम उपयोगी अनुभव है—दार्शनिक दृष्टि से तो यह जीवन का परम आधार है। इसीलिये कुशल स्रष्टा ने सम्पूर्ण सौन्दर्य की जननी पृथ्वी पर, दिव्य सौन्दर्य के अक्षय निधान-रूप आकाश के नीचे, जीवन का आविर्भाव किया है। इससे भी बढ़ कर मनुष्य को सृजन के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति देकर आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना के द्वार खोल दिये हैं। फलतः मनुष्य के बनाए हुए संसार में आध्यात्म जगत् के जीवित प्रतीक अनेक कला-कृत्तियों के रूप में विद्यमान हैं। सौन्दर्यानुभूति के महत्त्व के कारण संसार में कलाकार, दार्शनिक, रसिक, सभी ने इस विषय पर विचार किया है।

संस्कृत और अंग्रेजी में सौन्दर्य-शास्त्र के ऊपर पर्याप्त साहित्य लभ्य है। हमें इसे अपनाना चाहिए। हिन्दी में इस विषय पर अधिक रचनाएँ प्रकाश में नहीं आईं ऐसा प्रतीत होता है। पुराने संस्कारों के प्रभाव से अभी हम पश्चिमी विद्वानों के विचारों को ही हिन्दी में अनुवाद के रूप में लाते हैं। मानना होगा कि हमें अभी स्वतंत्र विचार करने का साहस कम है। लेखक और प्रकाशक दोनों ही इस प्रभाव से बचे नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में लेखक का 'सौन्दर्य-शास्त्र' सम्बन्धी प्रयास दुःसाहस मात्र प्रतीत होता है। पाठकों से निवेदन है कि वे इसे दुःसाहस मान कर ही अपनावें और यह जान कर क्षमा करें कि इस प्रकार के प्रयत्नों के बिना मौलिक साहित्य का सृजन असम्भव है, ठीक उसी प्रकार जैसे वायु-यान का विकास बिना उड़ाकों के दुःसाहस बिना असम्भव था।

लेखक आशा करता है कि सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिये अभी और रचनाएँ होंगी तथा कला के विभिन्न अंगों का सूक्ष्म निरूपण होगा। यदि इस ओर प्रस्तुत पुस्तक से कोई प्रेरणा मिल सकी तो लेखक का श्रम अवश्य ही सफल होगा।

श्री गणेश प्रसाद गुप्त तथा श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी से इस पुस्तक के लिखने में लेखक को प्रोत्साहन मिला है। ये अवश्य ही लेखक के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

हरद्वारी लाल शर्मा

विषय-सूची

सौन्दर्य-शास्त्र

हमारे अनुभव का अन्तर्जगत् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दमय बाह्य संसार की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विचित्र है। उसमें आँखों देखे विश्व की झाँकी तो है ही, इससे भी अधिक, वहाँ प्रेम की धाराएँ बहती हैं, क्रोध-ईर्ष्या की ज्वालाएँ धधकती हैं, ज्ञान के दीपक जलते हैं, कहीं आशा का धूमिल प्रभात फूट उठता है और स्वप्नों में उलझ कर कामना के मधुगन्धमय झोंके चलते हैं। वहाँ निराशा की निविड़ रजनी भी है, उत्कण्ठा के प्रबल प्रपात भी; वहाँ आदर्शों के शिखरों की उच्चता है और शील के समुद्र का गाम्भीर्य भी। वहाँ करुणा के स्रोत फूटते हैं, हिंसा के ज्वालामुखी गरजते हैं। वहाँ शान्ति और क्रान्ति दोनों ही पलते हैं। वहाँ कोमल कान्त भावनाएँ, मृदु-सजीव कल्पनाएँ, उदात्त विचार और मधुर स्मृतियाँ हैं। विज्ञ लोगों का तो कथन है कि हमारे परिचित चेतन अनुभव के भी मूल में अनन्त, अचेतन शक्तियाँ क्रियाशील हैं। जीवन के गम्भीरतम, क्रान्तिकारी अनुभव, जिनसे नवीन युगों का निर्माण होता है तथा जिनसे नवीन सौन्दर्य की सृष्टि और सत्य का उद्घाटन होता है, इसी आत्मा के गम्भीर गर्भ में उत्पन्न होते और पलते हैं। अन्तर्जगत् में विचरण करने वाले ऋषियों ने आत्मा को अनन्त, अनादि, अखण्ड, अज्ञेय, अमेय आदि कह कर अपनी वास्तविक अनुभूति का ही वर्णन किया है।

चिरकाल से हम इस अन्तर्जगत् को समझने और व्यवस्थित करने का प्रयत्न करते आये हैं। 'व्यवस्था' भी मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी वृत्ति से प्रेरित होकर हम अपने अनुभव को व्यवस्थित करते हैं। व्यवस्था का सबसे पहला क्रम समान अनुभवों को एकत्र करना होता है। अनेक समान वस्तुओं के समुदाय को 'वर्ग' कहते हैं और अनेक वस्तुओं को वर्गों में व्यवस्थित

करना 'वर्गीकरण' कहलाता है। इसके अनन्तर हम प्रत्येक वर्ग के सामान्य और विशेष गुणों का पता लगाते हैं। इस क्रिया का नाम 'विश्लेषण' है। निरीक्षण और प्रयोग द्वारा हम वस्तुओं का विश्लेषण किया करते हैं। ऐसा करने से हमें उनके 'सामान्य' नियम स्पष्ट प्रतीत होने लगते हैं। प्रत्येक सामान्य नियम दूसरे से निश्चित सम्बन्ध रखता है। सामान्य नियमों में परस्पर सम्बन्ध की गवेषणा करने से हमारा सम्पूर्ण ज्ञान विशद और संगठित हो जाता है। 'वर्गीकरण' से लेकर 'संगठन' तक सारा प्रयत्न बुद्धि के द्वारा अपने अनुभूत जगत्—आन्तरिक और बाह्य—को समझने के लिए होता है। व्यवस्था करना और समझना वस्तुतः एक ही प्रक्रिया के दो नाम हैं।

एक उदाहरण लीजिए: हम कुछ वस्तुओं को समानता के कारण 'पुष्प' कहते हैं। हम निरीक्षण द्वारा इसके गुणो और अवयवों का पता लगाते हैं। ऐसा करने से अनेक सामान्य नियम स्पष्ट प्रतीत होते हैं, जैसे, प्रत्येक पुष्प रंगीन होता है और अपने वर्ण के कारण परिमण्डल में आकर्षक प्रतीत होता है। कुछ मक्खियाँ और भौंरे उन पर मँड़राते और उनका पराग इधर-उधर ले जाते हैं। जहाँ इनके उड़ने के लिए अधिक अवकाश नहीं मिल पाता, वहाँ पुष्प के अनन्तर फलों की समृद्धि कम होती है, आदि। पुष्प सम्बन्धी इन सामान्य नियमो को हम संगठित करते हैं: पुष्पों का रंगीन और आकर्षक होना, उन पर मधुमक्खियों और भ्रमरों का गुनगुना कर मँडराना, इसके अनन्तर फल की समृद्धि—ये तीनों नियम वस्तुतः उस प्राकृतिक व्यवस्था के अंग हैं जिससे सारा वनस्पति-जगत् पलता और समृद्ध होता है। इन नियमों के आविष्कार और संगठन से हम प्राकृतिक उद्देश्य को समझने में समर्थ होते हैं। हमारा ज्ञान व्यवस्थित हो जाता है। वनस्पति सम्बन्धी इस व्यवस्थित ज्ञान को वनस्पति-विज्ञान कहा जाता है।

किसी भी व्यवस्थित ज्ञान को हम 'विज्ञान' कहते हैं। विज्ञान का एक विशेष दृष्टि-कोण होता है। वह यह कि इसमें हम वस्तुओं के गुणों, प्राकृतिक घटनाओं के क्रम-विकास और उनके सामान्य नियमों की गवेषणा और स्थापना करते हैं, किन्तु उन वस्तुओं के मानव-सम्बन्ध और उनके आध्यात्मिक प्रभाव का अध्ययन

नहीं करते। प्रत्येक वस्तु का अपना स्वरूप है, वह प्राकृतिक जगत् की एक घटना है और प्राकृतिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। एक फूल को ही लीजिए : वह वनस्पति-जगत् की अनिवार्य घटना है। वनस्पति का एक ओर तो जीवधारियों और चेतन प्राणियों से सम्बन्ध है, दूसरी ओर जल, वायु, ताप, खाद्य आदि अनेक पार्थिव पदार्थों से निश्चित सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध को हम सामान्य- नियमों द्वारा जानने का प्रयत्न करते हैं। विज्ञान फूल को प्राकृतिक वस्तु मान कर तत्सम्बन्धी नियमों का अन्वेषण करता है : यह फूल किस प्रकार मनुष्य को प्रभावित करता है; किस प्रकार मानव-हृदय में आनन्द की भावनाओं को जाग्रत करता है; क्यों इसका सौरभ और सौन्दर्य गम्भीर चेतनाओं को उद्बुद्ध करता है; क्या कारण है कि यह प्रकृति का साधारण पदार्थ निष्पाप, निष्कलंक जीवन, इसकी रंगरेलियाँ, सुरभित मुख और इसके अन्तिम परिणाम का प्रतीक बन गया है? इस वस्तु के स्पर्श, दर्शन अथवा ध्यान से मनुष्य की नैतिक भावनाएँ किस प्रकार पुष्ट और प्रभावित होती हैं? इन सब प्रश्नों पर विज्ञान विचार नहीं करता। संक्षेप में, विज्ञान का दृष्टि-कोण वस्तु की प्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करने के कारण *वास्तविक* है, उसके मानव प्रभावों का अध्ययन न करने के कारण *आध्यात्मिक* नहीं है।

(२)

हमारे अनुभव की वैज्ञानिक व्यवस्था वास्तविक होती है, आध्यात्मिक नहीं। यह विज्ञान का दोष नहीं, गुण है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के मानवीय प्रभावों का अध्ययन करने में वस्तु का अपना महत्त्व घट जाता है और हमारा ध्यान केवल उसके प्रभावों को समझने में लग जाता है। विज्ञान ने वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप को समझने के लिये उसको 'मनुष्य' से पृथक् किया और प्राकृतिक व्यवस्था का अंग बनाया, जिससे विज्ञान में प्रेम-द्वेष, शोक-भय-उत्कण्ठा आदि के स्थान पर सामान्य-नियमों का निष्पक्ष, संगत और संगठित ज्ञान उदय हुआ। इस ज्ञान का नीरस होना अनिवार्य था, क्योंकि रस की भावना से पक्षपात उत्पन्न हो सकता है। वर्तमान विज्ञान ने बुद्धि को भावना के प्रबल प्रभाव से मुक्त करके उसे अपने ही नियमों के अनुसार स्वतंत्र विचार करने की शक्ति दी है, यहाँ तक कि

हम वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य को भी प्राकृतिक जगत् की एक घटना समझते हैं, और, उसके शरीर और मन का अध्ययन बादल और बिजली की भाँति ही करते हैं।

विज्ञान का दृष्टि-कोण हमें मान्य होते हुए भी पूर्ण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वस्तु की सत्ता उसके गुणों के विश्लेषण और सामान्य नियमों के ज्ञान से समाप्त नहीं हो जाती। फूल केवल पंखुरियों, रज, सौरभ और रस का समुदाय मात्र ही नहीं है, वह सुन्दर भी है; वह हमारी अनेक भावनाओं का केन्द्र है, क्योंकि मनुष्य का अनुभव केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं है; उसकी भावनाएँ, कल्पना-शक्ति, आह्लाद और आनन्द केवल भ्रम अथवा मनोविकार नहीं हैं; ये सम्पूर्ण मानव-जीवन के अभिन्न, निकटतम, श्रेष्ठतम और प्रियतम अंग हैं। इनके अभाव की एक क्षण के लिये कल्पना कीजिये : हमारा सारा अनुभव और जगत् व्यर्थ घटनाओं का प्रवाह-मात्र रह जायगा। वस्तुओं के रंग-रूप, उनके रस, स्पर्श तथा ध्वनि, प्रभाव-हीन होने के कारण, केवल निष्प्राण आकार अथवा प्रतिबिम्ब की भाँति चित्रपट पर अंकित होंगे। हम नहीं कह सकते कि उस भावना-शून्य अवस्था में हमें सूर्य और चन्द्रमा, सन्ध्या और प्रभात, बादल, वन, समुद्र, प्रपात, निर्झर और सरिताएं, हमारे स्वयं प्रियजन, पत्नी, पुत्र, माता, पिता, यहाँ तक कि हमारा जीवन ही, कैसे प्रतीत होंगे; वस्तुओं का आकर्षण समाप्त हो जायगा और इसके साथ जीवन की प्रवृत्तियाँ भी। सारा जगत् आकर्षण-विकर्षण-शून्य निष्चेष्ट आकृतियों का पुतलीघर बन कर रह जायगा। हम नहीं कह सकते कि उस अवस्था में जीवन और अनुभव भी सम्भव हो सकेंगे।

अस्तु, सम्पूर्ण वस्तु के अध्ययन के लिये उसके आध्यात्मिक प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है। ये प्रभाव मानसिक जगत् की घटनाएँ हैं, और आँधी, वर्षा, भूचाल आदि प्राकृतिक घटनाओं की भाँति ही सत्य और विश्वास के योग्य हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु केवल प्रकृति का अंग ही नहीं है, अपितु अपने आध्यात्मिक प्रभावों के कारण, वह चेतना का स्फुलिंग है। वह हमारे आत्मिक जगत् की घटना है और हमारी भावना, कल्पना और आनन्द का प्राण है। वस्तुओं के इस आध्यात्मिक और चेतन स्वरूप को समझने तथा इनके प्रभावों को यथाविधि व्यवस्थित करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी उनके

प्राकृतिक स्वरूप को विज्ञान द्वारा व्यवस्थित करने की होती है। वस्तुओं के चेतन स्वरूप और उनके आध्यात्मिक प्रभावों को 'व्यवस्था' देने के लिये '*शास्त्र*' का उदय होता है।

वैज्ञानिक और शास्त्रीय व्यवस्था में वास्तविक और आध्यात्मिक दृष्टि का भेद है अवश्य, परन्तु दोनों में व्यवस्था के सिद्धान्त समान ही हैं। व्यवस्था का मूल-सिद्धान्त *संगति* है। इसके अनुसार प्रत्येक सामान्य नियम का आधार साधारण अनुभव और निरीक्षण है; अतएव विज्ञान अथवा शास्त्र के सामान्य निष्कर्ष हमारे अनुभव का विरोध करके सत्य नहीं माने जा सकते। हम विचार द्वारा जिन निर्णयों पर पहुँचते हैं, वे अनुभव के अनुकूल होकर ही सत्य माने जा सकते हैं। इन निर्णयों में परस्पर विरोध भी सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर इनका संगठन ही न हो सकेगा। शास्त्र और विज्ञान दोनों ही संगत और संगठित ज्ञान का सम्पादन करते हैं।

तब शास्त्र का स्वरूप क्या है?

विज्ञान का प्रत्येक निर्णय, अन्ततोगत्वा, साधारण अनुभव की ओर लौटता है। यह साधारण अनुभव प्राकृतिक घटनाओं का निरीक्षण है। ये घटनाएँ बाह्य जगत् में किसी स्थान, समय और परिस्थिति में प्राकृतिक नियमों के अनुसार घटित होती रहती हैं। इनका निरीक्षण वैज्ञानिक निर्णय की कसौटी है। परन्तु हमारा अनुभव निरीक्षण तक ही सीमित नहीं है, हम अपने आन्तरिक, गम्भीर अनुभवों को भी बाह्य घटनाओं की भाँति ही स्वीकार करते हैं, इन्हीं अनुभवों पर हम विचार करते हैं। बाह्य घटनाओं के *निरीक्षण* करने के स्थान पर अपने आन्तरिक अनुभवों पर विचार करना '*मनन*' कहलाता है। शास्त्र इसी मनन क्रिया की उपज है। यदि वैज्ञानिक सत्य की अन्तिम परीक्षा वास्तविक घटनाओं का निरीक्षण है तो शास्त्रीय सत्य का आधार और कसौटी हमारे आन्तरिक अनुभवों का मनन है। विज्ञान ने हमें बताया है कि आकाश की नीलिमा अनन्त अन्तराल का केवल अन्धकार है, और, ये नक्षत्र और तारे गैसों से बने महा पिण्ड हैं, परन्तु इस ज्ञान से तारिका-जटित नीलाकाश के सौन्दर्य का अनुभव भ्रम सिद्ध नहीं हुआ। आज हम उषा, इन्द्र-धनुष, विद्युत् आदि प्रकृति के

अनेकानेक पदार्थों के विषय में अधिक जानते हैं, परन्तु इनकी दिव्यता और छटा की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं हो पाया है। हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों और समुद्र के अमेय विस्तरों को देख कर हमारा हृदय दिव्य-भावना से गद्‌गद् हो जाता है। दुःखी मनुष्य की सहायता करके मन प्रसन्न होता है: दीनों पर अन्याय होते देख मन में दुःख और अन्याय के प्रति क्रोध और घृणा का अनुभव होता है। यदि हमारे ये आह्लादमय, धार्मिक अथवा नैतिक अनुभव सत्य नहीं है तो हम बाह्य जगत् के अनुभव को कैसे विश्वसनीय मान सकते हैं? शास्त्र इन्हीं अनुभूतियों का अनुशीलन करके इनके स्वरूप का निश्चय करता है; उनमें संगति के सिद्धान्तों के अनुसार व्यवस्था उत्पन्न करता है।

(३)

शास्त्र और विज्ञान के अतिरिक्त, दर्शन का भी एक पथक् दृष्टिकोण है। विज्ञान 'पुष्प' के प्राकृतिक स्वरूप का निश्चय करता है, और शास्त्र उसके आध्यात्मिक प्रभावों का मनन करता है। परन्तु इतने से पुष्प की सत्ता समाप्त नहीं हो जाती। इसको पूर्णतया समझने के लिये अभी पूछा जा सकता है; क्योंकि 'पुष्प' केवल प्राकृतिक वस्तु अथवा आध्यात्मिक अनुभूति ही नहीं है, इसलिये इसके अतिरिक्त इसका चरम स्वरूप क्या है? क्या इसका कोई अपना उद्देश्य है अथवा इसका विकास और ह्रास नियमों के अकाट्य बन्धनों में बँधा हुआ है? हमारे सम्पूर्ण अनुभव में इसका क्या स्थान है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये, हमें केवल 'पुष्प' के ऊपर ही विचार न करना होगा, वरञ्च कुछ चरमान्त प्रश्नों को सुलझाना होगा, जैसे, 'सत्ता' किसे कहते हैं? यह सत्ता जड़ है अथवा चेतन? इन्द्रियों की बाह्य गति को थोड़ा रोक कर अनुभव करने से प्रतीत होता है कि हमारा स्वयं स्वरूप प्रवाह की भाँति प्रवहणशील है। प्रवाह की भाँति ही यह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता और आगे बढ़ता प्रतीत होता है। यह सारी सत्ता काल की धारा-सी प्रतीत होने लगती है। काल की यह सतत-गामी धारा क्या निरुद्देश्य है अथवा इसका कोई उद्देश्य है? क्या इस प्रवाह में हमें कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है अथवा कोई महाशक्ति हमें अज्ञात दिशा की ओर ले

जा रही है ? हमारा अनुभव विचित्र और विशाल है। इसमें बाह्य और आन्तरिक जगत् का अनुभव सम्मिलित है, भावना, कल्पना, स्मृति, प्रवृत्ति और इच्छाएं भी हैं। इस विस्तृत और विविध अनुभव को सूत्रित करने के लिये किस प्रकार सामञ्जस्य उत्पन्न किया जाये ? क्या सामञ्जस्य सम्भव भी है ? यह सामञ्जस्य क्यों हमारे मानवीय स्वभाव के लिये आवश्यक है ? क्या हम अपनी बुद्धि आदि शक्तियों के द्वारा 'सत्ता' को समझ भी सकते हैं ? यदि नहीं, तो यह समझने की इच्छा क्या भ्रममात्र है ? क्या बुद्धि के अतिरिक्त भी कोई अन्य साधन है जिससे हम सत्ता को हृदयङ्गम कर सकें ?

ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रश्न दार्शनिक प्रश्न हैं। इनसे दार्शनिक दृष्टि-कोण स्पष्ट हो जाता है। वह संक्षेप में इस प्रकार है : प्रत्येक वस्तु और अनुभव सम्पूर्ण सत्ता का अंग है। इस सत्ता के स्वरूप और उद्देश्य को समझकर हम किसी वस्तु और अनुभव को पूर्णरूपेण समझ सकते हैं। जब कभी हम 'पुष्प' अथवा 'आनन्द' अथवा किसी भी वस्तु और अनुभव के चरम स्वरूप को जानने के लिये उसे सम्पूर्ण सत्ता का अंश मान कर विचार करते हैं तब हमारा दृष्टि-कोण दार्शनिक होता है। सत्ता असीम, अनन्त, अनादि, और, किसी के अनुसार, अज्ञेय अथवा अनिर्वचनीय भी है, और, हमारा अनुभव अथवा कोई वस्तु ससीम, सान्त, सादि और ज्ञेय है। दार्शनिक विचार का अर्थ तब तो ससीम को असीम के द्वारा, सान्त को अनन्त के द्वारा, सादि को अनादि के द्वारा तथा ज्ञेय को अज्ञेय के द्वारा समझने का प्रयत्न है। क्या यह प्रयत्न व्यर्थ और मूढ़ता का द्योतक तो नहीं है ? कुछ लोग दर्शन को 'अन्धेरे कमरे में काली बिल्ली की खोज जहाँ वह नहीं है' की भाँति मानते हैं। सत्य तो यह है कि हमारी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति बिना दर्शन के हो जाती प्रतीत होती है, परन्तु हमारा प्रत्येक कार्य, योजना और तृप्ति हमारे दार्शनिक दृष्टि-कोण को, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से, प्रकट करते हैं। जो व्यक्ति पुष्प के सौन्दर्य, विद्युत् की दिव्यता और आकाश के उदात्त मंडप का अनुभव न करके, केवल 'नून-तेल-लकड़ी' के प्रयत्नों में फँसा हुआ है, उसका जीवन संकुचित है। जीवन के विस्तृत अन्तराल में ज्यों ही हम प्रवेश करते हैं, इसकी समस्याओं पर विचार

और इसकी विचित्रता का अनुभव करते हैं, हमें अवश्य ही सत्ता की सम्पूर्णता का अनुभव होता है: इतना स्पष्ट न सही जितना 'पुष्प' का, परन्तु यही अस्पष्ट, धूमिल अनुभव हमारे सारे जीवन को रँग देता है और यह प्रत्यक्ष 'पुष्प' अक्षय आनन्द और सौन्दर्य का निधि बन जाता है।

(४)

हमने जीवन के अनन्त अन्तराल और विविध अनुभवों का उल्लेख किया है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय केवल एक अनुभव है। वह अनुभव है आनन्द, आह्लाद अथवा रस। इसके स्वरूप को समझने के लिये, मनुष्य युगों से मनन करता आया है, और इस आनन्द-चेतना के अनुशीलन से वह अपनी आत्मा के स्वरूप को भी समझने में समर्थ हुआ है। उसने आज से युगों पूर्व निर्णय किया था कि आत्मा स्वयं रसमय है, यह आकाश आनन्द का छलकता हुआ प्याला है, इत्यादि। आर्य काल से लेकर अब तक हमारी सभ्यता और संस्कृति में निरन्तर परिवर्त्तन और विकास होता आया है। हमारे नैतिक और धार्मिक विश्वास, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ ऐतिहासिक कारणों से बदलते रहे हैं। न जाने कितनी क्रान्तियाँ इधर-उधर बिखरे खंडहरों में छिपी पड़ी हैं। यह सब होते हुए भी हमारी आनन्द-भावना आज भी जीवित है और सदैव जीती रहेगी, कारण कि इसका जीवन के मूल से घनिष्ट सम्बन्ध है। निश्चय है, इस भावना के उन्मूलन से जीवन ही उन्मूल हो जायगा। युग के प्रभावों और ऐतिहासिक परिस्थितियों से जीवन की यह मूलभूत चेतना निर्बल अथवा सबल, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, मलिन अथवा निर्मल, ऊसर अथवा उर्वर, होती रही है, किन्तु इसका प्रवाह सनातन और अविच्छिन्न रूप से बहता रहा है। प्रत्येक युग ने साहित्य और कला के सृजन से अपनी पुष्ट आनन्द-चेतना को व्यक्त किया है।

हमारा यह अनुभव असाधारण नहीं, अपितु सर्व-साधारण है। संसार की असभ्य, अर्द्ध-सभ्य और बर्बर जातियों में भी नृत्य, वाद्य, चित्रकारी, संगीत आदि के द्वारा जीवन में उल्लास भरने का प्रयत्न किया जाता है। इनका प्रकृति-

प्रेम प्रसिद्ध है। पर्वत-मालाओं, गिरि-गुहाओं और घने वनों को छोड़कर, ये हमारे नगरों के कठोर और कृत्रिम वातावरण में दूर रहना पसन्द करते हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि इन लोगों के गीतों और वाद्यों में सभ्य कहलाने वाले संगीत की जटिलता न सही, किन्तु इतनी मार्मिकता, मार्दव और माधुर्य होता है कि वह हृदय के गम्भीर स्तरों को स्पर्श करता प्रतीत होता है। जीवन की सरलता और स्वाभाविकता में, हमारी आनन्द-चेतना और भी स्वच्छन्द, स्पष्ट और प्रबल हो उठती है। सभ्यता और संस्कृति अवश्य ही इसका संस्कार करते हैं, साथ ही जटिल और जड़ भी बनाते हैं, क्योंकि वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति दोनों ही बाह्य और आन्तरिक जीवन में विशेष नियमों के बन्धन और अनुशासन के नाम हैं।

जीवन की यह सनातन और व्यापक चेतना कहाँ और कैसे उत्पन्न होती है?

आनन्द की जिस अनुभूति का हम वर्णन करने चले हैं वह वस्तुतः अनुभूति का आनन्द है। हम अनेक वस्तुओं, उनके आकारों और रंगों का प्रत्यक्ष करते हैं, ध्वनियाँ सुनते हैं, स्मृति द्वारा अतीत का अवगाहन और कल्पना द्वारा अपूर्व और नवीन प्रदेशों में भ्रमण करते हैं। हमारे विचार और भाव भी हमें तल्लीन करने में समर्थ होते हैं। अपने दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष आदि का उपयोग प्रवृत्तियों की सफलता के लिये किया जाता है। हम सूर्योदय देखकर कार्य में लग जाते हैं; विद्युत् की चमचमाहट देखकर शीघ्र सुरक्षित स्थान में चले जाते हैं; कल्पना की सहायता से योजनाएँ बनाते हैं। परन्तु जब कभी सूर्योदय और विद्युत् का साक्षात् अनुभव, कल्पना स्मृति, विचार और भावना प्रवृत्ति को जन्म न देकर अपने रंग, रूप आदि विशेष गुणों के द्वारा केवल भोग और रस का उद्रेक करते हैं, तो हमारे जगत् की ये साधारण वस्तुएँ अद्भुत आनन्द के मूलस्रोत-सी प्रतीत होने लगती हैं। उस समय हम इनको 'सुन्दर' कहते हैं। सुन्दर वस्तुओं के इस सौन्दर्य से हृदय आह्लाद पाता है, जीवन की साधारण प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिये स्थगित हो जाती हैं, संघर्ष रुक जाने से मन और शरीर की प्रणालिकाओं में नवीन रस का संचार होता हुआ प्रतीत होता है, और आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ उठते हैं। हमारा

यह अनुभूति किसी वस्तु की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द का नाम है। अपनी अनुभूति—प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि—द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाले वस्तु के गुण को 'सौन्दर्य' और उस वस्तु को 'सुन्दर' कहते हैं।

सौन्दर्य का अनुभव व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। इससे हृदय सरस और जीवन उर्वर होता है; बुद्धि को नवीन चेतना और कल्पना को सजीवता प्राप्त होती है। इस महत्त्वपूर्ण अनुभूति का अनुशीलन करने, इसके स्वरूप और स्वभाव को समझने, जीवन की दूसरी अनुभूतियों के साथ इसका सम्बन्ध स्पष्ट करने तथा इसकी पुष्ट और रचनात्मक शक्ति को समझने के लिये जिससे कला का जन्म होता है, हमें एक विशेष विचार-माला की आवश्यकता होती है। इस व्यवस्थित विचार-माला को हम 'सौन्दर्य-शास्त्र' कहते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य की शास्त्रीय विवेचना है।

यदि हम सुन्दर वस्तु को प्राकृतिक जगत् की वस्तु मानकर निरीक्षण, प्रयोग आदि द्वारा उसके गुणों का विश्लेपण करें, और सुन्दर कही जाने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की गवेपणा करें, तो हमारे प्रयत्न से 'सौन्दर्य-विज्ञान' प्राप्त होगा। उदाहरणार्थ : हम आकाश, हरे वन, जल-विस्तार, दूर तक फैले हुए खेतों और मैदानों को सुन्दर कहते हैं। इन वस्तुओं के विश्लेपण से एक बात स्पष्ट जानी जाती है कि ये प्रिय लगने वाले रंगों के विशाल और विस्तृत पदार्थ हैं। इनकी विशालता और तरलता में हमारे जीवन की प्रतिध्वनि मिलती है। अतः हमें ये सुन्दर प्रतीत होते हैं। अतएव सौन्दर्य-विज्ञान का निर्णय है कि वस्तुओं की विशालता और तरलता उन्हें सौन्दर्य प्रदान करती हैं। इसी प्रकार हम अनेक सुन्दर वस्तुओं के निरीक्षण और परीक्षण से—सुन्दर रागों, मूर्तियों, चित्रों, काव्य-कथानकों आदि के विश्लेपण से—इनके सौन्दर्य के स्वरूप को सामान्य नियमों द्वारा समझने में समर्थ हो सकते हैं। आधुनिक विज्ञान ने स्वरों, श्रुतियों, रंगों और आकारों आदि की परीक्षा करके इनके माधुर्य और सौन्दर्य को निश्चित रूप से समझने का प्रयत्न किया है।

हमें यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण आदरणीय है। परन्तु हम इसे पूर्ण नहीं मानते, कारण कि वस्तु के सौन्दर्य का उसके रंग, रूप, रचना, आकार आदि से

जितना सम्बन्ध है, इससे अधिक उनका सम्बन्ध 'आनन्द' अथवा 'रस' की अनुभूति से है। सुन्दर वस्तु आनन्दप्रद होने के कारण हमारी चेतन सत्ता का अंश है। हम उस वस्तु को उसके आध्यात्मिक प्रभाव से विच्छिन्न नहीं कर सकते। हम सुन्दर वस्तु का प्राकृतिक पदार्थ—पानी और हवा—की भाँति अध्ययन नहीं करते। पानी इसलिये पानी है, क्योंकि विश्लेषण द्वारा हम जानते हैं कि यह हाइड्रोजन और ओषजन के विशेष संयोग से बना है। परन्तु सुन्दर वस्तु केवल अपने आकार और रचना के कारण ही नहीं, वरन् इसलिए भी सुन्दर है कि इसका अनुभव आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। प्रत्येक रचना के सौन्दर्य की अन्तिम परीक्षा हमारी अनुभूति के द्वारा ही होती है। सौन्दर्य के इस आध्यात्मिक स्वरूप की परीक्षा सौन्दर्य-शास्त्र और इसके प्राकृतिक स्वभाव की गवेषणा सौन्दर्य-विज्ञान का काम है।

प्रस्तुत निबन्ध में शास्त्रीय दृष्टि-कोण की प्रधानता है, परन्तु हमने वैज्ञानिक विचार-शैली को भी उचित स्थान दिया है।

सौन्दर्य के विषय में कुछ दार्शनिक समस्याएँ भी हैं। सौन्दर्य की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि क्यों है? सौन्दर्य से हमारा क्या सम्बन्ध है? क्या सम्पूर्ण सृष्टि की रचना सौन्दर्य के सिद्धान्तों के अनुसार किसी दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति के लिये हुई है? क्या बहते हुए स्रोत, खिलते हुए पुष्प, लहराते हुए वन, शालि-क्षेत्र, समुद्र और तारिकाओं वाला आकाश, ये सब चेतन सत्ता के मूर्त्त-रूप हैं? किन मूल-भावनाओं की प्रेरणा से मनुष्य अपनी आनन्द-अनुभूतियों को मूर्त्त करना चाहता है? हमारे सम्पूर्ण अनुभव में 'आनन्द' का क्या स्थान है? इत्यादि प्रश्न सौन्दर्य के दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये हैं। यद्यपि इन प्रश्नों का पूर्ण उत्तर हमारे प्रस्तुत क्षेत्र से बाहर है, तथापि अपने विषय का स्पष्ट विवेचन इनके बिना सम्भव नहीं है। इसलिये सौन्दर्य-दर्शन हमारी शास्त्रीय विवेचना की मूल-भीत्ति की भाँति हमारे सम्पूर्ण ग्रन्थ में विद्यमान है।

(५)

सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र और विस्तार को स्पष्ट करने के लिये हमें इसकी मुख्य समस्याओं को समझना चाहिये।

(क) हमारी चेतना का वह अंश जिसे हमने 'आनन्द' कहा है, अनेक ऐतिहासिक कारणों से विकास और ह्रास पाता है। मूलतः यह चेतना सामूहिक है, अतएव समाज के उत्थान और पतन के नियम इसके लिये लागू होते हैं। प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक की इसके निरन्तर विकास की कहानी, इसके नियमों का अध्ययन, इस शास्त्र का आवश्यक अंग है।

(ख) हमारी चेतना अखण्ड है, अतएव इसका खण्डशः अध्ययन सुलभ होते हुए भी सही नहीं माना जा सकता। 'आनन्द' जीवन की व्यापक अनुभूति है। इसको दूसरी अनुभूतियों से पृथक् करना न सम्भव है न उपयुक्त। यह शास्त्र 'आनन्द' का सम्पूर्ण चेतना तथा इसके दूसरे महत्त्वपूर्ण अंशों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट करता है।

(ग) हमने ऊपर कहा है कि 'वस्तु' सुन्दर होती है और इस वस्तु के अनुभव को 'आनन्द' कहते हैं। वस्तु का सौन्दर्य उसका आध्यात्मिक रूप है। वह जिस चेतना को जन्म देता है, उसे 'रस' वा 'आनन्द' कहा जाता है। सौन्दर्य से रस की उत्पत्ति एक रहस्यमय क्रिया है। इस शास्त्र में हम न केवल सौन्दर्य और आनन्द के स्वभाव का निश्चय करते हैं, साथ ही, रसोत्पत्ति की प्रक्रिया को भी समझने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिये हमें कई मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का सुलझाव करना होता है, जैसे; मन को वे कौन-सी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनसे हम वस्तु के सौन्दर्य को ग्रहण कर पाते हैं? मानसिक आस्वादन का क्या प्रकार है! इत्यादि।

(घ) हम 'सुन्दर' वस्तु और उसके अनुभव का विश्लेषण भी करते हैं, जिसके फल-स्वरूप इसके मूल-तत्त्वों का उद्घाटन होता है। ये मूल-तत्त्व वस्तु के सौन्दर्य के जनक होते हैं। इनमें पहला अंश 'भोग' है। यह अंश उस वस्तु के विशिष्ट रंग, रस, ध्वनि, स्पर्श आदि हैं जो हमें स्वभावतः प्रिय लगते हैं और 'भोग' की भावना उत्पन्न करते हैं। दूसरा 'रूप' तत्त्व है: यह रंगों, रेखाओं ध्वनियों का विशेष विन्यास है जो स्वभावतः आह्लाद-जनक होता है। तीसरा तत्त्व 'अभिव्यक्ति' है। 'भोग' और 'रूप' से किन्हीं मानसिक अनुभवों की व्यञ्जना

होती है, जैसे, किसी मूर्ति में मुख की कुछ रेखाएँ निराशा, धैर्य अथवा उल्लास को प्रकट करती हैं, अथवा, पीले रंग से आश्चर्य, लाल से भयंकर तेज, श्याम वर्ण से शृङ्गारिक सौन्दर्य आदि की प्रतीति होती है। सौन्दर्य-शास्त्र इन तत्वों के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है।

(ङ) सौन्दर्य के अतिरिक्त एक और अनुभव है जो वस्तुतः इसी की विकसित उच्च भूमि है। इसका नाम 'उदात्त' है। हमारी आनन्द-चेतना साधारण भोगेच्छा से भिन्न है, क्योंकि हमारे साधारण सुख-दुःख इसे नहीं छू पाते। परन्तु हम सुख-दुःख के अनुभवों से तटस्थ भी नहीं हो सकते। 'सुन्दर' के अनुभव में 'सुख' का पर्याप्त अंश रहता है। परन्तु विशेष अवस्थाओं में हमें 'दुःख' से भी 'आनन्द' का अनुभव होता है। दुःख से 'आनन्द' की अनुभूति का नाम 'उदात्त' होता है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने 'सुन्दर' और 'उदात्त' भावनाओं के विश्लेषण के लिये स्थान दिया है।

(च) विधाता की सुन्दर सृष्टि के अतिरिक्त मनुष्य ने भी 'सुन्दर' वस्तुओं का सृजन किया है। मनुष्य की ये सुन्दर सृष्टियाँ जो रस के पुलकित स्रोत की भाँति हैं संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, भवन, काव्य आदि अनेक कलाओं के रूप में विद्यमान हैं। कला-सम्बन्धी अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर सौन्दर्य-शास्त्र देता है। वैसे तो कला-शास्त्र भिन्न ही होता है। परन्तु कला में सौन्दर्य का प्रश्न, भिन्न-भिन्न कलाओं में इसके अनुभव का स्वरूप आदि निश्चय करना, इसी शास्त्र का काम है।

प्रस्तुत निबन्ध की सीमाएँ उपर्युक्त दिग्दर्शन से निश्चित की गई हैं। हम इसकी सहायता से सौन्दर्य-शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र और विस्तार का अनुमान कर सकते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र (एक विशेष दृष्टि-कोण से जिसे 'शास्त्रीय' कहा जा सकता है) मानवीय चेतना के उस अंश का विधिवत् अध्ययन करता है, उसके विश्लेषण, विकास, सृजन, आस्वादन सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करता है, जिस अंश को हम 'आनन्द' ('रस') 'आह्लाद' की अनुभूति कहते हैं और जो वस्तु के सौन्दर्य से उत्पन्न होता है।

(६)

इस शास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है ?

वैसे तो किसी भी शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता सामान्य-रूप से बुद्धि का प्रसाद है। शास्त्र के अध्ययन से हमारा ज्ञान और अनुभव सुव्यवस्थित और संगठित हो जाता है। वस्तुओं का स्वभाव, उनकी सत्ता का स्वरूप, साथ ही अपना स्वरूप, समझ में आने लगते हैं, तथा विश्व और इसका अनुभव कुछ सामान्य नियमों से बँधे हुए प्रतीत होने लगते हैं। इससे एक विचित्र मानसिक आह्लाद तो होता ही है, साथ ही जीवन में हमारा विशेष दृष्टि-कोण स्पष्ट हो जाता है। इससे जीवन का आनन्द मिलता है। साथ ही, मनुष्य शास्त्र के अध्ययन से मननशील होता है, और, मननशीलता ही मनुष्यता का सार होने से, उसका जीवन गम्भीर, उसकी दृष्टि प्रसन्न, उसके कार्य विचारपूर्ण, उसकी बुद्धि निर्भ्रान्त और भावना पुष्ट और सन्तुलित हो जाती हैं। हमारे जीवन में इससे अधिक सुख और क्या होगा ?

सौन्दर्य-शास्त्र की विशेष उपयोगिता भी है। सौन्दर्य के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ रहने से विश्व में आनन्द की निधि हमसे तिरोहित रहती है। अनभिज्ञता के कारण ही, हम अनेक दिव्य और सुन्दर वस्तुओं को छोड़ कर, वस्तुतः असुन्दर वस्तुओं के पीछे लगे रहते हैं। सौन्दर्य-चेतना के विकास के लिये इस शास्त्र का अध्ययन अतीव उपयोगी है। कला में तो विशेष रूप से हमें साधारणतया सुन्दर और असुन्दर का भेद करना कठिन होता है। शास्त्र के अज्ञान से हमारे समय में तो केवल पशु-प्रवृत्ति को तृप्ति देने वाले रागों, चित्रों और काव्यों के प्रचार से जन-रुचि इतनी विकृत हो गई है कि इसके सुधार के बिना राष्ट्रीय पतन का भय है। लोक-रुचि को परिष्कृत और विकसित बनाने के लिये इस शास्त्र का अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है, क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्र ही हमें यह बताता है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तुतः सुन्दर वस्तु आकर्षक, प्रिय और मनोमोहक होती है, तथापि प्रत्येक आकर्षक, प्रिय और मनोमोहक वस्तु सुन्दर नहीं होती।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हम नहीं जानते कि जीवन में सौन्दर्य-चेतना का उदय किस समय हुआ। सम्भवतः जीवन के साथ ही जीव में आनन्द की भावना भी जाग्रत हुई। अथवा, आनन्द की भावना से ही जीवन का आविर्भाव हुआ। इस प्रश्न का निश्चित सुलझाव कठिन है और अनावश्यक भी। हम जड़ और चेतन के सन्धि-काल और जीव-सृष्टि के धूमिल प्रभात का ठीक अनुमान नहीं कर सकते। इतना हम अवश्य जानते हैं कि विना आनन्द और आशा के जीवन की कल्पना असम्भव है।

यहाँ हमारा मुख्य प्रश्न इस चेतना के उदय-विषयक नहीं, इसके विकास के सम्बन्ध में है। हमारे व्यक्तिगत जीवन में सौन्दर्य-चेतना का विकास होता है। शिशु की आँखों से देखे गये जगत् का सौन्दर्य प्रौढ़ होते-होते बदल जाता है। शिशु का अनुभव सरल और शुद्ध होता है। उसमें युवावस्था की वासना, किशोर के स्वप्न और वृद्ध की दार्शनिकता का मिश्रण नहीं होता। उसे भाँति-भाँति के रंगों, ध्वनियों स्पर्शों आदि में हो अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। जो वस्तु हमारे लिये साधारण प्रतीत होने लगती है, उसकी नवीनता ही उसके लिये आकर्षक होती है। हमारी सरल और साक्षात् अनुभूति का यह शिशु-आनन्द सौन्दर्य-चेतना के विकास की प्रथम भूमि है। इसका मुख्य लक्षण वस्तु के प्रत्यक्ष गुणों का '*भोग*' है।

अनुभव के व्यवस्थित होने पर केवल रंगों और ध्वनियों के स्थान पर उनके विशिष्ट आकारों का भी साक्षात्कार होने लगता है। रंगों के विशेष संस्थान, वस्तुओं की विशेष व्यवस्था, ध्वनियों का विशेष संयोजन, एक विशिष्ट आह्लाद को उत्पन्न करते हैं। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आकार का यह आनन्द सौन्दर्य-

चेतना के विकास की दूसरी भूमि है। इसके अनन्तर, जीवन की जटिलता के साथ ही, वस्तु गुणों और आकारों के अनुभव में एक व्यञ्जकता का आविर्भाव होता है। प्रत्येक रंग, रेखा, ध्वनि और उनके आकारों का एक आध्यात्मिक अर्थ निकलने लगता है। किसी रंग से शीतलता, किसी से तेज, किसी से आश्चर्य तो किसी से गम्भीरता; किसी रेखा से जीवन का माधुर्य, किसी से निराशा, किसी से उल्लास और विजय; और, इसी प्रकार संगीत की ध्वनि से प्रेम, वैराग्य, वीरता आदि का अनुभव होने लगता है। यह मनुष्य की पक्व और गम्भीर अवस्था का अनुभव है। वह आकाश में जीवन की अनन्तता, बहती हुई जल-धारा में हृदय की तरलता, लहलहाती दूर्वा में भावनाओं का विश्राम और उनकी शीतलता, आदि की झाँकी पाकर प्रसन्न हो उठता है। यह हमारे सौन्दर्य-जीवन में विकास की तृतीय भूमि मानी जा सकती है।

हमारी सौन्दर्य-अनुभूति केवल व्यक्तिगत ही नहीं होती; उसका एक सामूहिक रूप भी है। इतिहास में जिस काल-विभाग को 'युग' कहा जाता है, उसमें भावना की एकता होती है। उस युग के लोगों का नैतिक दृष्टि-कोण, उनका धार्मिक विश्वास तथा जीवन के प्रति भाव लगभग समान ही होते हैं, जिसके कारण समाज में सामञ्जस्य रहता है। एक युग में सम्पूर्ण जन-समाज एक ही भावना के वायु-मण्डल में श्वास लेता है, जिस कारण उसकी आशा और निराशा, उसके हर्ष और विषाद, उसके गान और क्रन्दन, साहित्य, कला, और, जिस किसी प्रकार से मनुष्य जीवन के आन्तरिक अनुभवों को व्यक्त करता है, इन सबमें प्रेरणा समान ही होती है। यथार्थ में मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना अपने युग की सामूहिक चेतना का अङ्ग ही होती है।

युग-क्रान्ति के साथ जीवन और भावना में भी क्रान्ति उत्पन्न होती है, अथवा, यों कहिये कि सामाजिक जीवन में नवीन चेतना के उदय से नवीन युग का आह्वान होता है। आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के बदल जाने से समाज की व्यवस्था, उसके नियम और अनुशासन, यहाँ तक कि हमारी भावना, विश्वास और जन-रुचि सभी असंगत-से प्रतीत होने लगते हैं। यह युग-सन्धि का समय होता है जब एक ओर पश्चिम में अपनी लाल ज्वाल-मालाओं को

लिये, क्रन्दन, आवेग और पीड़ा के साथ, एक युग अस्त होता दिखाई देता है, और, दूसरी ओर, दूर क्षितिज में, नवीन युग, अपनी प्रस्फुटित किरणों का आकर्षण लिये, उत्साह और उल्लास के साथ, उदय होता दृष्टि में आता है। मनुष्य न जाने अब तक कितनी युग-क्रान्तियाँ देख चुका है। इन्हीं क्रान्तियों की कहानी उसका इतिहास है।

प्रत्येक युग नवीन आदर्शों को लेकर आता है। इन्हीं आदर्शों की स्वप्निल छाया में समाज में भी नवीन सौन्दर्य-चेतना का आविर्भाव होता है। अपने हृदय की इस गम्भीर और प्रिय अनुभूति को व्यक्त करने के लिये, शब्द, ताल-लय रेखा-रंग, आदि अनेक साधनों द्वारा, प्रत्येक युग सुन्दर वस्तुओं की सृष्टि करता है। युग-परिवर्त्तन के साथ हमारी अभिरुचि में भी परिवर्त्तन होता है, और, नवीन युग सौन्दर्य की नवीन अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार आदिम काल से लेकर अब तक मनुष्य की कला-कृतियाँ, इधर-उधर बिखरे हुई मूर्तियों और भवनों के अवशेष, साहित्य और संगीत, इस चेतना के विकास की कहानी कहते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास इसी आध्यात्मिक चेतना के विकास की क्रमबद्ध कहानी है।

(२)

मनुष्य ने अपनी आदिम अवस्था में किस सौन्दर्य का अनुभव किया? इस प्रश्न का उत्तर हमारे इतिहास का प्रथम पृष्ठ है। हम इसके विषय में कल्पना ही कर सकते हैं। यह हमारे इतिहास का शैशव-काल और चेतना का प्रथम स्फुरण था। आदिम मनुष्य ने अपने आप को 'अनन्तता' से घिरा पाया होगा। उसके चारों ओर अछोर वन, उसके सम्मुख क्षितिज से भी उस पार तक फैला हुआ सागर, उसके ऊपर अनन्त अन्तरिक्ष का नीला आवरण। यद्यपि आज भी ये वस्तुएँ हमारे सम्मुख हैं, तथापि हमारा अनुभव नगरों, तालाबों, छोटे-छोटे बागीचों और उपवनों आदि से इतना पूर्ण है कि इसमें 'असीम' की अनुभूति को कोई मुख्य स्थान प्राप्त नहीं। आदिम मनुष्य का दूसरा अनुभव 'स्वच्छन्दता' का रहा होगा। अनुशासन, नियम और विधान के अनेक बन्धनों

में बँधा हुआ हमारा आज का जीवन इस अनुभव से लगभग अपरिचित-सा है। आकाश में उड़ता हुआ चालक और जलयान को समुद्र में खेने वाला नाविक भी एक निश्चित मार्ग और नियम का पालन करता है। वह भी 'स्वच्छन्दता' के अनुभव से अनभिज्ञ रहता है, साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या जो पद-पद पर मार्ग के अनुशासन का पालन करने के लिये बाध्य होता है। आदिम मनुष्य ने अपने समय में प्रचण्ड आँधियों के वेग को, स्वच्छन्द-गति नदों को, निर्बाध-रूप से विचरने वाले वन-पशुओं को देखा होगा। उसके संसार में मार्ग और मर्यादा थे ही नहीं। बन्धन का यह सर्वथा अभाव एक विशेष अनुभूति उत्पन्न करता है, जो, यद्यपि वह आज हमसे दूर है, हमारी सौन्दर्य-अनुभूति के लिये आवश्यक है।

'असीम' और 'स्वच्छन्द' का अनुभव आदिम मनुष्य के जीवन का मुख्य अंग रहा होगा। साथ ही, 'जीवन' का भी स्वयं अनुभव उसने निकटतम होकर किया होगा। सभ्यता और संस्कृति, धर्म और नीति, अर्थ और राजनीति, आदि के आवरणों से मनुष्य-जीवन को मूल-प्रेरणाएँ आज कुछ तिरोहित और शिथिल-सी हो गई हैं। आदिम अवस्था में प्रति दिन भीषण झंझा, अग्नि-काण्ड, शिखरों का आस्फालन आदि भयंकर प्राकृतिक घटनाओं का सामना होता होगा। आखेट में जीवन और मृत्यु का नित्य निकट से दर्शन होता होगा। वस्तुतः आदिम मनुष्य ने जीवन में तरलता, वेग, उसकी भीषणता और साथ ही जीवन का जीवन के लिये आह्लाद, उत्साह, वीरता, आशा और निराशा, तुमुल संघर्ष और विश्राम, आदि का ज्वलन्त अनुभव किया होगा। जीवन की सरलता में ये अनुभव स्पष्ट रहे होंगे, और, हमारे आज के जटिल जीवन का दमन और चिन्ताओं का आवरण न होने से वास्तविक उल्लास और विषाद का अनुभव हुआ होगा।

जीवन में, हर्ष से भी अधिक, भय प्रेरक शक्ति है। आदिम जीवन में 'भय' का प्रमुख स्थान है। चन्द्र और सूर्य ग्रहण के अवसरों पर, ज्वालामुखी के उद्गारों, भूकम्पों, बवंडरों, अग्नि-काण्डों और पर्वतों के फटने पर, उसका भय कितना तीव्र हुआ होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। सभ्यता के आदिकाल

में ये प्राकृतिक घटनाएँ प्रायः घटती रहती थीं। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन में भी नित्य भय का अनुभव करना पड़ता होगा। आदिम मनुष्य ने भय से प्रेरित होकर ही सभ्यता की ओर पद रक्खा—यह मानना कठिन न होगा। यद्यपि साधारणतया भय उद्वेग उत्पन्न करने वाली भावना है, तथापि आदिम जीवन में अनिवार्यरूप से विद्यमान रहने के कारण सम्भवतः यही भावना सुख और साहस का भी मूल बन गई होगी। आज भी हमारे सौन्दर्य के अनुभव में, विशेष अवसरों पर, आतंक का पर्याप्त अंश रहता है, जैसे ऊँचे पर्वत-खण्ड, प्रपात, अतल गर्त्त, जल-प्रवाह आदि भयावह प्राकृतिक दृश्यों को देखने में इनके आकर्षण का मूल इनमें भय उत्पादन करने की शक्ति है। भय का यह आकर्षण आदिम जीवन की एक मूल प्रेरणा थी।

हमने आदिम जीवन की व्यापक अनुभूतियों का उल्लेख किया है। ये उस युग की चेतना के मुख्य अंग और आकर्षण थीं। इस चेतना के कोई अवशिष्ट व्यक्त चिह्न तो हमें प्राप्त नहीं, किन्तु कहीं-कहीं गिरि-गुहाओं में गेरू से बने हुए उस समय से सम्बन्ध रखने वाले चित्र पाये जाते हैं: जैसे वन्य वराह को भाले से छेदने के या किसी भयंकर भैंसे द्वारा पिछा किया जाने के दृश्य, गेरू की रेखाओं के माध्यम से अंकित हैं। इन आदिम चित्रों में रेखाएँ सरल हैं, किन्तु उनकी गति स्वच्छन्द है: उनमें चित्र-कला के नियमों की अवहेलना है। परन्तु इसी गति की स्वच्छन्दता से जीवन की तरलता और उसकी उद्दण्ड शक्ति प्रस्फुट हो उठी हैं। भय की भावना इन चित्रों का प्राण है। निश्चय ही, ये चित्र उस युग की सौन्दर्य-चेतना की सफल अभिव्यक्तियाँ हैं।

उस युग की ही क्यों, आज भी सभ्यता के बोझ से विकल होकर हमारे जीवन की मूल-भावना अपने आदिम स्वरूप की ओर दौड़ती है जब इसकी गति सरल और निर्बाध, किन्तु इसकी शक्ति अदम्य और उद्दण्ड थी। यद्यपि आज उस चेतना का उदय सम्भव नहीं रहा, तथापि उसके प्रति हमारा आकर्षण वैसा ही है। कला के द्वारा उस जीवन की अभिव्यक्ति का तो इस समय सफल होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, किन्तु आज भी कला का आदर्श उसी चेतना को व्यक्त करना माना जाता है। आदिम मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना, और उसकी कला

द्वारा अभिव्यक्ति हमारे वर्त्तमान जटिल युग के लिये तो अवश्य ही आदर्श होने चाहिए, जिससे हम जीवन की अनन्तता, स्वच्छन्दता, सरलता और तरलता, गति और शक्ति, तथा इसकी प्रबल प्रेरणा का फिर से आस्वादन कर सकें।

(३)

आदिम अवस्था से लेकर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता तक बहुत समय बीता होगा—ऐसा इतिहासकारों का अनुमान है। इसी अन्धकाल में, हमारे देश में पूर्व की ओर से कई जातियों ने प्रवेश किया और यहाँ के मूल-निवासियों की सभ्यता में एक नवीन धारा का संगम हुआ। एक नूतन वातावरण का उदय हुआ, जिसका महत्त्व सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से बहुत है, यद्यपि हमारा घटनात्मक इतिहास इस काल के विषय में मौन है।

सौन्दर्य-शास्त्र का अनुमान है कि इस काल में 'शिव-चेतना' का आविर्भाव हुआ जो मोहनोजोदड़ो और आर्यों के काल तक व्यापक और पुष्ट होकर हमारी तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति और धार्मिक भावना का अंग बन चुकी थी। ये 'शिव' क्या हैं? वस्तुतः यह शिव-तत्त्व हमारी आदिम-चेतना का जीवित प्रतीक है। हमने कहा है कि सभ्यता के उदय से पूर्व जब मनुष्य अपने स्वाभाविक रूप में था, उसने 'असीम', 'स्वच्छन्द', 'तरल', 'सरल' और 'भयंकर' जीवन का अनुभव किया। यह आदिम अनुभव ही 'शिव-चेतना' की मूल-भूमि है। इसी में उत्पन्न होकर यह पुष्ट हुई और अपनी पुष्ट अवस्था में यह चेतना साकार और सजीव होकर हमारे सम्मुख 'शिव' रूप में उपस्थित हुई। हमने अपनी साकार चेतना को दिव्यता प्रदान की, उसकी उपासना प्रारम्भ की, उसके सारे इतिहास को कल्पना-शक्ति से उत्पन्न किया, और, आज तक भी हम उसी समूर्त्त और सजीव आदिम-चेतना की उपासना के लिये शिव-मन्दिरों का निर्माण करते हैं। सत्य तो यह है कि यदि हम 'शिव' के इस रूप को नहीं समझते, तो हम अपनी वर्त्तमान संस्कृति की नींव से अनभिज्ञ ही हैं।

हम इस कल्पना से मोहनजोदड़ो की सभ्यता को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। वहाँ पर पाई गई शिव-मूर्तियाँ, धातु की बनी हुई नर्त्तिकाओं की

प्रतिमाएँ, सिक्कों पर खुदे हुए साँड़, हिरण आदि के चित्र, ये सब शैव-सभ्यता के स्पष्ट चिह्न हैं। सम्भव है पश्चिम की ओर से आई हुई जातियों के सम्पर्क से इसी समय 'शिव-चेतना' में और भी अधिक विकास हुआ हो। उसके साथ शक्ति, त्रिशूल, वृषभ, डमरू, कपाल-माला, ताण्डव-नृत्य, प्रलयंकर तृतीय नेत्र, आदि वस्तुएँ, शिव-चेतना को और भी स्पष्ट और सजीव बनाने के लिये जोड़ दी हों। कुछ भी हो, आर्य-सभ्यता के उदय से पूर्व, शिव की सदेह उपासना व्यापक हो चुकी होगी। ये शिव हमारे सरल, तरल, असीम, स्वच्छन्द, किन्तु भयंकर, आनन्द के जीवित प्रतीक हैं।

(४)

वैदिक जीवन में जीवन के प्रति आनन्द और उत्साह की भावना है। परन्तु इसमें दिव्यता और अध्यात्मिकता की गहरी छाप है। ऋग्वेद काल के देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि, एक ओर तो प्रकृति के दिव्य पदार्थ हैं, किन्तु दूसरी ओर, ये आर्य-जीवन की ज्वलन्त अनुभूतियाँ हैं। ये उस काल की सौन्दर्य-चेतना के स्फुलिङ्ग हैं। 'सविता' को लीजिये : वह केवल पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त होने वाला प्रकाश-पिण्ड ही नहीं है, वरन् वह 'वरेण्य भर्गः' अथवा श्रेष्ठ तेज भी है जिसके ध्यान से मानव-बुद्धि को विशुद्ध प्रेरणा मिलती है। आर्य-संस्कृति की विराट्-कल्पना अपूर्व थी। विराट्-जीवन अथवा विश्व-जीवन में पशु, मनुष्य, वनस्पति, पर्वत, सागर, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र, सभी किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से अपना अपना काम कर रहे हैं। वह दिव्य-शक्ति जो चराचर की प्रेरक है और जो विराट्-जीवन को सँभालती है 'ऋत्' है। हम विराट् को सत्य भी कहते हैं, क्योंकि उसकी सत्ता है। हमारे अनुभव का सारा जगत् 'सत्य' अथवा सत्ता तथा 'ऋत्' अर्थात् उस सत्ता में व्यवस्था, नियम और विधान, से बना हुआ है। ऋत् और सत्य ही विश्व का स्वरूप है, यही हमारे अनुभव का भी स्वरूप है। इसका जन्म 'तप' से होता है। वैदिक साहित्य में 'तप' शब्द का गम्भीर अर्थ है। तप से उत्पत्ति और सृजन होते हैं। वस्तुतः तप का अर्थ सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना

होता है। जीवन का स्वाभाविक प्रवाह बहिर्मुख है, किन्तु इस जीवन का मूल-स्रोत अन्तरात्मा है। सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को सृजनात्मक शक्ति के इस केन्द्र की ओर ले जाने से नवीन सृष्टि होती है। अतः तप से ही 'सत्य' 'ऋत्' रूप सम्पूर्ण विराट् और अनुभव उत्पन्न होते हैं।

विराट्-जीवन के लिये ही सूर्य तपता और पवन चलता है। सभी प्राकृतिक कार्य 'ऋत्' शक्ति की प्रेरणा से उसी जीवन के पोषण और वृद्धि के लिये चलते रहते हैं। सारे विश्व में कोई भी वस्तु अपने लिये नहीं है। प्रत्येक वस्तु उसी के लिये मानो अपने आप को 'समर्पण' कर रही है। विराट्-जीवन के लिये यह आत्म-समर्पण 'यज्ञ' है, जिसमें वन, पर्वत, पशु, मनुष्य और देवता सभी आहुति दे रहे हैं। मनुष्य का जीवन विराट्-जीवन का अभिन्न अंग है, उसी विराट्-यज्ञ की आहुति है। उसकी चेतना उसी विराट्-चेतना का अंश है, उसकी श्वास विश्व-श्वास की एक उच्छ्वास है। मनुष्य जितना भी अपने आप को इस विराट्-जीवन से दूर करता है, उसका जीवन भी उतना ही क्षुद्र और दुःखमय बन जाता है। जितना उसके साथ तादात्म्य और एकता स्थापित करता है, उतना ही वह सुखी, बृहत् और व्यापक हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ ही बृहत् और व्यापक है; मनुष्य का मूल-स्वरूप ब्रह्म है। इसी विराट्-जीवन के साथ 'यज्ञ' द्वारा तादात्म्य प्राप्त करके वह 'ब्रह्मत्व' का अनुभव करता है।

वैदिक जीवन की व्यापकता ही उसका प्राण है। यह व्यापकता वस्तुओं को अलग, अलग करने अथवा विश्लेषण से प्राप्त नहीं होती, वरञ्च उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करने से मिलती है। हमारे इतिहास का रहस्य यही सामञ्जस्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति और शक्ति है। अनेक संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ, अनेक भूषा और भाषाएँ, हमारे जीवन में आज घुल-मिल गई हैं। सम्मिश्रण और सामञ्जस्य की इस प्रवृत्ति का मूल वैदिक जीवन की व्यापक दृष्टि ही है।

वैदिक जीवन की व्यापकता में सौन्दर्य और धर्म की भावनाएँ अलग, अलग नहीं रह सकती थीं। किन्तु उस समय धर्म ने सौन्दर्य को गम्भीरता और आध्यात्मिकता प्रदान की, और, सौन्दर्य के अनुभव ने धर्म को केवल शुष्क

आडम्बर ही न रहने दिया, उसे सरस और हृदय-ग्राह्य बना दिया। वेद को धार्मिक साहित्य अथवा काव्य-साहित्य कहना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उसमें धर्म की गम्भीरता के साथ काव्य की सरसता का स्वाभाविक सम्मिश्रण है।

धार्मिक दृष्टि ने सौन्दर्य-चेतना को किस प्रकार प्रभावित किया ?

हमने अनुभूति के आनन्द को सौन्दर्य-चेतना कहा है। वह वस्तु सुन्दर होती है जिसके प्रत्यक्ष, कल्पना आदि अनुभव से आनन्द प्राप्त होता है। वैदिक काल की धार्मिक दृष्टि ने 'विराट्-जीवन' का अनुभव किया था। यह अनुभव ही उसमें परम आनन्द का मूल स्रोत था। विराट् में ऋत् और सत्य के कारण व्यापक व्यवस्था विद्यमान रहती है, जिससे प्रकृति की दिव्य शक्तियाँ, वन, पशु और मनुष्य, अपने अपने स्वभाव के अनुसार कार्य में लगे रहते हैं। विराट् का प्रत्यक्ष चर्म-चक्षुओं से तो अनुभव सम्भव नहीं। इसके लिये दिव्य-चक्षु चाहियें। ये दिव्य-चक्षु वस्तुतः हमारी आन्तरिक अनुभूति है। कल्पना और विचार के बल से, हमारे साधारण अनुभव के ऊपर, एक व्यापक, नवीन, अनन्त, अनादि विराट् अथवा ब्रह्म का अनुभव उत्पन्न होता है। इस अनुभव में दुःख, शोक और भय के लिये स्थान नहीं, क्योंकि जब तक व्यक्ति अपने आप को समष्टि-जीवन से अलग रख कर अपने क्षुद्र सुख-दुःखों में डूबा रहता है, तब तक उसका जीवन क्षुद्र, मृत्यु-भय से पीड़ित बना रहता है। अपने ब्रह्म अथवा समष्टि-स्वरूप का अनुभव होने से, उसे आनन्द का सच्चा आस्वाद मिलता है। विराट्-जीवन का यह आन्तरिक अनुभव आनन्द का जनक होने के कारण अन्तः-सौन्दर्य कहा जा सकता है।

अन्तः-सौन्दर्य की अनुभूति से हमारा सम्पूर्ण साधारण अनुभव भी बदल जाता है। यह दो प्रकार से होता है, (१) हम प्रत्यक्ष अनुभव के परे भी प्रत्येक साधारण वस्तु को विराट् के अंश की भाँति देखने लगते हैं। इस दृष्टि से सूर्य केवल आग का तपता हुआ गोला ही नहीं रह जाता, वरन् वह सहस्र-कर-धारी 'मर्त्य और अमर्त्य' को आदेश देने वाला, सकल भुवनों को देखने वाला देव हो जाता है। चन्द्रमा सुधाकर, समुद्र वरुणालय, हिमालय देवतात्मा, इसके उत्तुंग

धवल शिखरों पर देवताओं का निवास, गंगा ब्रह्म-द्रव आदि बन जाते हैं। यह अनुभूति केवल भ्रम ही नहीं है; यह वास्तविक है, क्योंकि वैदिक काल की जिस धार्मिक दृष्टि का हमने उल्लेख किया है, उस दृष्टि से हमारा साधारण अनुभव रूपान्तरित हो जाता है और वह दृष्टि हमारी आन्तरिक, विश्वास-योग्य अनुभूति है। हम वस्तुतः प्रत्येक वस्तु को ईश्वर-भावना अथवा विराट्-चेतना से ढक देते हैं। तब उस वस्तु में, साधारण से भिन्न, एक नवीन, आध्यात्मिक और दिव्य-आनन्द-मय रूप का उदय होता है। हमारे देश के कला-जीवन और सौन्दर्य की अनुभूति में साधारण अनुभव का यह रूपान्तरकरण वैदिक काल से विद्यमान रहा है।

(२) हम साधारण अनुभव से परे वस्तु के दिव्य-रूप की झाँकी पाना चाहते हैं। इससे वस्तु के 'पर' और 'अपर' दो रूप हो जाते हैं। इसीलिये हमारे सौन्दर्य के अनुभव में अपर से पर रूप को देखने की चेष्टा रहती है। कला में इस चेष्टा के कारण हम मूर्ति, रेखा, रंगों और स्वरों द्वारा अमूर्त्त को मूर्त्त, निराकार को साकार, अमेय को मेय, बनाते हैं। हम प्रत्येक अनुभव में उसी अरूप, अनन्त विराट् का दर्शन करते हैं, इसलिये व्यष्टि हमारे लिये हेय है, समष्टि ही सत्य है; सूर्य आदि का प्राकृतिक रूप नगण्य है, इसका दिव्य, आध्यात्मिक रूप ही परम सत्य है। रूप के द्वारा अरूप की खोज, मेय के द्वारा अमेय की झाँकी, सान्त और सादि के द्वारा अनन्त और अनादि का दर्शन, ये भारतीय कला-जीवन और सौन्दर्य-अनुभूति के अविकल अङ्ग बन गये हैं।

संक्षेप में, वेद-काल की धार्मिक दृष्टि जीवन में 'विराट' की अनुभूति को उत्पन्न करती है। यह अनुभूति परम आनन्द देने वाली है, अतएव यह सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य की इस अनुभूति से हमारा साधारण अनुभव रूपान्तरित हो जाता है और प्रत्येक वस्तु में दिव्यता और आध्यात्मिकता का आविर्भाव होता है। इतना ही नहीं, हम वस्तुओं का सौन्दर्य उनके 'पर' रूप में खोजने लगते हैं। हमारी कलाओं में रेखा और रंगों द्वारा वस्तुओं के 'पर' रूप की व्यञ्जना है, वस्तुओं के साधारण अनुभव के पीछे विराट्-जीवन की झाँकी है। भारतीय सौन्दर्य-चेतना में यह आध्यात्मिक दृष्टि वैदिक काल की देन है।

(५)

वैदिक काल से लेकर रामायण-काल तक बहुत समय बीत चुका था, क्योंकि अब सामूहिक-जीवन का केन्द्र प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से हट कर मानव-जीवन की राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक समस्याएँ बन गया था। यदि हम आदिम मनुष्य की अनुभूति को 'प्राकृतिक सौन्दर्य', वैदिक युग की अनुभूति को 'दिव्य-सौन्दर्य' कहें तो हम रामायण-काल की अनुभूति को 'मानव-सौन्दर्य' कह सकते हैं। रामायण का 'मनुष्य' प्रकृति का स्वच्छन्द भोगी तो नहीं है, न उसमें वेद-काल की गम्भीर आध्यात्मिक दृष्टि है, परन्तु वह अपने पूर्व के इतिहास से प्रभावित है। 'राम' उस काल की मानवता की समष्टि हैं। उस मानवता में प्राकृतिक-भोग-भावना का आध्यात्मिक जीवन के साथ सम्मिश्रण है। परन्तु इस समय राजनैतिक परिस्थितियाँ जटिल होगई हैं; सत्य और असत्य, प्रतिज्ञा-हानि, कर्त्तव्य-पालन आदि के नैतिक प्रश्न उपस्थित हो गये हैं। रामायण की समस्या भोग-भावना, आध्यात्मिक दृष्टि-कोण और नैतिक तथा सामाजिक जटिलता में सामञ्जस्य उत्पन्न करने की समस्या है। राम का जीवन इसी सामञ्जस्य को उत्पन्न करने का निरन्तर प्रयत्न है। हमारे देश के आध्यात्मिक जीवन में इसी लिये राम के चरित्र का उच्च स्थान है। रामायण के 'मानव-सौन्दर्य' का रहस्य यही सफल सामञ्जस्य है।

रामायण में संघर्ष दो प्रकार का है। पहला, राम और रावण का, जो वस्तुतः जीवन के सामञ्जस्य और केवल अनियंत्रित भोग-भावना का संघर्ष है। रावण उस भोग-इच्छा का प्रतीक है, जो नीति, धर्म, पाप-पुण्य, आदि के विधान में नहीं रहना चाहती। राम में जीवन के विविध अंगों का सामञ्जस्य है। परन्तु दूसरा संघर्ष राम के स्वयं व्यक्तित्व में है। यह संघर्ष भोग और भाग्य का संघर्ष है, जिसका मूल-रूप रामायण की क्रौञ्च-कथा में व्यक्त किया गया है। क्रौञ्च और क्रौञ्ची का वन में स्वच्छन्द विहार भाग्य को कहाँ भाता है? व्याध ने शर-प्रहार से उनके सुख का अन्त कर दिया। सूक्ष्म-दृष्टि ऋषि वाल्मीकि ने जब यह देखा तो इस घटना में उन्हें सम्पूर्ण मानव-जीवन का रहस्य मिल गया। उनका कोमल

हृदय शोक से छटपटा उठा और उनको कवि-प्रतिभा जीवन के इस करुण रहस्य के उद्घाटन के लिये उद्बुद्ध हो उठी। उनका शोक श्लोक बन कर व्यक्त हुआ। वस्तुतः सौन्दर्य के अनुभव में 'शोक' को इतना महत्त्व देना ही वाल्मीकि का महत्त्व है।

रामायण के 'मानव-सौन्दर्य' का सार यह 'शोक' है। केवल अनियंत्रित भोग और आनन्द से सौन्दर्य-चेतना जाग्रत नहीं होती। 'शोक' की पुट के बिना आनन्द का स्तर नीचा रहता है। शोक आनन्द को उदात्त, तीव्र और स्पष्ट बनाता है। मनुष्य जिसे 'सुन्दर' कहता है, उसके भोग में भाग्य का शर विंधा हुआ है, उसके संयोग में वियोग का निरन्तर भय विद्यमान है। रामायण के 'शोक' को कर्त्तव्य, सत्य आदि की नैतिक भावना ने और भी उदात्त बना दिया है। यह शोक रोना-धोना नहीं हैं। राम अपने जीवन के सम्पूर्ण धैर्य के साथ, अपने नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को न त्याग कर, नियति के विधानों का सामना करते हैं। इस संघर्ष से सामञ्जस्य उत्पन्न होता है। सामञ्जस्य के कारण राम की करुणा साधारण न रहकर अद्भुत सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न करती है। आनन्द की अनुभूति में राम का 'उदात्त शोक' उसका तत्त्व है, और सौन्दर्य में 'करुणा' को उचित स्थान देना रामायण का महत्त्व है।

(६)

महाभारत-काल की सौन्दर्य-भावना में कई धाराएँ बहती हैं। (क) आदिम काल की स्वच्छन्द भोगेच्छा—किन्तु यह जीवन की जटिलता में इतनी उलझ गई है कि इसका स्पष्ट रूप कहीं कहीं ही दृष्टि-गत होता है। (ख) नियति और मर्यादा तथा देवताओं का प्रसाद और कोप भी मनुष्य को स्वच्छन्द गति का विरोध करते हैं। (ग) वैदिक काल की विराट्-दृष्टि ने भोग और मर्यादा के क्रूर संघर्ष को, रामायण की भाँति करुणा से आप्लावित न करके, वीरता और वैराग्य में मिश्रित कर दिया है। इन तीनो धाराओं के संगम से इस काल का बृहत् सौन्दर्य-प्रवाह बना है। इनकी समष्टि और सामञ्जस्य श्रीकृष्ण के व्यक्तित्त्व में विद्यमान हैं।

महाभारत मानसिक जगत् की एक घटना है। यह संघर्ष है जिसमें एक ओर कौरव दल के रूप में प्राकृतिक बल, भोग की अनन्त लालसा और ऐश्वर्य का मद है। दूसरी ओर यह सब है; किन्तु साथ ही, नीति, धर्म और मर्यादा का बन्धन है, जिसके कारण पाण्डव सदा भटकते रहे। इस बन्धन को बिना शिथिल किये हुए, आत्मा को वीर बनाने वाला, जीवन में विराट्-दृष्टिकोण है। महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व कृष्ण ने गीता के उपदेश के रूप में इसी दिव्य-दृष्टि के द्वारा अर्जुन को जीवन का विराट् स्वरूप दिखाया। हमारा जीवन काल के अनन्त, अनादि और अगाध स्रोत में एक छोटा-सा प्रवाह है। इसको स्रोत से अलग करने में वह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। परन्तु अनन्त स्रोत से मिल जाने पर वह स्वयं अनन्त हो जायगा। जीवन की इस अनन्त और सनातन धारा में सहस्रों सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि बहते दिखाई देंगे। अर्जुन जिन वीरों से भयभीत था और जो अपनी वीरता का उसे मद था, वे सब और स्वयं भी काल की दाढ़ों में उलझे हुए दिखाई पड़े। हमारी मानव-दृष्टि जो बहुत दूर आगे या पीछे नहीं जाती, विराट् के इस सनातन और भव्य रूप को देख कर भयभीत हो जाती है। यदि हमें अर्जुन की भाँति दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाये तो हमारे व्यक्तिगत सुख और दुःख, जय और पराजय, पुण्य और पाप, स्नेह और द्रोह, हमारा स्वयं जन्म और मृत्यु, यहाँ तक की सृष्टि और प्रलय, सभी अनन्त प्रवाह की क्षुद्र तरङ्गों की भाँति प्रतीत होने लगें। जीवन में विराट्-दृष्टि से मोह दूर हो जाता है, आँखें उज्वल और तेजयुक्त, गात में वीरता और हृदय में एक अद्भुत प्रसाद का आविर्भाव होता है। व्यास ने हृदय के इस गम्भीर अनुभव को 'शान्ति' कहा है। जिस प्रकार रामायण में संघर्ष के अनन्तर सामञ्जस्य से 'करुण' अथवा 'उदात्त शोक' की प्रतीति होती है, उसी प्रकार महाभारत में जीवन के जटिल संघर्ष से श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में जो सामञ्जस्य उत्पन्न होता है, उससे 'शान्ति' अथवा 'शान्त-रस' की अनुभूति का जन्म होता है।

'शान्त-रस' हमारी सौन्दर्य-चेतना का अंश है। इसी रस की अनुभूति के लिये, मुनि, संन्यासी और सन्त विशाल पर्वत-शिखरों और वनों में रहते थे, जिससे सत्ता की अनन्तता में उनका लघु जीवन घुल-मिल जाये। यद्यपि

श्री कृष्ण ने जिस 'शान्ति' के अनुभव का उपदेश दिया है, वह संन्यासियों की कापाय-ग्रहण से उत्पन्न शान्ति नहीं है, तथापि उसमें संन्यासियों की त्याग-भावना, निर्मोह-दृष्टि और मनः प्रसाद विद्यमान है। जीवन की अनन्तता की उत्कट अनुभूति तो सांसारिक जीवन में संघर्षों से घिरे रह कर ही होती है। विराट्-जीवन में व्यक्ति का जीवन लघु तरङ्ग, विराट्-यज्ञ की एक आहुति अथवा विशाल सत्ता के अनन्त दिशाओं में बिखरी हुई जड़ों, शाखाओं वाले अश्वत्थ वृक्ष का एक छोटा पल्लव है। गीता के अनुसार संघर्ष से सामञ्जस्य और सामञ्जस्य से इस 'शान्ति' कहलाने वाले अनुभव का जन्म होता है। सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ अनेकों कथानक और प्रसंगों द्वारा इसी *'संघर्ष से सामञ्जस्य—सामञ्जस्य से शान्ति'* के आविर्भाव की गाथा है।

(७)

महाभारतकार ने, अपने युग की नवीन परिस्थिति में, वैदिक काल की विराट्-दृष्टि को लाने का प्रयत्न किया था। युद्ध के भयंकर जन-कदन का शोक ज्यों ही उपराम होने लगा, सामूहिक जीवन में, नवीन दार्शनिक दृष्टि से, अवश्य ही निर्मलता का आविर्भाव हुआ। निर्मल और स्वच्छन्द आनन्द की भावना जगी। यज्ञों का प्रचार और विस्तार होने लगा। शक्तिशाली राष्ट्रों की स्थापना हुई, और कला और साहित्य के सृजन के लिये उत्साह और प्रेरणा मिली। प्राचीनतम पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, दर्शनों के प्रस्थान-ग्रन्थ, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त, आयुर्वेद आदि शास्त्र, इसके अतिरिक्त नाट्य-शास्त्र, कुछ नाटक और काव्य, आदि साहित्य का निर्माण हुआ। महाभारत का यह उत्तर-काल अत्यन्त उर्वर काल रहा है। इस समय की सामूहिक चेतना में आदिम काल से लेकर उस समय तक की सारी प्रवृत्तियाँ आकर मिल गई हैं। अतः जीवन व्यापक, सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुख हो गया है। इस समय के शान्त वातावरण में साहित्य, कला और दर्शन न केवल अङ्कुरित हुए, वे पुष्ट और विकसित भी हुए।

हमें इस युग के साहित्य, कला और दर्शन ग्रन्थों के अतिरिक्त मूर्ति, भीत्ति-चित्र आदि के रूप में कुछ नहीं मिलता। इन ग्रन्थों के और फिर ईसा-

पूर्व चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के कला-अवशेषों के आधार पर इस युग की सौन्दर्य-चेतना के विषय में हम अनुमान कर सकते हैं। भरत का नाट्य-शास्त्र, जिसमें नाटक, नाट्य, नृत्य, संगीत, रस, विभाव, अनुभाव आदि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है, अवश्य ही कई शताब्दियों की विचार-धारा का समन्वय और समष्टि है। पुराणों में दिव्य-लोकों की विभूतियों का वर्णन है। नाटकों में भित्ति-चित्र, चित्र-पट आदि का उल्लेख है; अलङ्कार और वस्त्र-भूषा आदि का वर्णन है। दर्शन-साहित्य और निरुक्त तथा व्याकरण-शास्त्र में जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों और विभूतियों पर गम्भीर विचार किया गया है। इससे महाभारत के उत्तर-काल की सामूहिक और सृजन के लिये उत्सुक चेतना तथा उर्वर प्रतिभा का स्पष्ट पता लगता है।

जीवन इस समय इतना विस्तृत और गम्भीर हो गया है कि इसमें कई धाराएँ और कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। एक ओर शास्त्रीय यज्ञों का जीवन है, दूसरी ओर दर्शनों पर गम्भीर विचार किया जा रहा है, जिससे वैराग्य की भावना अङ्कुरित होती है; तीसरी दिशा आनन्द और भोग की है, जिसमें सङ्गीत, नृत्य, मूर्ति-कला, वास्तु-कला आदि का सृजन और इससे सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर मनन हो रहा है। चौथी और महत्त्व-पूर्ण दिशा जनता के साधारण जीवन की है, जिसमें दर्शन की गम्भीरता और शास्त्रों की उलझन तथा राज-दरबारों में पली हुई कला का विलास तो नहीं है, किन्तु धर्म और नीति की मर्यादा है, साथ ही, कला की सरसता और जीवन में अमित आनन्द की उत्कट कामना है। इन चारों दिशाओं में विस्तार और विकास के लिये जीवन को अनन्त अवकाश मिल गया है जिसके फल-स्वरूप ईसा-पूर्व चौथी और तीसरी शताब्दी में सारनाथ के 'सिंह-स्तम्भ' सांची, भारहूत तथा अन्य कई स्थानों में पाये गये यक्ष और यक्षिनियों की मूर्तियाँ आदि उस समय की कला के प्रतिनिधि स्वरूप हमें प्राप्त हुए हैं। ये मौर्य-कालीन सौन्दर्य-भावना के प्रस्तर-खण्डों में अङ्कित अमर प्रतीक हैं।

(८)

प्रत्येक युग चूडान्त पर पहुँचने से पूर्व ही अपनी विरोधी प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कर देता है।

हम यह तो निश्चय-पूर्वक नहीं जानते कि हमारा उपलब्ध दर्शन-साहित्य बौद्ध-धर्म के आविर्भाव से पूर्व या पश्चात् का है। इतना अवश्य है कि इस साहित्य के प्रस्थान अथवा सूत्र-ग्रन्थों से पूर्व कई शताब्दियों तक दार्शनिक विषयों पर विस्तृत-रूप से विचार चलता रहा होगा, और, इस प्रकार की विचार-शैली के विकास के लिये अनुकूल वातावरण मिला होगा। सम्भवतः महाभारत के उत्तर-कालीन भारत में वनों और उपवनों में, तपो-भूमि, तीर्थ-स्थान, सिद्ध-स्थल थे, जहाँ दार्शनिक ज्ञान की चर्चा चलती होगी, जिनमें जीवन, संसार, आत्मा, परमात्मा आदि गूढ़ विषयों पर अनुशीलन चलता होगा। जीवन के रहस्य को समझने के लिये शान्ति की इच्छा से जिज्ञासु, भक्त और साधुओं का समुदाय वहाँ एकत्र रहता होगा। गौतम भी इन्हीं अनेक स्थलों में शान्ति के लिये गये। किन्तु वहाँ उन्हें दर्शन की गूढ़ता और तर्क की नीरसता ही मिली, जिससे जीवन की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर और भी उलझ जाती हैं। गौतम की पहली प्रतिक्रिया इसी शुष्क और निर्णय-शून्य दार्शनिक शैली का विरोध था।

यज्ञों का प्रारम्भिक रूप जो आध्यात्मिक था समाप्त हो चुका था; अब केवल द्रव्य-यज्ञ ही शेष रहा था, जिसका एक मात्र लक्ष्य इस लोक और परलोक में सुख, अनन्त सुख-भोग था। यज्ञ केवल अतृप्त आकांक्षाओं का साधन और निर्दय हिंसा, बलिदान का स्थान बन चुका था। यह भारत के ऐश्वर्य और भोग का काल था, जिस समय गौतम का जन्म हुआ। उन्होंने सुख-भोग की लालसा के प्रति घृणा की, क्योंकि इससे जीवन के मूल प्रश्नों का कोई सुलझाव नहीं होता, और, साथ ही हिंसा-पूर्ण यज्ञ- पद्धति का विरोध किया। इसके स्थान पर गौतम ने 'बुद्ध' हो जाने के अनन्तर संसार के प्रति वैराग्य और करुणा का उपदेश दिया।

बुद्ध का मूल उपदेश केवल इतना ही था कि संसार दुःखमय है; इस दुःख का कारण अवश्य है; इस दुःख का निर्मूलन होना चाहिये और इसका निर्मूलन होना सम्भव है। सब दर्शनों की उलझन के स्थान पर सीधा, समझने योग्य यह उपदेश था। इस दुःख का कारण हमारी वासनाएँ हैं; वैराग्य द्वारा इनका मूलोच्छेद किया जा सकता है। ममता से वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। ममता के त्याग से स्वार्थ दूर होता है, और हृदय में कोमलता, विशालता और

करुणा के उदय से अनन्त शान्ति की अनुभूति होती है। बौद्ध-धर्म में 'सुख' और 'सरसता' के लिये स्थान न था। जीवन वासना-शून्य होना चाहिये। परन्तु यदि जीवन स्वयं ही अमिट वासना है, तो इस शून्यता—अनन्त शून्यता—की अनुभूति ही साधना का लक्ष्य है।

एक ओर चेतना की वह धारा, जिसका उद्‌गम महाभारत के उदात्त आदर्शों से हुआ था, अनेक स्रोतों और प्रवाहों को लेकर बह रही थी। इसमें दर्शन की गम्भीर दृष्टि, वेद की व्यापकता, आदिम काल की स्वच्छन्द आनन्द-भावना, यज्ञों के प्रसार से अनेक दिव्य लोकों और भोगों की कल्पना, नृत्य, संगीत, काव्य के विकास से रस की अनुभूति, आदि सभी विद्यमान थे। जीवन की सहस्र-धारा-जाह्नवी में, दूसरी ओर से, बुद्ध की वैराग्यमयी करुणा, शान्ति और शून्यता का 'संगम' हुआ। 'संगम' इसलिये कि यह शून्यता और शान्ति जीवन के प्रवाह में बहुत काल तक अलग न रह सकी। फलतः इस शून्यता में सरस भावों का आविर्भाव होने लगा। बुद्ध के जीवन के विषय में सरस कल्पनाएँ की गईं। उनके जीवन के चित्रण के लिये रंग और तूलिका, शिला-खण्ड और टाँकी का प्रयोग किया गया। उस विरागी के वैराग्यमय जीवन को व्यक्त करने के लिये पहाड़ों, गिरि-गुहाओं को खोद कर अनन्त धन और अथक परिश्रम द्वारा मन्दिरों और भित्ति-चित्रों का आयोजन किया गया। वस्तुतः बुद्ध ने जीवन के लिये शून्यता-रूप नवीन आदर्श उपस्थित किया, किन्तु उसकी तरल धारा ने उस शून्यता को रस, आनन्द और सौन्दर्य के वैभव से भर दिया।

जीवन की इस बहुमुखी धारा की अभिव्यक्ति 'मथुरा की कला' (ईसा की पहली शताब्दि) में हुई है। अजन्ता की चित्रकारी का प्रारम्भ इसी युग की सौन्दर्य-चेतना को रंग और रूप देने के लिये हुआ। जीवन के बहुमुखी विकास और वैभव से अवश्य ही आनन्द की प्रखर अनुभूति उत्पन्न हुई होगी, उल्लास और उत्साह उमड़ा होगा, क्योंकि इनके बिना पहाड़ों को खोद कर स्तम्भों, प्रकोष्ठों और मन्दिरों का निर्माण करना, रेखाओं और रंगों से ओज, ऐश्वर्य, अनन्त करुणा, वैराग्य, आनन्द आदि का व्यक्त करना, पत्थर की बुद्ध-मूर्तियों में टांकी के बल से आध्यात्मिक चेतना और उदात्त जीवन का जागृत कर देना,

सम्भव नहीं था। आश्चर्य नहीं कि यह चेतना यहीं तक सीमित न रह सकी, और, ब्रह्मा, शाम, कम्बोड़िया, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन आदि देशों में स्तूपों मन्दिरों और मूर्तियों में अभिव्यक्त हुई।

(६)

बौद्ध-धर्म ने जिस नवीन चेतना को जन्म दिया, वह हमारे सामूहिक जीवन की पुरातन और गम्भीर धारा में घुल-मिल गई। इस का तिरोभाव अथवा पतन नहीं हुआ, किन्तु रूपान्तरण अथवा संश्लेषण हुआ। इसके फल-स्वरूप बुद्ध-धर्म की शून्यता में निराकार ब्रह्म की स्थापना की गई; निर्वाण का स्थान मोक्ष ने लिया; वैराग्य और संन्यास का स्थान वैसा ही रहा। इस प्रकार, एक ओर, शंकराचार्य के अद्वैतवाद का बीजारोपण हुआ। दूसरी ओर, इसी शून्यता में सरसता का संचार हुआ, बुद्ध के 'जातक' ग्रन्थों के साथ ही अवतारवाद ने जन्म लिया, दिव्य लोकों और भोगों की कल्पना प्रारम्भ हुई, पुराणों की रचना से मनोरम भावों के प्रतीक विष्णु, राम, कृष्ण आदि की लीलाओं का प्रचार हुआ। देश के वैभव-सम्पन्न और शान्त वातावरण में कला, साहित्य, काव्य, दर्शन और शास्त्रों का सृजन हुआ। यह भारतवर्ष में गुप्तकाल था। यह स्वर्ण-युग था, क्योंकि देश की आनन्द-चेतना और उर्वर प्रतिभा ने अपने चरम-विकास पर पहुँच कर, अजन्ता, सारनाथ, मथुरा, यहाँ तक कि देशान्तरों में, मध्य एशिया से लेकर लंका तक और फ़ारस से लेकर चीन तक, मूर्तियों और चित्रों की सृष्टि की। गुप्त-काल की मूर्तियों और चित्रों में मथुरा-कला की अपेक्षा यह विशेषता थी कि रेखा की स्वच्छन्द गति, ओज और उल्लास का स्थान संयम, रूप की कोमल सरसता और गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति ने ले लिया था। शक्ति से अधिक भावना के परिपाक का सम्मान था। इस काल की बुद्ध-मूर्तियों और गुहा-चित्रों में शान्ति, ध्यान-मुद्रा, करुणा, आत्म-विजय का आनन्द, वैराग्य आदि आध्यात्मिक वैभव का परिपक्व रूप में अंकन हुआ है। इसके सुन्दर उदाहरण अजन्ता के चित्रों में 'अवलोकितेश्वर पद्मपाणि' का चित्र और सारनाथ की बुद्ध मूर्तियाँ हैं।

अपने चूड़ान्त विकास को पहुँच कर गुप्त-युग की पल्लवित और पुष्पित आनन्द-चेतना शाखाओं में विभक्त होने लगी। कई धाराओं के मिश्रण से यह पुष्ट हुई थी; इसी पुष्टि के फल-स्वरूप इसका भिन्न-भिन्न पहलुओं में विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। धार्मिक-भावना और आनन्द-भावना में अन्तर उत्पन्न हुआ, जिससे, एक ओर, मन्दिरों और मूर्तियों, अवतार और जातक के कथानकों का अंकन हुआ, और, दूसरी ओर, केवल सौन्दर्य के आस्वादन के लिये, सुन्दरी और उनकी लीला और विलासों का ललित कला के रूप में सृजन हुआ। यद्यपि धार्मिक कला और ललित कला का यह भेद मौर्य-काल में ही प्रारम्भ हो चुका था, तथापि ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में यह स्पष्ट हो गया। इन दोनों धाराओं का विकास भिन्न-भिन्न मार्गों में ही हुआ। धार्मिक कला में मन्दिरों, मूर्तियों का निर्माण और चित्रण प्रधान था। भाँति-भाँति के देवताओं, अवतारों, दिव्य पुरुषों के मान और माप, उनकी मुद्रा और ध्यान-मंत्र, देवताओं के वाहन, उनकी पत्नियों और विभूतियों, इत्यादि का आविष्कार किया गया। इन विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। मध्यकाल के उदय होते-होते वराह भगवान्, सूर्य, नन्दीश्वर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की अनगिनत मूर्तियों से सारा देश परिपूर्ण हो गया। वैष्णव, शैव और शाक्त शाखाएँ भी कला के क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं, जिसके फलस्वरूप उत्तर में विष्णु, और वैष्णव-धर्म की मूर्तियाँ और मन्दिर बनें, दक्षिण में शिव-मूर्तियों और शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ, पूर्व के प्रान्तों में शाक्त मन्दिरों और मूर्तियों का सृजन हुआ। मान-ग्रन्थ लिखे गये। एलोरा, एलीफेन्टा के मन्दिर, नटराज की धातु-मूर्तियाँ, जगन्नाथ, द्वारिका, सोमनाथ आदि का आविर्भाव इसी धार्मिक-कला के विकास के सम्बन्ध में हुए।

ललित-कला भी धार्मिक कला से पीछे न रही। नायक और नायिकाओं के अनगिन भेद हुए, उनके लीला-विलासों, पक्षी और पशुओं के साथ क्रीड़ा, स्नान, विहार, प्रेम-पत्र आदि लिखना, और, इसी प्रकार जीवन के सभी आनन्द-पूर्ण अवसरों का चित्रण और अंकन हुआ। भुवनेश्वर, खजुराहो आदि की कला ललित-कला के विकास के नमूने हैं। कला का शास्त्रीय रूप भी स्पष्ट होने लगा तथा अनेक शिल्प और मुद्रा ग्रन्थों की रचना हुई।

कला और सौन्दर्य के शास्त्रीय रूप की समालोचना का प्रारम्भ भरत मुनि से पूर्व हो चुका था, क्योंकि इनके नाट्य-शास्त्र में यह पर्याप्त विकास को पहुँची हुई प्रतीत होती है। भरत के अनन्तर (ईसा-पूर्व पहली शताब्दी) रस के स्वरूप के ऊपर विचार में प्रगति हुई; संगीत, चित्र और मूर्तियों में रस की अभिव्यञ्जना के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। भरत ने सौन्दर्य-चेतना के अध्ययन के लिये जिस मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण का प्रचार किया, उससे 'रस' की अनुभूति का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। सम्भवतः विज्ञान की विश्लेषणात्मक पद्धति का यह प्रयोग इस विषय के अध्ययन के लिये प्रथम ही था। प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, उसके स्थायी भाव, शरीरादि के अंग-प्रत्यंग से प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के प्रकार, सात्विक भाव, आदि मन के सभी स्तरों और सभी दिशाओं का अवगाहन किया गया। इस विचार-प्रणाली के निष्कर्षों का उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इतना पर्याप्त है कि इस समय भरत का 'रस-सूत्र' पंडित-मण्डल में व्याप्त हो गया था, जिसके प्रयत्नों से सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर गम्भीर विचार उपस्थित हुआ।

आठवीं शताब्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार 'ध्वनि' है। वस्तुतः सौन्दर्य-आस्वादन में रस का स्थान तो है ही, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति इस कौशल के साथ होनी चाहिये कि हमारे मन और बुद्धि में आनन्दमयी क्रिया उत्पन्न हो। वह पिहित (ढका हुआ) भी हो किन्तु, घंटा बजाने के पश्चात् जिस प्रकार वह देर तक अनुरणन और स्पन्दन करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी रस की अनुभूति से देर तक अनुरणन करता रहे। रसानुभूति में आनन्द को उत्पन्न करने वाला तत्त्व 'चमत्कार' कहलाया, और, रसाभिव्यक्ति का यह प्रकार 'ध्वनि' माना गया।

ध्वनि के आविष्कार के अनन्तर विचार दो शाखाओं में विभक्त हो गया। एक ओर रस-प्रधान और दूसरी ओर ध्वनि-प्रधान शास्त्रों का निर्माण हुआ। इसका प्रभाव कला पर पड़ा। रस-प्रधान कला में भाँति-भाँति से रसों का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न किया गया। इनमें शृङ्गार रस को प्रधानता मिली, और, शृङ्गार के प्रतीक 'राधा-कृष्ण' का कला में जन्म हुआ। 'शृङ्गार-तत्त्व' की

गवेषणा की गई और काम-तत्त्व के साथ इसकी एकात्मता स्वीकार हुई। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कला को जन्म देने वाली प्रतिभा और प्रेरणा निर्बल हुई, तब इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ ऐसे साहित्य, चित्र और मूर्तियों का निर्माण हुआ जिनमें शृङ्गार के स्थान पर कुरुचि और वासना की गन्ध आती है। उधर, ध्वनि-प्रधान विचार-धारा में रसानुभूति के प्रकार को समझने के लिये 'वक्रोक्ति' 'काव्यानुमिति' आदि का आविष्कार हुआ। कला में इसका प्रभाव मूर्तियों, चित्रों और मन्दिरों के निर्माण में गम्भीरता लाने के लिये हुआ। प्रत्येक रूप, रंग और रेखा के स्पष्ट, साक्षात् अर्थ को छोड़कर उनके ध्वन्यात्मक अथवा ध्वनित अर्थों का पता लगाया गया। फलतः काव्य और कला में गम्भीरता के स्थान पर गूढ़ता और अस्पष्टता आ गई। तंत्र-शास्त्रों का भी इसी समय प्रचार हुआ। चित्रों की भंगिमा और मुद्राओं का तांत्रिक अर्थ लगाया गया। इस प्रकार, बारहवीं शताब्दि के साहित्य और कला-रचनाओं में प्रसाद गुण नहीं है। वे क्लिष्ट और दुरूह कल्पनाओं से ढक-सी गई हैं।

(१०)

मध्यकालीन जीवन को समझने के लिये हमें एक नवीन प्रभाव का अध्ययन करना है, जो पहले यूनान और फिर इस्लाम के सम्पर्क से भारतवर्ष को मिला। वैसे तो हमारे जीवन की जाह्नवा में अनेक दिशाओं से प्रभाव आकर मिले, परन्तु उनका ऐसा सजीव संश्लेषण हुआ कि वे सब मिल कर एक व्यापक चेतना के रूप में ढल गये। यह यूनानी प्रभाव भारतवर्ष में सिकन्दर के साथ आया, और एक विशेष क्षेत्र में इसने कला को जन्म दिया जिसे हम 'गान्धार-कला' कहते हैं। ईसा-पूर्व की पहली शताब्दि से लेकर दूसरी और तीसरी शताब्दी तक यह प्रभाव भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर कोने में शक्तिशाली रहा; किन्तु इसके अनन्तर बौद्ध और हिन्दू धर्म के अभ्युत्थान से देश की मूल-चेतना जाग्रत हुई, जिसमें यह प्रभाव समाविष्ट न हो सका। इसलिये हम इसे 'विदेशी' प्रभाव कहेंगे। कुछ समय बाद, इसी यूनानी प्रभाव का मुसलमानी संस्करण हुआ, और गौरी और गज़नवी के आक्रमणों के साथ, यह देश में आया। इस समय

परिस्थिति भिन्न थी ; देश की मूल-चेतना निर्बल और सृजन की शक्ति शिथिल हो चुकी थी, कारण सम्भवतः राजनैतिक रहे हों, किन्तु इस अवस्था में नवीन प्रभाव यहाँ आया और जम गया। इस उपजाऊ भूमि में पड़कर यह पुष्पित और पल्लवित हुआ। देश की सामूहिक चेतना में इसकी धारा मिल गई, किन्तु कुछ कारणों से, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे, यह हमारे जीवन की मूल-भावना के साथ एकात्मता न पा सकी। इसीलिये हमने इस प्रभाव को विदेशी कहा है।

प्राचीन यूनानी सभ्यता और संस्कृति दार्शनिकों, गणितज्ञों और साहित्यिकों की सभ्यता और संस्कृति हैं। इसमें प्लेटो का आदर्शवाद, पाइथोगोरस का गणित और होमर की साहित्य-कला की त्रिवेणी है। प्लेटो ने एक आदर्श-लोक की कल्पना की थी जो हमारे दैनिक जीवन से अस्पृष्ट तो है, परन्तु जिसमें हमारे अनुभूत लोक की वस्तुओं की आदर्श, अमर और स्थिर मूर्तियाँ विद्यमान हैं। उसमें आदर्श नर-नारियों, पशु-पक्षी आदि सभी की अचल आकृतियाँ हैं। वस्तुतः हमारे अनुभव का जगत् उसी आदर्श-लोक का प्रतिबिम्ब है। जीवन में तरलता और विकास के साथ ही ग्लानि और ह्रास भी रहता है। इसलिये आदर्शों के लोक में जीवन का विकार उत्पन्न करने वाला प्रभाव नहीं है। वहाँ स्थिरता और चिरन्तनता है। परन्तु वह चिरन्तन रूप पूर्ण है। हमारे अनुभव के नर-नारियों की आकृति में दोष होते हैं। वहाँ निर्दोष, अचल और पूर्ण आकृतियाँ हैं। इन आकृतियों का विचार और मनन ही दार्शनिक आनन्द का मूल है।

गणित और विज्ञान के अध्ययन ने यूनान देश के जीवन में नियम और अनुशासन की प्रियता को उत्पन्न किया। गणित में कोमल, करुण आदि भावनाओं के लिये स्थान नहीं। वहाँ नियम का बन्धन और अनुशासन की कठोरता रहती है। गणितज्ञ का आनन्द, यदि हम इसे आनन्द कहें, आधार-भूत कल्पनाओं से चल कर, प्रत्येक पद पर नियमानुसार, शुद्ध निष्कर्ष तक पहुँच जाना है। नियम में जड़ता, स्थिरता और आदर्श का अनुभव होता है। यूनान में ज्यामिति के अध्ययन से वृत्त, रेखा और इनसे बनी हुई अनेक ज्यामितिक

आकृतियों का आविष्कार हुआ। गणितज्ञ ने इन आकृतियों में, स्त्री-पुरुषों की जीवित आकृतियों में नहीं, एक अपूर्व सौन्दर्य का अनुभव किया।

यूनान का प्राचीन साहित्य 'देवताओं' का साहित्य है। ये देवता कोई आध्यात्मिक शक्तियाँ अथवा दिव्य व्यक्ति नहीं है। ये तो केवल मनुष्यता के पूर्ण और निर्दोष उदारहण हैं। उनमें मनुष्य के सभी भाव विद्यमान हैं, किन्तु उनमें आदर्श सौन्दर्य, ओज और वीरता है। इसीलिये मनुष्य उनसे भय मानता है और वर पाना चाहता है। यूनान देश ने अपोलों, डियाना, इत्यादि अनेक देवी-देवताओं की कल्पना में अपने जीवन की आनन्द और सौन्दर्य, आदर्श तथा अनुशासन, की भावना को भर दिया है।

सिकन्दर के आक्रमण का सांस्कृतिक महत्त्व यूनानी विचार-धारा का न केवल भारतवर्ष पर किन्तु सारे मध्य-पूर्व के देशों पर गम्भीर प्रभाव छा जाना है। यूनानी प्रभाव ने जिस सौन्दर्य के आदर्श को उपस्थित किया, उसके अनुसार गान्धार को केन्द्र बना कर कला-सृजन प्रारम्भ हुआ। यह बुद्ध-युग का प्रभात था। बुद्ध-मूर्तियों का निर्माण हुआ, किन्तु इनमें जीवन की तरलता का अंकन न था, न इनमें बुद्ध की कोमल करुणा, न आत्म-विजय का उल्लास है। ये मूर्तियाँ यूनानी अनुशासन की कठोरता, नियम-पालन की धीरता और 'चिरन्तन' और 'अचल' आदर्शों के ध्यान की गम्भीरता में डूबी हुई प्रतीत होती हैं, मानों ये प्लेटो के आदर्श-लोक से बातें कर रही हैं, अथवा, ज्यामिति की आकृति के ध्यान में निमग्न हैं। कनिष्क के काल में गान्धार-कला का रूप और भी उज्वल हुआ और यूनानी सौन्दर्य-चेतना के आलोक से पत्थर की बुद्ध-मूर्तियाँ चमक उठीं।

यद्यपि भारतवर्ष में भारतीय मूल-चेतना के उदय से यूनानी प्रभाव समाप्त हो गया, फ़ारस आदि मध्य-पूर्व देशों में यूनानी साम्राज्य के साथ-साथ यह प्रभाव भी जीवित रहा। इस्लाम के आविर्भाव ने उसमें 'एकता' और 'समानता' की भावना को और जोड़ दिया। इन भावों का धार्मिक महत्त्व जो भी हो, सौन्दर्य की दृष्टि से 'अनेकों की एकता और उनमें समभाव' तो सौन्दर्य का प्राण है। धार्मिक मतान्धता तथा अन्य कारणों से अरबी धर्म के साथ कला का

विकास तो नहीं हो सका, किन्तु इस्लाम की इन मूल धारणाओं का समस्त प्रभाव जब फ़ारस की सरस भूमि पर पड़ा, और, यूनानी प्रभाव से इसका सम्मिश्रण हुआ तो एक नवीन सौन्दर्य के आदर्श का जन्म हुआ। यह सौन्दर्य रेखा, वृत्त, ज्यामितिक आकृतियों का सौन्दर्य था। इनको मिलाकर 'एकता' और 'समानता' की भावना उत्पन्न करने से एक 'सुन्दर' आकृति का उदय होता है। भाँति-भाँति के वंकों और रेखाओं के संयोजन से जिसमें विविधता के साथ समानता, 'अनेक' के साथ 'एक' का सामञ्जस्य विद्यमान हो, 'फ़ारस की कला' का जन्म हुआ। यदि हम इसमें अरब देशों ने जिस विशालता और स्थिर जीवन का अनुभव किया था जिसके फल-स्वरूप मिश्र के पिरामिडों का निर्माण हुआ,और जोड़ दें, तो यह पूर्णरूपेण 'मुसलमानी कला' का आदर्श हमें मिल जायगा। पत्थरों के विशाल स्मारक और मस्जिदें, गोल गुंबदें और ऊँची मीनारें, जिनमें पत्थर की कटी जालियाँ, पच्चीकारी, मखमली कोमल फ़र्श, बाग और फ़व्वारे, किन्तु ये सब मिलकर 'एकता' के सूत्र में ग्रथित—यह मुसलमानी कला की रूप-रेखा है, जिसका प्रभाव, मुसलमानी शक्ति के साथ, इस देश में आया और यहाँ आकर और भी समृद्ध और विकसित हो गया।

(११)

भारत में मध्ययुग का प्रथम प्रहर आरम्भ हुआ। यह आतंक, निराशा, पराजय और संघर्ष का समय था। इससे पूर्व ही गुप्त-काल से आरम्भ होने वाली बहुमुखी जीवन की प्रेरणा शिथिल और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कुंठित हो चली थी। राजपूत राजाओं की विलास-प्रियता में पड़ कर सौन्दर्य-चेतना और उससे उत्पन्न होने वाली कला भी विलासिनी हो गई थी। ऐसे समय में जब धार्मिक-राजनैतिक जीवन पर मुसलमानी आक्रमण हुआ, तो राष्ट्र का ऐतिहासिक प्रवाह गम्भीर होकर अन्तस्तलों पर बहने लगा। सारा वायु-मण्डल रण-नाद से गुंज उठा, तूलिका के स्थान पर तलवार सँभाली गई, नृत्य समाप्त हुआ। मुसलमानी शक्ति के विस्तार के साथ, विजय का उन्माद बढ़ा, कट्टरता से भय छा गया। हिन्दुओं के आत्म-सम्मान पर यह भारी आघात था।

इस आघात से एक नवीन चेतना का उदय हुआ। इस चेतना में दीनता, समर्पण और दिव्य प्रेम के भाव थे। धार्मिकता और गम्भीर हो गई; पुराने आदर्शों और आदर्श-पूर्वजों का स्मरण हुआ। "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत—अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" इन वाक्यों से धैर्य हुआ; संतोष एक व्यापक भावना बन गई। इस भावना की अभिव्यक्ति सन्तों के पदों में हुई। वस्तुतः मध्य-युग का प्रथम भाग सन्तों और सम्प्रदायों के अभ्युत्थान का काल है।

विजेता और विजित के संघर्ष से सौन्दर्य के स्थान पर शौर्य, कोमलता के स्थान पर दृढ़ता का आदर हुआ। मध्ययुग के प्रारम्भ में जहाँ एक ओर सन्तों की वाणी ने पुराने आदर्शों के पुनर्जागरण से जन-जीवन को सुरक्षित रखा, वहाँ दूसरी ओर दृढ़ दुर्गों के निर्माण हुए। सारा राजस्थान और मध्यभारत इन्हीं दुर्गों से परिपूर्ण है। ये दुर्ग जो पहाड़ों को काट कर भयंकर घाटियों, वन-प्रदेशों, झीलों आदि के मध्य में बनाये गये हैं, उस समय की वीरभावना के चिह्न हैं। इनमें विशालकाय फाटक जिनमें चमचमाती लोहे की कीले गड़ी हैं, भयंकर तोपें और हथियार, लोहे के कवच और शिरस्त्राण आदि हैं जो उस समय की विकट भावना की सूचना देते हैं। इस काल में न मन्दिर बन सके, न मूर्तियों का निर्माण हुआ और न चित्रों का अंकन हो सका।

विजेता को भी इस प्रथम आघात के समय चैन न था। कोई विशेष महत्त्व का निर्माण इस समय नहीं हुआ। परन्तु समय बीतने पर सम्पर्क से एक दूसरे के प्रति स्नेह और आदर उत्पन्न हुआ। हिन्दू-संस्कृति की सामञ्जस्य उत्पन्न करने की शक्ति फिर से जगी। भाषा, भूषा और भाव के क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्वक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ। यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ अपने-अपने अस्तित्व को बिल्कुल भुला कर एक न हो सकीं, तथापि साथ रहने की आवश्यकता ने दोनों में रूपान्तर अवश्य कर दिया। इस समय हम अपने सामूहिक जीवन में तीन स्पष्ट धाराओं को देख पाते हैं जिनका नीचे उल्लेख है।

(क) इसे हम जीवन की 'राजसी धारा' कहेंगे। दिल्ली के सम्राट्—विशेषतः मुग़ल सम्राट्—और उनको आदर्श मानने वाले राजा और नवाब,

वैभव और विलासिता, शक्ति और ऐश्वर्य, आतंक (रुवाब) और अनुभाव (शान) के मानो जीवित प्रतीक थे। इस युग के समस्त भौतिक साधन जीवन की इसी राजसी धारा को सँभालने और पुष्ट बनाने में लगे हुए थे। जिसे हम जीवन का ऊपरी स्तर कहते हैं, उसमें आध्यात्मिक गम्भीरता, कवि की वेदना, दार्शनिक की दृष्टि, अथवा धर्म की सहृदयता और सरसता का कहीं नाम न था। दरबारी जीवन में यदि कहीं-कहीं कवित्व, दर्शन और कला की झलक मिलती थी, तो इसका भी एक मात्र उद्देश्य मनोविनोद अथवा 'दरबार-ए-अकबरी' या 'दरबार-ए- जहाँगीर' की शान को बढ़ाने के लिये ही था। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता अथवा धार्मिक एकता की भावना सर्वथा सराहनीय है, किन्तु इसके पीछे प्रेरक शक्ति केवल राजनैतिक प्रभुत्व की इच्छा थी। औरंगज़ेब ने धर्म के नाम से सामाजिक कटुता का ही बीजारोपण किया। कुछ भी हो, जीवन की मुख्य प्रेरणा 'राजसी' थी, दूसरी मान्यताएँ केवल इसी के संवर्द्धन का साधन थीं।

इस युग के भवनों, चित्रों और दुर्गों में जाने से इनका 'राजसी प्रभाव' हमें आतंकित-सा करता प्रतीत होता है। अजन्ता के चित्रों अथवा एलोरा आदि के विशाल मन्दिरों में हमें दिव्य आनन्द और निर्भय जीवन का अनुभव होता है, किन्तु इस काल की सैकड़ों की संख्या में बनी मस्जिदों में वैभव, शक्ति, राजसी आतंक और विलासिता की भावना उठती है। सिकन्दरा, फतहपुर, आगरा, दिल्ली और लखनऊ में, जहाँ भी इस भावना की अभि-व्यक्ति के चिह्न अवशिष्ट हैं, स्मारक, समाधि अथवा महल, अपनी मूल्यवान् पत्थरों की निर्मित काया से, वर्षों के अथक परिश्रम और अनन्त धन से खोदी गई पच्चीकारी और मीनाकारी से दर्शक के ऊपर अपने 'रूवाब और शान' का सिक्का बैठाते हैं। यहाँ यह स्मरण रहे कि हमारी सौन्दर्य की अनुभूति में 'रुवाब और शान' का निश्चित स्थान है। इससे हमें 'आनन्द' मिलता है। 'क्यों'? इसका हम उत्तर आगे देंगे। यहाँ इतना पर्याप्त है कि भावना की दृष्टि से इस युग की कृतियों की सुन्दरता का रहस्य इनमें 'रुवाब और शान' की भावना को उत्पन्न करने की शक्ति है।

ताज-महल इसी राजसी धारा में मुग़ल-शक्ति की प्रखर आलोक-रश्मिओं से खिला हुआ पूर्ण पद्म है।

ताज-महल में भारत का वैभव, फ़ारसी कला की कोमलता, इस्लाम की 'एकता' और 'समानता' की भावना तथा शक्तिशाली मुग़ल सम्राट् के उत्कट दाम्पत्य-प्रेम का विलास है। यह सम्भव ही नहीं, सत्य है कि बहुत से मनुष्य शाहजहाँ की भाँति ही अपनी पत्नी से प्रेम करते हैं, किन्तु तो भी संसार में ताज-महल केवल एक ही बन सका है। इसका उत्तर केवल इतिहास ही दे सकता है। वह उत्तर यह है : इसके निर्माण के लिये भारत की खानें और मणियाँ चाहियें, अनन्त धन और श्रम चाहिये; यमुना का नील किनारा और सदा-बहार वनस्पति चाहिये; और चाहियें यूनान की गणित और अनुशासन प्रधान कला, इस्लाम-धर्म का उदय, फ़ारस में यूनानी कला का कोमल परिकल्पनाओं से पूर्ण विकास, मिश्र और भारत के पिरामिड़, स्तूप और मन्दिरों में शिखरों, गोलाइयों और गुम्बदों के विकास का इतिहास। ये सब मिल कर शाहजहाँ के प्रेम और मुमताज महल के सौन्दर्य के प्रतीक ताज महल की सृष्टि करने में समर्थ हो सकते हैं। वस्तुतः ताजमहल इतिहास की अनेक धाराओं का संगम और विभिन्न प्रेरणाओं की समष्टि है।

हम इसके सौन्दर्य की समालोचना आगे करेंगे। यह 'राजसी-भावना' जिससे ताज-महल का जन्म हुआ, हमारे देश में अंग्रेजी युग के प्रारम्भ तक, क्षीण ही दशा में सही, जीवित रही।

(ख) राजसी स्तर के नीचे जीवन की एक और धारा बहती थी, जिसके प्रतिनिधि यहाँ के राजा और रईस थे। मनोरञ्जन और ठाट-बाट से जीवन बिताना इसका उद्देश्य था। काव्य और कला अपनी पूरी शक्ति से इस उद्देश्य की सिद्धि में लग गये। बिहारी और देव इसी युग-चेतना के प्रतितिधि हैं। चित्र-कला में अजन्ता की आध्यात्मिक भावना नहीं है; उनमें केवल चित्रण प्रधान है जिनमें राधा और कृष्ण के विलासों, राज-प्रासाद की क्रीड़ाओं, ऋतुओं तथा उद्यान-विहारों का अंकन हुआ है। मुग़ल-दरबार में भी चित्र-कला

का विकास हुआ था। अधिकतर इसमें दरबार की शान-शौकत, सेनाओं की सजावट आदि के चित्र हैं। अकबर ने महाभारत और रामायण के प्रसंगों का भी चित्रण कराया था। इस काल के सुन्दरतम चित्र 'रागमाला' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें 'ध्वनि' को 'रूप' देने का प्रशंसनीय प्रयत्न हुआ है। इसी समय में हिमाचल के प्रान्तों में भी कला का विकास इसी उद्देश्य के लिये हुआ है। राजस्थानी और पहाड़ी कला में धनिकों के मनोरञ्जन की प्रचुर सामग्री है। इनमें सरसता, कोमलता और कान्त-कमनीयता की गहरी पुट है।

संगीत में सरसता और कोमलता की प्रधानता के कारण इसका चरम विकास इसी काल में दरबारों की संरक्षता में हुआ। वैसे तो भारतवर्ष संगीत-प्रधान देश रहा है जिसमें संगीत के तत्वों का अध्ययन वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु संगीत अमूर्त्त ध्वनियों में प्रकट होने के कारण केवल परम्परा से जीवित रह सकता है। किसी भी समय परम्परा के विच्छिन्न हो जाने पर संगीत-कला को भारी क्षति पहुँचती है। अतएव आज हम वैदिक काल की संगीत-पद्धति का ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं कर सकते। इतना हम जानते हैं कि वह संगीत की पद्धति साम-गायन रही होगी। अनुमानतः साम-संगीत में धार्मिक अनुभूति का गहरा प्रभाव होगा जिसमें दिव्य-भावना और तन्मयता की प्रधानता रही होगी। स्वरों के विन्यास की जटिलता, अलंकारों की भरमार, अनेक वाद्यों से गति, ताल आदि को गणित-प्रधान नाप-तोल आदि का अभाव रहा होगा। साथ ही, शुद्ध संगीत का आस्वादन, जिसमें ध्वनियों के सामञ्जस्य और मधुरता की प्रधानता और मार्मिक वेदना रहती है, सम्भव रहा होगा। वैदिक साहित्य की सरलता, तल्लीनता भी उस काल के संगीत में अवश्य होंगी।

साम-गायन के अनन्तर जाति-गायन का प्रारम्भ हुआ। सप्त-स्वरों और अनेक श्रुतियों का परिमार्जित रूप स्पष्ट हुआ। भरत के समय तक संगीत नृत्य, गायन और वाद्य के समुदाय का नाम हुआ। अनेक जातियों, मूर्च्छनाओं और वाद्यों के आविष्कार से संगीत इस समय अवश्य ही वैभव-सम्पन्न होगया। भरत के प्रभाव से यह गायन-पद्धति रस-प्रधान रही। प्रत्येक रस के देवता का

आविष्कार हुआ और प्रत्येक जाति के शृङ्गार आदि रसों की उद्भावना के लिये प्रयोग हुआ। कई सदियों के संगीत का हमें पता नहीं लगता, क्योंकि इस विषय में इस समय के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। मुसलमान-युग के प्रारम्भ होते होते फ़ारसी और अरबी गायन-पद्धति के सम्मिश्रण से एक नवीन भारतीय संगीत पद्धति का प्रारम्भ हुआ जिसका पुनरुद्धार हमारे समय में हुआ है। ध्रुपद, ख्याल का आविष्कार इसी समय में हुआ था। यह संगीत के शुद्ध रूप का विकास था जिसमें स्वरों का वैभव तानसेन आदि गायकों के द्वारा प्रकट हुआ। दक्षिण में यद्यपि विकास का क्रम यही रहा, तथापि भारत की भरत-परम्परा का पोषण इसका मुख्य उद्देश्य था। मुग़ल-कालीन भारत में राजनैतिक समृद्धि के साथ साथ संगीत के साम्राज्य का विस्तार और विकास हुआ।

जीवन की यह रञ्जना और विलास-प्रधान भावना अब तक भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। हमारा अब भी विश्वास है कि शारीरिक श्रम और मानसिक खेद की शान्ति ही संगीत, काव्य और कला का उद्देश्य है। यह दूसरी ही बात है कि हमें इस रञ्जना-प्रधान कला में वास्तविक 'सौन्दर्य' न दिखाई पड़े।

(ग) जीवन की तीसरी धारा वह है जिसका सम्बन्ध न सम्राटों के आतंक और अनुभाव से था, न राजाओं के मनोरञ्जन से। इसका सम्बन्ध जन-जीवन से था, लोकाराधना ही इसका एकमात्र उद्देश्य था। यद्यपि इसमें प्राञ्जल और दरबारी भाषा का अभाव था, तथापि इसमें भारत की मूल-भावना का गम्भीर प्रवाह था। इसमें वैदिक जीवन की दिव्यता और गम्भीरता थी, रामायण-काल की आदर्शवादिता और मार्मिकता, महाभारत की दार्शनिक दृष्टि, बुद्ध की वेदना, जैन-धर्म की निस्पृहता, राधा-कृष्ण के प्रेम की विह्वलता थी। यह युग-चेतना सूर, तुलसी और मीरां के पदों में आज भी पुलकित हो रही है। कबीर की साखी इसकी साक्षी देते हैं, रसखान की रसमयता इसी की उपज है। इसके पास राजसी साधन न थे; इसीलिये चित्र और वास्तुकला द्वारा इसकी अभिव्यक्ति न हो सकी। काव्य ही इसका एकमात्र साधन रहा। आज भी हमारे देश की मूल-धारा वही है, यद्यपि इसमें कई प्रभाव सम्मिलित हो गये

हैं। जब तक ये प्रभाव मूल-भावना में घुल-मिलकर एक नहीं हो जायेंगे, तब तक ये 'विदेशी' ही रहेंगे और भारत अपनी 'आत्मा' को न पा सकेगा।

(१२)

उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत राजनैतिक दृष्टि से शान्त रहा। भारत की प्राचीन कला, धर्म और साहित्य परम्पराओं का वहाँ न केवल रक्षण ही हुआ, साथ ही विकास हुआ। उत्तरी भारत में जब राजनैतिक उथल-पुथल के कारण पुरानी प्रथाएँ छिन्न-भिन्न होकर नवीन बाह्य प्रभावों से मिश्रित हो रही थीं और मुग़ल कला के आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रही थीं, उस समय महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में आचार्यों और वैष्णव धर्म के उद्भव से सारा देश प्रेम के नवीन संचार से उत्साहित हुआ और नवीन दर्शन के प्रकाश से जगमगा उठा। इस समय वहाँ तीन प्रभाव उत्पन्न हुए जिन्होंने दक्षिण ही क्या सारे देश को जीवित रहने की आशा प्रदान की।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त ने जहाँ बुद्ध-धर्म के मूल-सिद्धान्तों का रूपान्तरण करके निराकार ब्रह्म की स्थापना की थी, वहाँ उसमें प्रेम की सरसता और जीवन की मौलिक भावनाओं का बहिष्कार भी हुआ था। यद्यपि शंकराचार्य का दर्शन दृढ़ और अकाट्य तर्कों पर आश्रित था, जिसके कारण उसका परित्याग तो अब तक भी सम्भव नहीं हो सका है, तथापि उसमें बुद्धि की प्रधानता के कारण हृदय को सान्त्वना नहीं मिली। इसकी विरोधी प्रतिक्रियाएँ दक्षिण में ही प्रारम्भ हुईं और अनेक ऐसे वैष्णव सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ जिनमें वेदान्त की पुट के साथ भाव-प्रधान भक्ति का प्राचुर्य था। ऐसे वेदान्ती सन्तों ने 'ज्ञान कि होइहै भक्ति बिन' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वेदान्त की नीरसता में प्रेम की सरसता का संचार किया। महाराष्ट्र और दक्षिण के संतों और आचार्यों का महत्त्व इसी कारण हमारे आध्यात्मिक इतिहास में इतना अधिक है।

सुरक्षित रहने के कारण दक्षिण भारत की शैव-परम्परा इस समय और भी दृढ़ हुई और मध्यकालीन भारत में भव्य शिव-मूर्तियों और शिव-मंदिरों

का निर्माण हुआ। शिव की उपासना में हमें आदिम चेतना का फिर से दर्शन प्राप्त हुआ। शैव-दर्शन के विकास से नवीन प्रतीकों की रचना हुई जिसके फल-स्वरूप मन्दिर के शिखर-भाग और इसके नीचे मध्यभाग में कई नवीन आकारों का आविष्कार हुआ। दक्षिण के मध्यकालीन शैव-मन्दिर उस युग को भव्य-भावना के परिचायक हैं, यद्यपि कहीं-कहीं सरलता के स्थान पर जटिलता के आविर्भाव से आदिम चेतना को हानि पहुँची है।

वैष्णव, वैदिक, दार्शनिक और शैव प्रभावों के अतिरिक्त, दक्षिण भारत में भरत-परम्परा का रक्षण और विकास हुआ, जिसके फल-स्वरूप कर्नाटक संगीत-शैली का उदय हुआ, 'भरत-नाट्यम्' के अभिव्यक्ति-प्रधान नृत्य-शैली को हमारे समय तक जीवित रहने के लिये परम्परा की नींव डाली गई। इस नृत्य का विकास मन्दिरों में हुआ, किन्तु मन्दिरों के बाहर भी हुआ। वैसे तो, उत्तरी भारत में जब मन्दिर और मूर्तियों को खण्डित किया जा रहा था, तब दक्षिण भारत में सारे समाज के जीवन का एकमात्र केन्द्र मन्दिर ही थे। मन्दिर के निर्माण में वास्तु-कला और स्थापत्य-कला का प्रयोग चलता था; मूर्तिकार मूर्तियों में भाव और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के कौशल को बढ़ा रहे थे। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये सुन्दर नृत्य और भक्ति के सरस पदों में साहित्य का सृजन हो रहा था। मन्दिरों की भित्तियों पर कल्पना के अभूतपूर्व आलोक से आलोकित चित्रों का अंकन चल रहा था। इस सबके साथ, कला-जीवन की एक लौकिक धारा भी बह रही थी जिसमें नृत्य आदि का विकास मनोविनोद, विलास और कहीं-कहीं शुद्ध सौन्दर्य-आस्वादन के लिये भी हुआ।

(१३)

हम अपने देश के आध्यात्मिक इतिहास में उस स्थान पर पहुँच गये हैं जहाँ से वर्त्तमान युग का प्रारम्भ होता है। हमने देखा है कि हमारे सामूहिक जीवन की जाह्नवी में अनेकों दिशाओं से अनेक धाराएँ आ आकर मिल गई हैं। हमारी चेतना में आदिम मनुष्य की स्वच्छन्द आनन्द की भावना से लेकर,

युगों के इतिहास के अनन्तर—मुग़ल-कालीन वैभव और विलास की भावना, सभी विद्यमान हैं। वर्त्तमान युग की समष्टि-चेतना के पीछे युगों का इतिहास है। अपने युग के आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिये यह इतिहास आवश्यक है। इस इतिहास के कुछ निष्कर्ष हैं जिन्हें ध्यान में रख कर हम अपने काल की प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों को समझ सकेंगे। हमारे आध्यात्मिक इतिहास के निम्न-लिखित निष्कर्ष हैं।

(क) 'सामञ्जस्य' हमारे जीवन का रहस्य है। इसमें विविध और विरोधी भावनाएँ आईं और घुल-मिल कर एक हो गईं। इससे हमारे जीवन का अन्तराल विशाल और दृष्टि-कोण उदार रहा है। प्रत्येक युग ने अपना योगदान दिया, किन्तु चेतना की सनातन धारा समृद्ध ही होती गई है, नष्ट नहीं हुई। परिस्थितियों के कारण यह धारा कभी अनेक प्रवाहों में विभक्त और कभी संयुक्त होती रही है; कभी अन्तर्धान होकर गहरे स्तरों पर बहने लगी और कभी प्रत्यक्ष हो गई। आधुनिक युग में जहाँ कई विदेशी भावनाओं के स्रोत इसमें आकर मिले हैं वहाँ इसकी मूल चेतनाएँ भी सजीव हो उठी हैं। आज हमारा सम्पूर्ण इतिहास हमारे भारतीय व्यक्तित्व में जग उठा है, और उसमें नवीन स्रोतों को मिलाने की शक्ति का फिर से आविर्भाव हुआ है।

(ख) हमारा दृष्टि-कोण आध्यात्मिक रहा है। इसका अर्थ है कि हमारा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, भावनात्मक अथवा नैतिक जीवन एक सूत्र में गुंथा हुआ रहा है। वह सूत्र है हमारा निर्णय कि सारे प्राकृतिक जगत् का उद्देश्य वही है जो हमारे—मनुष्य के—चेतनामय जीवन का उद्देश्य है। मनुष्य इसी प्रकृति का अंग है—वह पुरुष है तो यह संसार उसके उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये प्रकृति है। अनन्त सुख की अभिलाषा, अमर जीवन पुरुष का उद्देश्य है—प्रकृति का भी वही उद्देश्य है। इस दृष्टि-कोण से प्रकृति की जड़ता दूर हो जाती है, उसमें दिव्यता और आध्यात्मिकता आ जाती है। इसी दिव्यता का अनुभव करना धर्म है; इसी की अभिव्यक्ति कला है; इसी दृष्टि-कोण से जीवन में व्यवहार करना नैतिकता है। समाज का वह संगठन जिससे पुरुष अपने आध्यात्मिक स्वरूप का अनुभव कर सके हमारी राजनीति रही है। इसी

आध्यात्मिक स्वरूप को समझाने का प्रयत्न ही भारतीय दर्शन है। हमारी सौन्दर्य-चेतना प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति है। हमने सूर्य को केवल आग का गोला और चन्द्रमा को पृथ्वी की छाया ही नहीं जाना है (जो वैज्ञानिक दृष्टि-कोण है), किन्तु साथ ही, सूर्य को अनन्त ज्ञान, सत्य और आनन्द की चेतना का स्रोत 'सविता' और चन्द्रमा को आह्लाद का स्रोत और सुधा का आकर भी माना है। यह अनुभूति झूठी नहीं है। यदि प्रकृति का मानव-जीवन और हृदय से निकट सम्बन्ध है। (जिसे विज्ञान भी निषेध नहीं करता) तो सूर्य और चन्द्रमा को जीवन और सुधा का निधि मानना असत्य नहीं है।

(ग) आध्यात्मिक दृष्टि-कोण के कारण हमने कला में 'अनुकरण' को महत्त्व न देकर 'अभिव्यक्ति' अथवा 'अनुरणन' को ही विशेष महत्त्व दिया है। हमारे लिये 'बाह्य' की अपेक्षा 'आन्तरिक', 'वस्तु' की अपेक्षा 'अनुभूति' अधिक मान्य रही हैं। काव्य, मूर्ति, रेखा, आदि अनेक साधनों द्वारा हमने अपनी गम्भीर अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया, जिससे रंग, शब्द और पत्थर की मूर्तियाँ जीवित मनुष्यों से भी अधिक सजीव, गम्भीर और चेतन प्रतीत होती हैं। बाह्य पदार्थों का अनुकरण हमारे कला-जीवन में नहीं है। यह केवल चित्रण है। जहाँ कहीं हमने बाह्य वस्तुओं का—कमल, पशु-पक्षी आदि का—प्रयोग भी किया है, वहाँ इनके आध्यात्मिक स्वरूप ही व्यक्त करने का प्रयत्न है, न कि इनके प्राकृतिक स्वरूप का।

(घ) सौन्दर्य-चेतना आध्यात्मिक होने के कारण हमारी सौन्दर्य-अनुभूति का स्वरूप भी ध्वन्यात्मक रहा है। इसका अर्थ है कि सौन्दर्य का आस्वादन हम नेत्र-निमीलन करके केवल कानों से ध्वनि के रूप में करते हैं। सुन्दर बुद्ध अथवा अन्य देवी, देवताओं की मूर्तियाँ और चित्रों का रसास्वादन हम ध्यानस्थ होकर करते हैं। इनका बाह्य रूप—इनकी मुद्राएँ, प्रतीक चिह्न और बहुत स्थानों पर इनका पशु-स्वरूप इत्यादि—हम साधारणतया नहीं समझ पाते। किन्तु इनमें ध्यान से भावों का हृदयङ्गम करने पर ये ही वस्तुएँ 'सुन्दर' और 'आनन्द' की चेतना को जाग्रत करती हैं। सूर्य का सप्ताश्व रथ, ब्रह्मा का

चतुर्मुखी स्वरूप, भगवान् का वाराह के रूप में अवतार, कृष्ण का अनुपम मानव-सौन्दर्य, विष्णु का नाभि-कमल, इत्यादि को ध्यान-पूर्वक देखने से प्रकृति के दिव्य स्वरूप का उद्घाटन होता है।

भारतीय इतिहास के इन निष्कर्षों को ध्यान में रखकर हम अपनी सौन्दर्य-चेतना को समझ सकते हैं, अपने कला-जीवन को हृदयङ्गम कर सकते हैं और हम कर सकते हैं अपने अनागत का निर्माण। हम अपने इतिहास का विरोध नहीं कर सकते।

भविष्य अतीत के गर्भ में पलता है। यही इतिहास का रहस्य है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

कहा जा चुका है कि 'आनन्द' हमारे एक विशेष अनुभव का नाम है। यह वस्तु के 'सौन्दर्य-चिन्तन' से उत्पन्न होता है। हम इस विशेष अनुभूति और वस्तु के गुण की मीमांसा आगे करेंगे। यहाँ हमें इतना अभिप्रेत है कि आनन्दानुभूति का मूल-स्रोत केवल सौन्दर्य ही नहीं है, वरञ्च 'सत्य' के लाभ से भी अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है, केवल सत्य से ही नहीं, 'शिव' तत्त्व के अनुभव से भी एक विशेष आह्लाद प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवन के अनन्त अवकाश में केवल सौन्दर्य ही नहीं है, उसमें सत्य और शिव भी हैं जिनसे मिल कर आनन्द की त्रिवेणी अखिल लोक को सींचती हुई बहती है। तीन स्रोतों (त्रिस्रोतस्) वाली जीवन की विराट्-धारा में सौन्दर्य से उत्पन्न माधुर्य और चमत्कार है, सत्य का प्रकाश और शिव का पवित्र उल्लास है। केवल अध्ययन की सरलता के लिये हम इन तीनों तत्त्वों का अलग निरूपण करते हैं, किन्तु वास्तव में त्रिविध होते हुए भी जीवन की धारा सरल है। एक ही वस्तु भिन्न दृष्टि-कोणों से देखने पर हमें कभी सुन्दर, कभी सत्य और कभी शिव रूप में प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं दृष्टि-कोणों का निरूपण है जिससे हम अपने जीवन की झाँकी पा सकें।

(२)

सत्य क्या पदार्थ है ?

तर्क जिसे सत्य कहता है वह विचारों की परस्पर-संगति का नाम है। मनुष्य की बुद्धि का स्वभाव है कि उसमें दो परस्पर विरोधी विचार एक साथ नहीं ठहर सकते। यदि हम कहें कि 'सूर्य उष्ण है' और 'सूर्य उष्ण नहीं है', तो हम

ही स्वयं इस कथन का अर्थ नहीं समझते। बुद्धि सूर्य के स्वरूप को समझना चाहती है। यदि सूर्य उष्ण है और उष्ण नहीं भी है तो हम इससे स्वरूप का निश्चय नहीं कर सकते। इसी प्रकार यदि हम मानें कि सभी मनुष्य मरणशील हैं; मैं मनुष्य हूँ, किन्तु मैं मरणशील नहीं हूँ. तो यह निष्कर्ष कि 'मैं मरणशील नहीं हूँ' यद्यपि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' और 'मैं मनुष्य हूँ', इन दोनों वाक्यों के प्रतिकूल है और हमारी मानव-बुद्धि इस निष्कर्ष को सत्य स्वीकार नहीं कर सकती। असत्य बात असंगत होती है, अर्थात् उसका दूसरी बातों से मेल नहीं रहता। न्यायालय में न्यायाधीश साक्षी-जनों के कथन में संगति के आधार पर ही उनके सत्य या असत्य होने का निर्णय करता है। तार्किक सत्य का स्वरूप यही संगति अर्थात् मेल का सिद्धान्त है।

यह सिद्धान्त तर्क तक ही सीमित नहीं है। कला के क्षेत्र में इसका उपयोग कल्पनाओं में परस्पर संगति उत्पन्न करके कला के प्रभाव में सत्य की प्रतीति लाने के लिये किया जाता है। एक उपन्यास को लीजिये, चाहे वह सामाजिक, जासूसी, मनोवैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक हो। यदि उसमें घटना, कथा-वस्तु, चरितनायक, परिस्थितियाँ आदि सभी में परस्पर मेल है तो हमें उनमें सत्य की प्रतीति होती है। सत्य की प्रतीति से उनका कलात्मक प्रभाव गम्भीर होता है। स्विफ्ट की लिखी 'गुलीवर की यात्रा' को लीजिये। लेखक पाठक से केवल एक बात पर विश्वास कराना चाहता है। वह यह कि प्रशान्त महासागर के किसी सुदूर द्वीप में छः इंच के मनुष्य हो सकते हैं। यदि यह विश्वास कर लिया जाये तो जो कुछ उन लोगों के विषय में लेखक ने कहा है, उसे सत्य ही मानना पड़ता है, ठीक उसी तरह जिस तरह 'अ = ब और ब = स' के मानने से अतएव 'अ = स' मानना पड़ता है। किसी उपन्यास, कथानक, नाटक आदि में प्रभाव की सफलता सत्य की प्रतीति से होती है और सत्य की प्रतीति कला के सभी तत्त्वों में समन्वय अथवा संगति से उत्पन्न होती है।

'औपन्यासिक सत्य' वस्तुतः सत्य का एक प्रकार है। इस सत्य में कल्पनाओं का समन्वय अथवा परस्पर मेल मुख्य अंश है। ऐसे भी उपन्यास होते हैं जिनमें केवल इसी संगति के द्वारा सत्य का विश्वास उपजाया जाता है। ये शुद्ध

उपन्यास (Fiction) कहलाने योग्य हैं। किन्तु कल्पना का आधार हमारा साधारण अनुभव, स्मृति, समाज की परिस्थितियों का निरीक्षण होता है। यदि कल्पनाएँ परस्पर समन्वित हों और साथ ही इन अनुभवों और निरीक्षणों के भी अनुकूल हों तो इनके प्रभाव में 'सत्य' स्फुट हो उठता है। इससे बढ़ कर, यदि केवल व्यक्तिगत ही नहीं सामूहिक जीवन की पुष्ट और प्रबल भावनाओं के भी अनुकूल ये कल्पनाएँ हों तो इनका औपन्यासिक सत्य वास्तविक अथवा ऐतिहासिक सत्य से भी अधिक प्रभावशाली और स्फुट हो जाता है। इस प्रकार कुशल उपन्यासकार जीवन के विभिन्न अंगों और विविध अनुभूतियों में सामञ्जस्य उत्पन्न करके एक नवीन 'सत्य' का उद्घाटन करता है। यद्यपि इस सत्य का उदय कल्पना से होता है, तथापि इसे हम असत्य नहीं कह सकते। सत्य वह है जिसमें हमें विश्वास हो, और, विश्वास हमें उसी अवस्था में होता है जब हमारे अनुभव का विरोध न हो। असत्य अविश्वसनीय होता है; असत्य में विश्वास करना असम्भव होता है, क्योंकि वह हमारी अनुभूति के प्रतिकूल होता है।

साधारणतया हम समझते हैं कि कल्पना से असत्य ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः ऐतिहासिक सत्य और काल्पनिक सत्य में अन्तर है। किसी घटित वस्तु का यथातथ्य वर्णन इतिहास है। उसके काल, स्थान और कार्य-कारण का उल्लेख उस वस्तु के विषय का ऐतिहासिक सत्य है। परन्तु हम अपनी वास्तविक अनुभूति के अनुकूल, अपनी उदात्त भावनाओं की पोषक, कल्पना करने में समर्थ हैं। हमारी अनुभूति और भावना भी हमारे लिये परम सत्य हैं, इसलिये इनके अनुकूल कल्पना और उसकी उपज भी हमारे लिये सत्य है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों की नाना कथाएँ, सम्भव है ऐतिहासिक सत्य न भी हों, किन्तु ये हमारी ही आत्मा की उच्चातिउच्च अनुभूतियाँ हैं। प्रत्येक मनुष्य इनमें अपनी ही उदात्त मानवता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पाता है। इसलिये इनमें हमें असत्यता का भ्रम नहीं होता। केवल भ्रम उसी अवस्था में होता है जब हम ऐतिहासिक सत्य और काल्पनिक सत्य के भेद को स्पष्ट नहीं समझते और पहले प्रकार के सत्य को दूसरे से कुछ ऊँचा मान बैठते हैं।

(३)

हमने कहा है कि विचारों की परस्पर संगति तार्किक सत्य का स्वरूप है। भावना, कल्पना आदि का परस्पर सामञ्जस्य औपन्यासिक सत्य का स्वरूप है, तथा, इतिहास जिसे सत्य मानता है वह घटनाओं का काल-क्रम आदि का परस्पर मेल होता है। वैज्ञानिक सत्य इनसे कुछ भिन्न है। विज्ञान बुद्धि द्वारा वस्तु और उनके परिवर्तन को समझने का प्रयत्न है। बुद्धि का स्वयं कुछ स्वरूप है और इसकी सीमाएँ भी है। अपने स्वभाव के अनुसार बुद्धि घटनाओं और वस्तुओं के सामान्य नियमों की गवेषणा करती है, उनमें कार्य-कारण नियमों का पता लगाती है। आधुनिक विज्ञान प्रकृति के एक विशेष क्षेत्र में इन्हीं सामान्य नियमों का संगठित ज्ञान है। वनस्पति-विज्ञान वनस्पति-जगत् को घटनाओं का व्यवस्थित ज्ञान सम्पादन करता है। इस ज्ञान से वस्तु-जगत् स्पष्ट हो जाता है। बुद्धि इस ज्ञान से अद्भुत प्रसाद पाती है। प्रसन्न बुद्धि परम शान्ति का अनुभव करती है। गीता ने प्रसाद-युक्त बुद्धि की इस अवस्था को 'पर्यवस्थान' कहा है।

विज्ञान का दृष्टि-कोण 'वास्तविक' होता है। इसका अर्थ है कि विज्ञान वस्तुओं और प्राकृतिक घटनाओं के स्वरूप का अध्ययन निरीक्षण द्वारा करता है। इन वस्तुओं के आध्यात्मिक प्रभावों का अनुशीलन शास्त्र करते हैं। शास्त्रीय-सत्य का स्वरूप भी वैज्ञानिक सत्य की भाँति ही आध्यात्मिक अनुभूतियों में व्यवस्था की उत्पत्ति होता है। इससे मानसिक जगत् हमारे लिये विशद् हो जाता है। हम वस्तुओं के स्वरूप को विज्ञान द्वारा और अपने स्वरूप को शास्त्र द्वारा स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ होते हैं। दोनों का फल मनः-प्रसाद है।

शास्त्र और विज्ञान जीवन के जिस तथ्य का उद्घाटन करते हैं वह सत्य होते हुए भी सम्पूर्ण नहीं होता। प्रत्येक शास्त्र अथवा विज्ञान अपने सीमित क्षेत्र में सीमित प्रकाश और प्रसाद की सृष्टि करता है। किन्तु जीवन का चरम सत्य बुद्धि की सीमाओं के पार है। बुद्धि वस्तु के बाह्य रूप को समझने का यंत्र मात्र है; वह सत्ता को ग्रहण नहीं कर सकती। दर्शन वस्तुतः चरम सत्य के दर्शन का नाम है। इसलिये विज्ञान और शास्त्र से भी ऊपर दार्शनिक दृष्टिकोण है, जो

परम सत्य और जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है। यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्त अनगिन और अनेक प्रकार से परस्पर विरोधी हैं, किन्तु उनमें कुछ मूल-सत्यों के विषय में एक-वाक्यता है, जैसे, अधिकांश में जीवन की अनन्तता में सबका विश्वास है; जीवन के चेतन स्वरूप में तथा इसकी अमित आनन्दमय चरम अवस्था में किसी को सन्देह नहीं है। दर्शन का उद्देश्य जीवन के इस चरम सत्य का दर्शन कराना होता है। यदि यह दर्शन केवल बुद्धि के तर्कों तक ही सीमित न रहे और इस तत्त्व का अवगाहन किया जाये तो निश्चय ही दार्शनिक सत्य अद्भुत आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न कर सकता है।

सत्य किस प्रकार आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न करता है? इस प्रश्न का यथोचित उत्तर वेदान्त दे सका है। पश्चिमी देशों में इस प्रश्न का उत्तर उन्हें मनोवैज्ञानिक गवेषणाओं से मिला है। हम इसका उल्लेख आगे करेंगे। यहाँ हम उपनिषद् का दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे। संक्षेप में, वह यह है कि हम जिस तत्त्व को जानते हैं उसमें तन्मय हो जाते हैं। ज्यों ही हमारे जीवन का परम सत्य—इसकी अनन्तता, चेतन सत्ता और आनन्द—हमारे सम्मुख प्रकट होता है, हम स्वयं भी उसी अनन्त, चेतन सत्ता में घुल-मिल कर तदाकार हो जाते हैं। जिस प्रकार अनेक जल-स्रोत समुद्र में मिल कर अपने भिन्न अस्तित्व, नाम-रूप को छोड़ कर, समुद्र ही बन जाते हैं, इसी प्रकार सत्य के दर्शन से आत्मा स्वयं सत्य बन जाती है। आत्मा की इस अनुभूति में हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व के बन्धन, इसकी पाप-पुण्य की मीमांसा, आशा और निराशा, चाह और चिन्ता, सुख-दुःख के साधारण आँकड़े, सब नष्ट हो जाते हैं। उस समय आत्मा अवश्य ही 'ब्रह्म' का अनुभव करती है। सत्य के दर्शन से आत्मा स्वयं सत्य बन कर साधारण सुख-दुःख से भिन्न किसी आनन्द का अनुभव पाती है। इसे ऋषियों ने ब्रह्मानन्द कहा है।

तार्किक सत्य से लेकर उपनिषद् के परम सत्य तक एक बात सामान्य रूप से विद्यमान् है कि सत्य का अर्थ सामञ्जस्य है, जिसमें जीवन की विविध अनुभूतियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं। केवल इन सत्यों में अन्तर इस बात का होता है कि एक किसी विशेष दृष्टि-कोण से सीमित अनुभूति की व्यवस्था करता

है तो दूसरा अपने विशेष क्षेत्र में ज्ञान का सम्पादन करता है। प्रत्येक सत्य के अनुभव का फल मनः-प्रसाद होता है। गणित के प्रश्न को हल करके हमें अवश्य आनन्द मिलता है। वैज्ञानिक गवेषणा में सत्य के आविष्कार से विज्ञान-वित् परम सन्तोष का अनुभव करता है। क्योंकि सत्य के ये अनुभव केवल एकाङ्गी होते हैं इसलिये यद्यपि आत्मा इनके साथ एकाकार होने का प्रयत्न करके सुख पाती है, तथापि जीवन का परम. सत्य, जिसमें सम्पूर्ण अनुभूति का सामञ्जस्य विद्यमान है, उसे दर्शन से प्राप्त होता है। निश्चय ही, आत्मा उस सत्य के साथ तद्रूप होकर अनन्त मनः-प्रसाद का अनुभव करती है। मन की यह अनन्त प्रसन्नता सत्य की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द का विशेष लक्षण है। दार्शनिकों और अनुभव पाने वाले योगियों ने इस प्रसन्नता को 'सत्व', 'ज्योति', 'विशोका ज्योतिष्मती भूमि', 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' आदि नामों से पुकारा है।

(४)

जिस प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सत्य के लिये है,—अनन्त सत्य के लिये जिसके साथ एकाकार होकर वह स्वयं अनन्त सत्य बन जाये और उसे उपनिषद् की परम अनुभूति हो सके : 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', उसी प्रकार मानव-प्रवृत्ति अनन्त कल्याण के लिये भी है। यही अनन्त कल्याण, अभय, निर्द्वन्द्वता और अनुशासन-रहित स्वच्छन्द विहार हमारे देश में 'शिव-तत्त्व' के रूप में मूर्त्त हो गया है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से 'शिव' आदिम मनुष्य की अनुभूति है, तथापि दार्शनिक विचार-धारा में पड़ कर यह अनुभूति मानव-मात्र के लिये जीवन का परम ध्येय और उच्च आदर्श बन गई है। शिव-कामना अथवा कल्याण-कामना एक ही बात है।

शिव अथवा कल्याण का स्वरूप क्या है ? यद्यपि मानव-मात्र कल्याण की कामना से प्रेरणा पाता है, तथापि कल्याण का वास्तविक अर्थ बहुधा हमें स्पष्ट नहीं होता। विकास की प्रथम अवस्था में प्रवृत्तियों की तृप्ति को ही हम कल्याण मान बैठते हैं। परन्तु शीघ्र ही हमें समस्याओं का सामना करना होता है : प्रवृत्तियों की अनियमित तृप्त सम्भव नहीं, तब किस प्रवृत्ति को किस सीमा

तक तृप्त किया जाये ? कौन-सी प्रवृत्ति त्याज्य और कौन-सी ग्राह्य है ? इनमें परस्पर विघात भी है : एक की तृप्ति से दूसरी का सन्तोष नहीं होता, इसके विपरीत भय, उद्वेग, क्रोध आदि अतृप्ति से उत्पन्न होते हैं। तब तो, इच्छाओं की पूर्ति केवल सुख का कारण नहीं होती, उसमें दुःख का भारी पुट रहता है। इस अनुभव से मर्यादा, नीति, धर्म, पुण्य और इनके विपरीत अमर्यादा, अनीति, अधर्म और पाप आदि के विचार उपस्थित होते हैं। इस अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है मानों जीवन का परम कल्याण मर्यादा, धर्म और नीति के नियमों को त्याग कर नहीं मिल सकता। यहाँ से पाप और पुण्य की मीमांसा प्रारम्भ हो जाती है; स्वर्ग और नरक, परलोक और पुनर्जन्म आदि की कल्पना की जाती है। अब मनुष्य पशुता को छोड़कर मानवता को ग्रहण करता है। यह मनुष्य धार्मिक है, और, धर्म से मर्यादित तृप्ति ही इसका परम कल्याण है।

सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य अपनी विविध प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य अथवा मेल उत्पन्न करता है, जिससे उसे जीवन में सर्वाङ्ग तृप्ति मिल सके। इससे इसकी भावना और प्रवृत्ति में उदारता और संस्कार का उदय होता है। अपनी तृप्ति के लिये मनुष्य विविध कलाओं, साहित्य, भवनों, भोजन, भूषा का आविष्कार करता है। इन सुख के साधनों से युक्त, वह जीवन की सर्वाङ्गीण और उदात्त तृप्ति की इच्छा करता है, किन्तु इस अवस्था में भावना और बुद्धि के संस्कार के कारण, धार्मिक और नैतिक बन्धनों के अतिरिक्त हृदय की कोमलता स्वयं बन्धन बन जाती है। हम अपने हृदय की कोमलता का विघात करके, अन्तःकरण की प्रवृत्तियों के प्रमाण को ठुकरा कर, सुख नहीं पा सकते। इस प्रकार यद्यपि हमारी शिव-भावना संस्कृत, कोमल और विशद् तो हो जाती है, किन्तु जीवन में मर्यादा के बन्धन अदृश्य, जटिल और दृढ़ होते जाते हैं।

एक ओर मनुष्य का सर्वाङ्गीण व्यक्तिगत विकास आगे बढ़ता है और दूसरी ओर उसका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन उत्तरोत्तर विस्तृत और जटिल होता जाता है। उसका व्यक्तिगत कल्याण समाज के सामूहिक कल्याण का अंश बन जाता है। उसके मोक्ष और बन्धन, सम्पत्ति, सुख और दुःख, आशा और निराशा, समष्टि-जीवन में एकाकार हो जाते हैं, मानो उसका

अलग कोई अस्तित्व ही नहीं है। वस्तुतः यह समष्टि की कल्याण-भावना 'शिव' का बृहत् रूप है, जिसक स्पष्ट झाँकी हमारे समय में सम्भव हो सकी है वैज्ञानिक आविष्कारों और विश्व-व्यापी आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक समस्याओं के कारण। यद्यपि हम विश्व-कल्याण के समीप नहीं पहुँच पाये हैं, तथापि इसकी भावी रूप-रेखा हमें दृष्टिगोचर हो रही है। कल्याण की खोज में निकला हुआ मनुष्य आज व्यापक, अमर और अनन्त शिव-तत्त्व की कल्पना करने में समर्थ हुआ है। यथार्थ में, 'शिवोऽहम्' का अनुभव करने वाले मानव ने आज अपने व्यापक शिव-स्वरूप का प्रथम आभास पाया है।

आज हमने जिस विश्व-मंगल की कल्पना की है उसमें मानवता, समानता और स्वाधीनता का विशेष स्थान है। प्रवृत्तियों की तृप्ति और आध्यात्मिक विकास उसके लक्ष्य हैं। यदि हम इन सूक्ष्म विचारों को मूर्त्त रूप दें, तो शिव का लौकिक स्वरूप हमारे लिये स्पष्ट हो जाता है। जाति, धर्म, वर्ण, आश्रम, देश आदि भेदों के ऊपर, स्वाधीन, विद्या के अधिष्ठातृ देव, नृत्य-कला के आचार्य, परम कारुणिक महा-मानव ही हमारे महादेव हैं। निश्चय ही, शिव प्रलयंकर भी हैं, क्योंकि सृष्टि की प्रवृत्ति मर्यादा, बन्धन और भेद की ओर रहती है। इन बन्धनों से दूर स्वतंत्र जीवन का आदर्श शिव का जीवन है। विश्व-मंगल की व्यापक भावना ही शिव-भावना है, केवल एक अन्तर के साथ जो इस प्रकार है :

यद्यपि सृष्टि की प्रवृत्ति बंधन, मर्यादा और भेद की ओर स्वभाव से ही है, तथापि हमारी चेतन आत्मा स्वभाव से ही इन नियामक विधि-विधानों से घृणा करती है। सभ्यता और संस्कृति इन विधानों को सूक्ष्म और दृढ़ बनाती हैं, यद्यपि इनसे हमारा जीवन विशद् हो जाता है। प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में सभ्यता की पोषक और विरोधी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। हमारे समय में राजनैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक परिस्थितियों ने सभ्यता के बन्धनों को शिथिल और व्यर्थ बना दिया है। नैतिकता और धर्म के विधान प्रभावहीन हो गये हैं। हमने जिस बन्धनहीन, सुखमय जीवन की कल्पना की है, उसका प्रधान कारण हमारी परिस्थितियों से उत्पन्न विवशता है। इस विवशता से ही विश्व-व्यापी मङ्गल-चेतना का आविर्भाव हुआ है। वास्तविक विश्व-मंगल की भावना

का कारण विवशता नहीं, आध्यात्मिक विकास होता है। यही अन्तर वर्त्तमान की शिव-भावना और वास्तविक शिवानुभूति में है। शिव आध्यात्मिक दृष्टि से उदार भावों के प्रतीक हैं। उनका जीवन केवल स्वच्छन्द विहार का ही नहीं है। 'शिव-तत्त्व' का यह स्वरूप जिसमें मानवता का चरम विकास, न कि उसका अत्यन्त ह्रास, ही मुख्य कारण है, भारतीय सभ्यता की उदात्त कल्पना है।

हमारे अनुसार स्वच्छन्द मङ्गलमय जीवन धर्म और नीति की अवहेलना से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु आत्मा के पूर्ण विकास से उत्पन्न होता है। आत्मा अनन्त और अखण्ड चेतन सत्ता है जिसको उपनिषत्कारों ने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा है। इस आत्मा के स्वरूप के अनुभव से सांसारिक जीवन के भेद, सुख-दुःख के आंकड़े, पाप-पुण्य के विधान समाप्त हो जाते हैं। सत्य की अनुभूति होने पर 'ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण', वेद और अ-वेद के भेद, विधि-निषेध की सम्पूर्ण मीमांसा प्रौढ़ होने पर शिशु-क्रीड़ा की भाँति बन्द हो जाते हैं। इस अनुभूति के अनन्तर याज्ञवल्क्य ने जनक से उपदेश देते समय कहा था "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।" जीवन में अभय का यह अनुभव आध्यात्मिक विकास की चरमभूमि है। इस अवस्था में धर्म का भय अथवा इसके बन्धन नहीं रहते, कारण कि मनुष्य स्वयं धर्म बन जाता है। जिस प्रकार परम सत्य के अनुभव से बुद्धि स्वयं 'ज्योति' और 'ऋतम्भरा' बन जाती है, उसी प्रकार शिव-तत्त्व के अनुभव से आत्मा स्वयं शिव-स्वरूप, मङ्गलमय और धर्म-वर्षिणी बन जाती है। 'शिव' वस्तुतः मनुष्य में धार्मिकता के चरम विकास की अवस्था का नाम है जब धर्म और अधर्म का द्वन्द्व ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार सत्य के अनुभव से मनुष्य स्वयं सत्य बन जाता है, उसी प्रकार शिव के अनुभव से वह स्वयं शिव-रूप हो जाता है। मनुष्य का चरम रूप सत्य और शिव है। शिव की अनुभूति से शिव किस प्रकार बन जाता है? इस प्रश्न का उत्तर भी वैदिक-साहित्य से मिलता है। उपासना अथवा यज्ञ का अर्थ इस साहित्य में उपास्य अथवा यज्ञीय देवता के तदाकार होना है: "विष्णुर्भूत्वा विष्णुं यजेत" "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।" सत्य और शिव की आराधना से उपासक स्वयं सत्य और शिव बन जाता है। यही उसका वास्तविक और चरम स्वरूप भी है।

(५)

हमारे देश में सौन्दर्य की उपासना भी आत्म-तत्त्व की उपासना की भाँति प्राचीन है। वेद की उपासना में यह कहना कठिन है कि कौन ऋचा धार्मिक स्तुति है और कौन दिव्य-सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न आह्लाद की अभिव्यक्ति है। वेद के देवता प्रकृति की प्रत्यक्ष दिव्य शक्तियाँ हैं, जैसे, इन्द्र, अग्नि, वरुण, उषा, सविता, अश्विनी आदि। धार्मिक दृष्टि से ये देवता यज्ञीय अथवा पूजा के योग्य हैं, क्योंकि ये हमें सुख और प्रेरणा प्रदान करते हैं, ये हमारे पार्थिव जीवन के संरक्षक हैं। इन्द्र अपने तेज से, अग्नि अपनी ऊष्मा से, सविता अपने प्रकाश से, वरुण अपने अमृत से जीवन और चेतना को जन्म देते और सम्भरण करते हैं। हमारा जीवन-तत्त्व इनमें ही संवरण भी हो जाता है। वस्तुतः जीवन और ज्योति इन्हीं के हैं। इनकी वस्तु को इन्हें समर्पण करना चाहिये। जो मनुष्य इस भावना के बिना केवल पशु-तृप्ति के लिये भोग करता है, वह 'स्तेन' है। 'स्वयं ही खाने वाला (बिना समर्पण किये) मनुष्य केवल पाप ही भक्षण करता है। (केवलाघो भवति केवलादी)। वेद की इस धार्मिक भावना में सत्य और शिव का अद्भुत सामञ्जस्य है। इस भावना से भावित होकर वह स्वयं सत्य और शिव रूप बन जाता है, क्योंकि यज्ञ करते समय वह अनुभव करता है : "इदमहं असत्यात् सत्यमुपैमि।" साथ ही, इस भावना में जहाँ सत्य का श्रेष्ठ प्रकाश (वरेण्यं भर्गः) और कल्याण से उत्पन्न परम तृप्ति है, वहाँ सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न परम आह्लाद भी है। वैदिक मनुष्य ने अपने चारों ओर की प्रकृति को सुन्दर कल्पना और आनन्द की भावना से भर दिया है। वह अचेतन, असुन्दर और जड़ जगत् में रहने को प्रस्तुत नहीं। अतएव उसने अपने आन्तरिक उल्लास से प्रकृति को सुन्दर बना दिया है। सत्य, शिव, और सौन्दर्य का एक ही तत्त्व में यह अनुभव विलक्षण है और हमारे लिये आज भी आदर्श है।

सौन्दर्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसे हम 'रस' कहते हैं। सत्य से उत्पन्न आनन्द को हम 'प्रसन्नता' और शिवानुभूति के आनन्द को 'तृप्ति' कह सकते हैं, यद्यपि इनके कोई नियत नाम नहीं हैं। वस्तुतः ये तीनों अनुभूति

हमारे बौद्ध, भावनात्मक और प्रवृत्तिमय जीवन की क्रमशः विकसित अवस्थाएँ हैं। जीवन के विकास के साथ ही इनका प्रारण और विस्तार होता है। सत्य के उद्घाटन से सौन्दर्य की वृद्धि होती है। 'शिव' के नवीन अनुभव से नूतन सौन्दर्य का उदय होता है। हमारे युग में, असत्य और अशिव के प्रचुर होते हुए भी, मनुष्य ने नवीन दृष्टि-कोणों से सत्य की गवेषणा की है; सामूहिक जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय विकास के कारण लोक-मंगल की नवीन भावना जाग्रत हुई है। इसका प्रभाव हमारे भावना-जीवन पर यह हुआ है कि कला और साहित्य के सभी क्षेत्रों में सौन्दर्य का नवीन अवतार हो गया है। यदि अपने पतन का कारण हमें ढूँढना है तो वह है कि हमने सत्य शिव और सौन्दर्य के स्वाभाविक और सजीव सबन्ध को विच्छिन्न कर दिया है। यदि हम ऐसी तृप्ति चाहते हैं जो असुन्दर है अर्थात् जो हमारे सम्पूर्ण, विकसित भावना-जीवन का अपघात करती है; इसी प्रकार यदि हम सत्य के विरोधी कल्याण की कामना करते हैं जो हमारे सम्पूर्ण बुद्धि-जीवन का अपघात करती है, अथवा, यदि हम ऐसे सत्य को अपनाते हैं जो हमारी प्रवृत्तियों की तृप्ति और भावनाओं का विघात करता है, जैसा कि आधुनिक विज्ञान ने किया है, तो इन सब दशाओं में जीवन का ह्रास ही नहीं होता, वह स्वयं संकट में पड़ जाता है। इतिहास के सुवर्ण-युगों में तीनों का समन्वित विकास होता रहा है। सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर केवल सौन्दर्य-उपासना के कारण विलास-प्रिय युगों और सभ्यताओं का पतन हुआ। भावना और चरम कल्याण की अवहेलना करने वाले विज्ञान-प्रधान हमारे युग में सत्य का आविष्कार और शक्ति का संचय भी हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिये आपत्तिजनक हैं।

वह रसानुभूति जो असत्य है अर्थात् जो हमारे जीवन की अनेकविध अनुभूतियों के विरुद्ध है, जिसमें वास्तविकता नहीं है, स्वयं मूलहीन होने के कारण नष्ट हो जाती है। सत्य होने पर ही रसानुभूति सम्भव हो सकती है। तुलसी अथवा वाल्मीकि के 'राम' कालिदास की 'शकुन्तला', फिरदौसी के 'रुस्तम और सोहराब', अजन्ता की बुद्ध मूर्तियाँ, तथा इसी प्रकार अनेक राग, रागिनियाँ, चित्र, नृत्य आदि कलाकार की वास्तविक अनुभूति से उत्पन्न होने के

कारण परम सत्य हैं, अनन्त नीलाकाश, चंचल सरिता, मधुगन्ध के उद्गारयुत पुष्प, उषा और सन्ध्या आदि प्राकृतिक दृश्यों के सत्य का तो कहना ही क्या, जो हमारे ज्वलन्त प्रत्यक्ष अनुभव हैं। हमने सौन्दर्य की परिभाषा भी 'अनुभूति का आनन्द' की है। वास्तविक अनुभूति से ही वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन किया जाता है। इस प्रकार 'सत्य' ही 'सुन्दर' हो सकता है और 'सुन्दर' ही 'सत्य' हो सकता है।

(६)

धर्म और नीति से सौन्दर्यानुभूति का क्या सम्बन्ध है ?

मूलतः धर्म एक अनुभव है जिसके चारों ओर मनुष्य ने विश्वासों, धारणाओं, रूढ़ियों, यहाँ तक कि भ्रान्तियों, का जाल लगा दिया है। धार्मिक अनुभव में प्रधान अंश परम सत्य का प्रत्यक्ष परिचय है जिसके लिये धार्मिक जीवन की प्रथम भूमि में प्रार्थना, दीनता, आत्म-शुद्धि और आत्म-समर्पण की भावना रहती है और परिपक्व अवस्था में उस चरम सत्य के साथ तादात्म्य का अनुभव, अद्भुत आह्लाद और ब्रह्मत्व का साक्षात्कार होता है। इससे प्रकट होता है कि सत्यानुभूति का आनन्द धर्म में विद्यमान रहता है, और, अनुभूति के आनन्द का नाम ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य-भावना को धार्मिक विश्वासों का बन्धन मानना आवश्यक नहीं है, किन्तु सौन्दर्य का रस धार्मिक अनुभूति से स्पष्ट और पुष्ट होता है। प्रत्येक देश में, विशेषतः मध्य कालीन योरोप और एशिया में, धर्म से सत्य के कई अंगों का स्पष्टीकरण हुआ। वाल्मीकि के धर्म ने मानव-आदर्शों के रूप में, व्यास ने परम पुरुष के रूप में, बुद्ध ने करुणा, ब्राह्मण-धर्म ने विष्णु, ईसाई धर्म ने क्षमा और इस्लामी धर्म ने विश्व-बन्धुत्व के रूप में सत्य का साक्षात्कार कराया, जिसके फल-स्वरूप अनगिन मन्दिर, स्तूप, मूर्तियाँ, गिर्जे, मस्जिद और मीनारें हमारे लिये सौन्दर्य की सृष्टियाँ हुईं। ये हमारे धार्मिक अनुभव के सजीव प्रतीक हैं। यहाँ हमें इतना ही स्मरण रखना आवश्यक है कि धर्म के अतिरिक्त भी सत्य है जिसके अनुभव से सौन्दर्य का रस उत्पन्न हो सकता है। इसलिये धार्मिक कला के अतिरिक्त भी सौन्दर्य होता है।

जीवन के विकास के साथ ज्यों-ज्यों सत्य का रूप स्पष्ट होता है और इसके नवीन भाग और स्तर प्रकट होते हैं, त्यों-त्यों सौन्दर्य का भी विस्तार होता है।

नीति धर्म की सहचरी है। धर्म नैतिक जीवन का लक्ष्य स्थिर करता है और नीति धार्मिक जीवन का मार्ग निश्चय करती है। हमारी सौन्दर्य-भावना, जीवन का परम आदर्श होने के कारण, नीति का विरोध नहीं कर सकती। नैतिकता सत्य का एक रूप है; इससे जीवन में पवित्रता, धैर्य, संयम का उदय होता है। सौन्दर्य-भावना इस पवित्रता का विघात करके हृदयग्राह्य नहीं हो सकती। इतिहास में जैन धर्म नीति-प्रधान धर्म रहा है। इसने तीर्थङ्करों की अनेक मूर्तियों में, मुद्रा और आसनों में, इसी पुण्य-भावना और सदाचार को व्यक्त किया है। ये पुण्य-भावना के प्रतीक सत्य और सुन्दर हैं। यहाँ भी हमें नैतिकता के विषय में संकुचित दृष्टिकोण से बचना चाहिये। सौन्दर्य-भावना को नीति के बन्धन मान्य नहीं हैं। सौन्दर्य-भावना सत्य के अनुभव से जीवन के कोने-कोने में रस का संचार करना चाहती है, इसकी शक्तियों को ऊर्वर और प्रेरणा को उद्बुद्ध करती है। नीति की पुण्य-भावना अपने विधानों से इसे जड़ नहीं बना सकती। सत्य स्वयं पवित्र है। उसके लिये नैतिक बन्धन अनावश्यक हैं। सत्यानुभूति से उत्पन्न सौन्दर्य की पवित्रता नैतिक पवित्रता से ऊँची है। इसलिये सौन्दर्य उस पवित्र सत्य का उद्घाटन करता है जो नैतिक सत्य से अधिक व्यापक है। इसीलिये सौन्दर्य की जननी कला साक्षात् नीति का उपदेश करना अपने उच्च पद के लिये हेय समझती है। वैसे भी, नीति प्रवृत्ति और भावनाओं में अपने विधि-निषेधमय नियमों द्वारा पवित्रता उत्पन्न करती है। सौन्दर्य-भावना हृदय में कोमलता, माधुर्य और रस का उद्रेक करती है, जिसके लिये बन्धनों से मुक्ति आवश्यक है। इसलिये भी नैतिक पवित्रता और सौन्दर्य-भावना का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार सत्य की पवित्रता नैतिक पवित्रता से व्यापक है, उसी प्रकार सौन्दर्य स्वयं पवित्र है, और, इसकी पवित्रता नैतिक पवित्रता से अधिक व्यापक, मधुर और गम्भीर है।

रूप, भोग और अभिव्यक्ति

प्रकृति में दिव्य सौन्दर्य का साक्षात्कार करने वाले अंग्रेज़ कवि वर्ड्सवर्थ* ने कहा है कि हमारी बुद्धि वस्तुओं के सौन्दर्य को विकृत बना देती है, क्योंकि इसका काम विश्लेषण करना है और विश्लेषण मानो सुन्दरता की हत्या है। यह सच है कि तर्क-कर्कश बुद्धि द्वारा हम वस्तुओं के सौन्दर्य का अवगाहन नहीं कर सकते। तर्क के लिये 'नटराज' की मूर्ति अथवा 'अजन्ता' का चित्र केवल कुछ रंगों, रेखाओं और मुद्राओं के, बुद्धि के लिये अगम्य किन्तु भावना के लिये गम्य, संस्थानमात्र हैं। यहाँ हमें दो बातें समझने योग्य हैं: (१) तर्क बुद्धि की एक प्रक्रिया है जिसका ज्ञान-सम्पादन के लिये विशेष उपयोग है; किन्तु बुद्धि का कार्य और भी है। वह हमारी विविध अनुभूतियों को स्पष्ट बनाती है और उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करके 'सत्य' के स्वरूप का निश्चय करती है। बुद्धि और भावना में वही सम्बन्ध है जो 'सत्य' और 'सौन्दर्य' में है। बुद्धि सत्य को विशद् बनाती है और भावना उसको हृदयङ्गम करके उसका आस्वादन करतो है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध उसी समय विकृत अथवा विच्छिन्न होता है जब हम बुद्धि से भावना का अथवा भावना से बुद्धि का दमन करने लगते हैं। वस्तुतः एक के विकास अथवा ह्रास का दूसरी के विकास तथा ह्रास से घनिष्ट सम्बन्ध है। (२) सौन्दर्य के शास्त्रीय अध्ययन के लिये सुन्दर वस्तु और सौन्दर्य-भावना का स्पष्ट होना आवश्यक है। स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये विश्लेषण

---

* "Our meddling intellect,
Misshapes the beauteous forms of things;
We murder to dissect."

एक प्रकार है। सौन्दर्य-शास्त्र इसी उद्देश्य से वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयोग करता है। शास्त्र का मूल अभिप्राय सौन्दर्य का आस्वादन कराना नहीं है, वरन् ज्ञान के सम्पादन से बुद्धि में 'प्रसाद' उत्पन्न करके भावना में सौन्दर्य- आस्वादन की क्षमता उत्पन्न करना है। अतएव हम इस अध्याय में सौन्दर्य के तत्त्वों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करेंगे।

किसी सुन्दर वस्तु को लीजिये, जैसे, आकाश, ताजमहल, अथवा कोई नृत्य। इस वस्तु में तीन तत्त्व प्रतीत होते हैं—(१) वह पदार्थ जिससे इस वस्तु का कलेवर बनता है, जैसे ताजमहल में दुग्ध-धवल प्रस्तर-खंड आदि, आकाश में नीलिमा तथा तारक-प्रकाश और नृत्य में नर्त्तक एवं उसकी गति। इस तत्त्व को हम 'भोग' कहेंगे। यह उसका साधारण अनुभवगम्य और भौतिक भाग है। (२) सुन्दर वस्तु में अवयवों के संस्थान अथवा आकार की विशेषता होती है। समान पदार्थ से हम दो भिन्न आकारों की रचना कर सकते हैं, जैसे, हम उसी पत्थर से एक मन्दिर और एक गिर्जे का निर्माण कर सकते हैं जिनमें आकृति की भिन्नता हो। सुन्दर वस्तु का विशेष आकार उसका दूसरा तत्त्व है जिसे हम 'रूप' कहेंगे। (३) भोग और रूप तत्त्व यद्यपि स्वयं अपने प्रभाव के कारण आह्लाद उत्पन्न करते हैं, किन्तु साथ ही, ये गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति के व्यञ्जक भी होते हैं, जैसे किसी रूप से शान्ति, किसी से चिन्ता, भय, उल्लास, आदि अनेक अनुभव व्यक्त होते हैं। हम सुन्दर वस्तु के बाह्य कलेवर को अनेक अनुभूतियों का वाहन बनाकर उसके सौन्दर्य को गम्भीर और आध्यात्मिक बना देते हैं। यह तीसरा तत्त्वहै जिसको हम 'अभिव्यक्ति' कहेंगे। निम्नलिखित भाग में इन्हीं तीनों तत्त्वों का निरूपण है।

(२)

सौन्दर्य का 'वास्तविक' आधार भोग-तत्त्व है। इस तत्त्व का आस्वादन मनुष्य अपनी स्वाभाविक सौन्दर्य-चेतना द्वारा करता है। बुद्धि और संस्कृति का विकास होने पर यद्यपि सौन्दर्य में रूप और अभिव्यक्ति का आस्वादन सम्भव हो जाता है, तथापि हमारी मूल रुचि भोग के प्रति वैसी ही बनी रहती है। शिशु

के लिये भोग ही सुन्दर वस्तु का आकर्षण होता है; वह रूप और सौन्दर्य की आध्यात्मिक अभिव्यञ्जनाओं से अपरिचित होता है। क्रोचे नामक एक इटेलियन दार्शनिक के अनुसार तो शिशु की आँखों से देखे गये जगत् का सौन्दर्य ही वस्तुतः सौन्दर्य है। मानसिक विकास के कारण तथा सामाजिक जीवन की जटिलता के कारण, हमारी आदिम सौन्दर्य-चेतना वैज्ञानिक, नैतिक और व्यावहारिक क्रियाओं से मानो ढक जाती है। फलस्वरूप हमारे जीवन में आनन्द का एक बृहत् मूल-स्रोत प्रौढ़ होने पर अवरुद्ध हो जाता है। अतएव सौन्दर्य का अनुभव करने के लिये अन्य क्रियाओं को स्थगित करके शिशु की आनन्द-चेतना को जाग्रत करना चाहिये। क्रोचे महोदय कहते हैं कि सौन्दर्य का एकतान अनुभव करने वाले कवि, चित्रकार, मूर्तिकार आदि के मुख पर शिशुता की झलक प्रौढ़ होने पर भी बनी रहती है।

सुन्दर वस्तु के भोग में सर्व-प्रथम रंग का स्थान है। यहाँ हम यह नहीं कहना चाहते कि रंगों का सम्बन्ध हमारी मानसिक अवस्थाओं से है, अथवा, आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार वे हमारी अचेतन और गम्भीर अनुभूतियों के वाहक हैं, अथवा, यह कि रंग से वस्तुओं का रूप स्पष्ट होता है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कुछ रंग, अथवा विशेष अवस्था और अवसर पर विशेष रंग, प्रिय होते हैं। रंगों की स्वाभाविक प्रियता का वैज्ञानिक कारण हमें विदित नहीं। हम इतना जानते हैं कि रंग रंगीन वस्तु का गुण नहीं है, किन्तु इसका मूल सूर्य का सतरंगी प्रकाश है। जो वस्तु हमें हरित अथवा नील प्रतीत होती है, वह सूर्य के प्रकाश में से सभी वर्णों को मानो अपने में समाविष्ट करके केवल हरित अथवा नीली किरणों को बाहर फेंकती है। इसी से वह हमें हरित अथवा नीली प्रतीत होती है। रंग प्रकाश का ही एक रूप है जिसका मूल-स्रोत सताश्व सविता है। प्रकाश का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। सम्भव है प्रकाश-स्वरूप होने के कारण रंगों का भी जीवन-शक्ति और जीवन की वेदनाओं से गहरा सम्बन्ध हो। यह सम्बन्ध इनकी प्रियता का भी कारण हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक रंग प्रकाश की एक किरण है जो रश्मि (रस्सी)

के रूप में हमें साधारणतया दिखाई पड़ती है। विश्लेषण करने पर एक रश्मि अत्यन्त लघु कणों का निरन्तर प्रवाह मात्र है। सूर्य से प्रतिक्षण अनन्त प्रकाश-कण अथवा स्फुलिङ्ग छूटते रहते हैं। प्रत्येक वर्ण के प्रकाश-कणों की विशेष लम्बाई और गति होती है। सम्भव है रंगों की प्रियता का स्वाभाविक कारण इन्हीं कणों की गति, शक्ति अथवा लम्बाई इत्यादि हो। अथवा, शरीर-विज्ञान के अनुसार मनुष्य के चक्षु-यंत्र में एक विशेष आकार और शक्ति वाले जीव-कण ही रंगों को ग्रहण करते हैं। सम्भव है चक्षु की क्रिया से मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विशेष संवेदना से वर्णों की प्रियता का सम्बन्ध हो। कुछ भी हो, रंगों में स्वाभाविक भोग्यता की क्षमता अवश्य है, ठीक उसी प्रकार जैसे मनुष्य में उनके भोग की क्षमता है।

रंगों के अतिरिक्त हम ध्वनि के माधुर्य, तथा स्पर्श, गन्ध, रस आदि के सुख-भोग के लिये भी समर्थ हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ केवल ज्ञान के ही द्वार नहीं है वे अनुरञ्जना उत्पन्न करने के लिये भी उपयुक्त हैं। प्रकृति ने ज्ञान और रस को पृथक् नहीं किया है, प्रत्युत इन दोनों का सफल समन्वय हमारी इन्द्रियों के अनुभव में किया है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वार से प्राप्त अनुभूति का सुख सौन्दर्य-चेतना का प्रधान अंश है। यहाँ इतना ही स्मरण रहे कि इस सुख में वासना और पशु-प्रवृत्ति की 'अशिव' तृप्ति सम्मिलित न होनी चाहिये। ध्वनि, वर्ण, स्पर्श आदि स्वयं अपने प्रभाव से ही, बिना वासना-तृप्ति के भी, आनन्द उत्पन्न करने के लिये समर्थ होते हैं। न केवल इनका प्रत्यक्ष अनुभव ही, जैसा कि प्रकृति अथवा कला द्वारा निर्मित सुन्दर पदार्थों में होता है, बल्कि इनकी कल्पना भी आह्लाद उत्पन्न करती है। साहित्यकार शब्दों और छन्दों के प्रयोग से न केवल ध्वनि के माधुर्य का, वरन् शब्दों की अनेक अर्थों का उद्घाटन करने वाली शक्ति द्वारा, अनेक वर्णों, स्पर्शों, गन्धों और रसों की भी सजीव अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है। कालिदास, वाल्मीकि, व्यास, शेक्सपियर आदि महा-कवियों की वाणी में संगीत का माधुर्य तो है ही, साथ ही उसमें अनेकों दिव्य वर्ण, स्पर्श, रस, गन्ध आदि का अपूर्व और प्रबल प्रवाह भी है। ये कवि हमें कल्पना के ऐसे जगत् में अपने मनोमोहक शब्दों द्वारा ले जाते हैं जिस जगत्

में हमारे अनुभूत संसार के अनुकूल किन्तु अद्भुत वर्णों का विलास और दिव्य ध्वनियों का संगीत रहता है, जहाँ पारिजात के पुष्पों का आसव, दिव्य अन्नों और फलों का रस तथा वर्णनातीत स्पर्श विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः अनुभूति का यह आदिम भोग वस्तुओं के सौन्दर्य का आधार है।

मानो प्रकृति सौन्दर्य के इस रहस्य को समझ कर ही अपनी कृतियों में रंग, ध्वनि, स्पर्श, गन्धादि का प्रचुर प्रयोग करती है। पुष्पों के संसार को देखिये। मानो प्रकृति मानव-सौन्दर्य-चेतना की परम तुष्टि के लिये नाना वर्ण, रस, गन्ध और कोमल स्पर्श का विराट् आयोजन करती है। आकाश के सौन्दर्य का रहस्य उसकी प्रिय नीलिमा तथा उसमें इतस्ततः बिखरे हुए हीरे के कणों की भाँति तारा-गण हैं। आकाश का अनन्त विस्तार, उसमें क्षण-क्षण में नवीन होने वाला विविध वर्णों का विन्यास, हंस की भाँति उड़ता हुआ चन्द्रमा तथा अरुण सहित सप्ताश्व सूर्य, इत्यादि सौन्दर्य की दृष्टि से अक्षय और अपरिमेय आनन्द के निधान हैं। इसी प्रकार अनन्त हरित-वर्ण वन-विस्तार, नील-वर्ण समुद्रों का अछोर प्रसार, धवल-सुवर्ण असंख्य हिम-गिरि के शिखर इत्यादि सभी इन्द्रिय-भोग के लिये पर्याप्त प्राकृतिक साधन हैं। इन वस्तुओं में *'विस्तार,'* साधारणतया *'विन्यास का अभाव'* अथवा विन्यास की *'अपूर्वता,' 'नवीनता'* और *'विविधता'* और वर्ण, ध्वनि, स्पर्श आदि की *'स्वाभाविक प्रियता'* ही इनके अपूर्व सौन्दर्य के मूल कारण हैं। विन्यास अथवा रूप के अभाव को हम सौन्दर्य का मूल इसलिये मानते हैं कि विन्यास से 'कृत्रिमता' का आभास होता है। यदि आकाश में तारे किन्हीं डिज़ाइनों में विन्यस्त होते तो उसमें रूप का सौन्दर्य अवश्य अधिक हो जाता, किन्तु उसका स्वाभाविक वर्ण-सौन्दर्य कम हो जाता। हमारी बुद्धि विन्यास को समझ सकती है। इसलिये आकाश में विन्यस्त तारिकाओं के डिज़ाइन भी समझ में आजाने से हम इसके सौन्दर्य की 'थाह' पा जाते। इस समय तो बुद्धि आकाश में कोई विन्यास न पाकर मानो चकित हो जाती है, और, उधर हृदय नीलिमा में बिखरे हुए प्रकाश बिन्दुओं के स्वाभाविक आकर्षण से अक्षय मोद पाता है। आकाश के सौन्दर्य के इस विश्लेषण से सौन्दर्य-शास्त्र का एक सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। वह यह कि वस्तुओं में स्वाभाविक सौन्दर्य के

उत्कर्ष के लिये विन्यास का अभाव आवश्यक है जिससे बुद्धि चकित और हृदय हर्षित हो जाते हैं।

(३)

भोग्य पदार्थों के विन्यास से 'रूप' का आविर्भाव होता है। अनेक रेखा, बंकों और वर्णों के विशेष संयोजन से चित्र तथा अनेक ध्वनियों के विशेष संगठन से गीत उत्पन्न होता है। उन्हीं वर्णों अथवा ध्वनियों के विन्यास को बदलने से एक नवीन 'रूप' उत्पन्न हो सकता है। रूप के अध्ययन में हमें यह समझना आवश्यक है कि यह गुण भोग-पदार्थों में निहित होते हुए भी उनसे पृथक् है। भोग्य पदार्थ इसके 'अवयव' हैं और रूप 'अवयवी' है; वे भिन्न रह कर अपने गुणों की विशेषता रखते हैं, किन्तु रूप अभिन्न, अखण्ड और व्यापक होता है। 'रूप' यद्यपि अवयवों के संगठन से उत्पन्न होता है, तथापि यह स्वयं किसी अवयव में नहीं रहता और न अवयवों के केवल निरर्थक समूह में ही रहता है। रूप अनेकों की सार्थक एकता से उत्पन्न, व्यापक और अखण्ड गुण है जिसका बोध सौन्दर्य-चेतना के विकास-क्रम में पर्याप्त बौद्धिक जाग्रति के अनन्तर सम्भव होता है।

बालक अपने खेलने की वस्तुओं से अनेक प्रकार की रचना करता है; वह खिलौनों से व्यूह बनाता है; ईंटों को इकट्ठा करके कुछ योजना बनाता है। यद्यपि प्रौढ़ की दृष्टि में इसका विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता, तथापि बालकों के ये खेल सौन्दर्य-शास्त्र के लिये कुछ सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हैं : (१) मनुष्य में रचनात्मक प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसका विकास होने पर यह चित्र-कला, वास्तु-कला, स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला आदि की जननी होती है। इसी प्रवृत्ति से कारीगरी, शिल्प और भाँति-भाँति के कौशलों की भी उत्पत्ति होती है। (२) इस रचनात्मक प्रवृत्ति से 'रूप' उत्पन्न होता है। शिल्प और कौशल में 'रूप' के साथ 'उपयोगिता' का भी सम्मिश्रण रहता है; कला में 'रूप' स्वयं अपने प्रभाव से आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। इसलिये वह रूप सुन्दर कहलाता है। (३) रचनात्मक प्रवृत्ति से रूप का आविष्कार करना एक आनन्द-दायक मानसिक और शारीरिक क्रिया है, जिस

आनन्द के लिये बालक खिलौनों से व्यूह बनाता है, ध्वनियों को गुनगुना कर गीत गाता है तथा गायक, चित्रकार, मूर्तिकार आदि स्वरों, वर्णों और प्रस्तर-खण्डों को संगठित करके संगीत, चित्र और मूर्ति का निर्माण करते हैं। न केवल 'रूप' ही आनन्द का निधि होता है, रूप का आविष्कार करने वाली कल्पना, अन्य मानसिक क्रियाएँ तथा शरीर, स्नायु आदि की चेष्टाएँ भी अपूर्व आह्लाद को उत्पन्न करती हैं। (४) नवीन, अभूतपूर्व, आनन्द-वर्द्धक तथा सुन्दर 'रूप' का आविष्कार करने के लिये पर्याप्त मानसिक विकास और 'रूप' की रूपता को हृदयङ्गम कराने में समर्थ स्वाभाविक क्षमता की आवश्यकता होती है। इस स्वाभाविक क्षमता को हम 'कलात्मक प्रतिभा' अथवा 'सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभा' कहते हैं।

अब हम 'रूप' के संकुचित अर्थ को छोड़ कर इसके व्यापक अर्थ का निरूपण कर सकते हैं। संकुचित दृष्टि से तो केवल चक्षु के द्वारा ही रूप का निरूपण किया जाता है, किन्तु व्यापक अर्थ में 'रूप' का अर्थ विन्यास, संयोजन, संगठन, संघटना अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे 'अनेकों' में 'एकता' का बोध होता है। इससे ध्वनि में भी 'रूप' होता है जिससे संगीत का जन्म होता है। 'गति' में भी रूप होता है जिससे 'नृत्य' की अनुभूति उत्पन्न होती है। अनेकों क्रियाओं की समष्टि का नाम जीवन और विभिन्न अनुभवों की व्यवस्था का नाम विज्ञान है। इस दृष्टि से तो जीवन और विज्ञान भी 'रूप' बिना नहीं होते, और इसी से ज्ञान और जीवन दोनों में ही 'रूप', 'सौन्दर्य,' और, 'आनन्द' की पर्याप्त मात्रा रहती है। रूप-युक्त होने के कारण सत्य सुन्दर होता है। वस्तुतः जिसे सौन्दर्य की दृष्टि से 'रूप' अर्थात् 'अनेकों की एकता' कहते हैं, वही विज्ञान में 'सत्य' अर्थात् अनेक अनुभूतियों का सामञ्जस्य कहलाता है। अतएव सत्य और सुन्दर एक ही पदार्थ के विभिन्न दृष्टि-कोणों से दो नाम हैं।

यहाँ हमें स्मरण रहना चाहिए कि गन्ध, स्पर्श और रस आदि अनुभवों में संयोजन की असम्भावना के कारण 'रूप' भी सम्भव नहीं होता। अतः ये अनुभव दृश्य और श्रव्य रूपों के द्वारा केवल व्यञ्जित किये जाते हैं।

'रूप' तीन रूपों में हमें दृष्टिगत होता है। (१) *ज्यामितिक रूप*—रेखा—

सरल अथवा वक्र—ज्यामितिक रूप का सरलतम आकार है। सरल और वक्र रेखाओं से समानान्तर, त्रिभुज, चतुर्भुज, बहुभुज क्षेत्र तथा वृत्त, अर्द्धवृत्त, बंक, अण्डाकार आदि अनगिन आकारों का निर्माण होता है। सरल और कुटिल रेखाओं से निर्मित आकृतियों के संयोजन से रूप के नवीन और जटिल भेदों का आविष्कार होता है। भाँति-भाँति के डिज़ाइन ज्यामितिक रूप के भेद हैं। हमारे जीवन में यह रूप व्यापक है। भवनों, भित्तियों में, राज-मार्गों और नगरों में जहाँ कहीं निर्माण की समस्या है, वहीं ज्यामितिक रूप विद्यमान रहता है। रूप सम्बन्धी जिन चार सिद्धान्तों का हमने ऊपर उल्लेख किया है वे सब ज्यामितिक रूप में पूर्णरूपेण लागू होते हैं।

(२) रूप के दूसरे रूप को हम 'सजीव' कहेंगे। ज्यामितिक रूप में गति का बहुधा अभाव रहता है। उसमें स्थिरता रहती है और रहती है नियम और निश्चय की कठोरता। प्रत्येक ज्यामितिक आकृति गणित के सामान्य नियमों का पालन करती है। इस स्थिरता और कठोरता में निरन्तर परिवर्त्तनशील, गतिशील, 'जीवन' का टिकना असम्भव है। अतएव जब और जहाँ 'जीवन' में 'रूप' का आविर्भाव होता है, हम उसे सजीव रूप कहते हैं। ध्वनि स्वयं प्रवाह है, गति भी जीवन की भाँति ही धारामय है। इसलिये 'संगीत' और 'नृत्य' में जो रूप होता है वह सजीव रूप का उदाहरण है। मानव-शरीर, अथवा पशु-शरीर, वनस्पति, पेड़, पौधे आदि के शरीरों में हम जिस रूप का अनुभव करते हैं वह जीवन का रूप है जिसमें नियमों के शासन के साथ वृद्धि और परिवर्त्तन, शक्ति और विकास का भी प्रभाव विद्यमान रहता है।

(३) तीसरे रूप को हम प्रतीक कहते हैं। प्रतीक अपने रूप द्वारा अपने से भिन्न किसी सूक्ष्म अनुभूति को व्यक्त करता है। प्रतीक केवल किसी अव्यक्त अनुभूति का व्यक्त वाहन होता है, जैसे कमल निष्पाप सौन्दर्य का प्रतीक है, तथा अनेकों मुद्राएँ मानसिक भावों को व्यक्त करने के साधनमात्र हैं। प्रतीक वस्तुतः काल्पनिक चिह्न है, जैसे हम 'सिंह' अथवा 'हाथी' के रूपों से आत्म-विश्वास, शक्ति, जीवनोल्लास आदि को सूचित करते हैं। मीनार की ऊँचाई से जीवन की उच्चता, गुम्बद की गोलाई से अनुशासन की व्यापक शक्ति, चक्र

से संहारक शक्ति, जल की लहरों से जीवन की ऊर्वरता आदि का बोध होता है। इन सब दशाओं में प्रतीक के रूप से भी प्रतीति की महत्ता अधिक रहती है।

प्राकृतिक और कलात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य में रूप के ये तीनों भेद देखे जाते हैं।

(४)

रूप किन दशाओं में सुरूप और किन दशाओं में कुरूप हो जाता है?

यह निश्चित ही समझना चाहिए कि रूप में सुख के अनुभव से 'सुरूप' और सुख के अभाव से 'कुरूप' का आविर्भाव होता है। सुख और दुःख वस्तु के गुण नहीं, किन्तु अनुभविता आत्मा के गुण हैं। यदि 'अनेक' अवयवों को 'एक' अथवा 'समग्र' आकार में ग्रहण करने में आत्मा को कठिनाई का अनुभव होता है, अथवा, 'अनेक' पृथक् ही रहते हैं और वे एकता में गुम्फित ही नहीं हैं, अतएव उनमें एकता का अनुभव ही सम्भव नहीं, तो अनुभविता आत्मा स्वयं इस विभिन्नता और अनेकता में अस्त-व्यस्त हो उठती है। हम यहाँ यही कहेंगे कि वस्तुतः रूप सुखद होने के कारण सुरूप होता है, और, कुरूप वस्तु में रूप का अभाव रहता है। जिस प्रकार विस्तृत व्याख्यान में, लम्बे कथानक में, विशाल उद्यान में विविधता के होने पर एकता रहने के कारण ही वे समझ में आने योग्य और सराहने योग्य होते हैं और एक-सूत्रता के अभाव में उनसे बुद्धि को भारी आघात, भ्रम और श्रम-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार अनेक स्वरों में एकता अथवा संगीत के अभाव से, अनेकों रेखा और बंकों के इतस्ततः बिखरे हुए असम्बद्ध समुदायों में व्यवस्था के अभाव से हमारी सौन्दर्य-चेतना को आघात, भ्रम और श्रम का अनुभव होता है। हम इसी मानसिक श्रम का वस्तु पर आरोप करके उसे 'कुरूप' कहते हैं।

'सुरूप' में और भी कई गुण होते हैं। रूपगोस्वामी ने इन गुणों की व्याख्या इस प्रकार की है। यदि वे अवयव जिनके संगठन से 'रूप' का आविर्भाव होता है स्वयं भी, अलग अलग अपने भोग्य गुणों के कारण आस्वादन के योग्य हों, तो वह रूप 'मधुर' कहलाता है। यदि संगीत में प्रत्येक स्वर,

नृत्य में प्रत्येक अङ्गहार, चित्र में प्रत्येक वर्ण और रेखा, रूपवती के शरीर में प्रत्येक अंग स्वयं अपने गुण से आह्लाद उत्पन्न करते हैं तो इन अवयवों के सम्मिलन से उत्पन्न 'रूप' में माधुर्य गुण जाग्रत हो उठता है। रूप के आस्वादन में यद्यपि 'समग्र' रूपवान् पदार्थ का ही आस्वादन किया जाता है, तथापि हमारी सौन्दर्य-भावना प्रत्येक अवयव और खण्ड का अवगाहन करती है। वह प्रत्येक खण्ड के अवगाहन से कभी अखण्ड रूप की ओर, कभी अखण्ड रूप का आस्वादन करके खण्डों की ओर लौटती है। हमारे अवधान की यह पुनः-पुनः होने वाली आकर्षण-विकर्षण क्रिया स्वयं चित्त में चमत्कार उत्पन्न करती है। निश्चय ही यह चमत्कार मधुर होता है। किसी 'समग्र' में 'अवयवों' का यह चमत्कारी गुण 'माधुर्य' कहलाता है।

अवयवों से गुम्फित 'समग्र' में, प्रत्येक खण्ड विभिन्न होते हुए भी विरोधी नहीं होता अर्थात् कोई अवयव समग्र के विपरीत भावना को उत्पन्न नहीं करता। अवयवों के इस उचित और अविरोधी विन्यास को गोस्वामी ने 'सुन्दर' कहा है। भावना की एकता अथवा प्रभाव का समन्वित होना हमारी सौन्दर्य-भावना के लिये आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार जैसे अनुभव में सामञ्जस्य 'सत्य' के लिये आवश्यक है। सामञ्जस्य के अभाव से जिस प्रकार बुद्धि को आघात पहुँचाता है, उसी प्रकार समन्वित प्रभाव के उत्पन्न न होने से भावना पर भी आक्रमण होता है। अतएव रूपगोस्वामी अवयवों के उचित संस्थान से उत्पन्न, अविरोधी समन्वित प्रभाव को 'रूप' का प्राण मानते हैं।

सजीव रूप में यदि अवयव इस प्रकार गुम्फित हैं कि उनमें तरलता, जीवन का ओज और तरङ्ग की प्रतीति होती है तो हमें रूप में 'लावण्य' का अनुभव होता है। बहुधा हम सुन्दरी के शरीर में अवयवों की तरङ्गायमान योजना को लावण्य कहते हैं। यदि यही गति और ओज, तरङ्ग और तरलता, की अनुभूति हमें ज्यामितिक रूप में होती है तो इसे रूप का 'उदारता' गुण माना जाता है। लावण्य और उदारता ये रूप में 'जीवन' का अनुभव उत्पन्न कराने वाले गुण हैं। कवि श्री हर्ष दमयन्ती के रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि वह अपने 'उदार' गुणों के कारण धन्य है जिनसे नल भी स्वयं 'आकृष्ट'

हो गया है क्योंकि चन्द्रिका की इससे बढ़ कर महिमा क्या होगी कि इससे समुद्र भी स्वयं 'तरल' हो उठता है।* रूप में आकर्षण का मुख्य कारण यही लावण्य और उदारता नामक गुण होते हैं जिनसे हमें 'जीवन' का साक्षात् अनुभव होता है।

(५)

आधुनिक सौन्दर्य-विज्ञान रूप-गत गुणों को 'सापेक्षता' (Proportion), 'समता' (Symmetry), संगति (Harmony) और सन्तुलन (Balance) आदि से निर्दिष्ट करता है। यहाँ सापेक्षता का अर्थ है : रूप का वह गुण जिसमें प्रत्येक खण्ड दूसरे खण्ड से निरपेक्ष अथवा असम्बद्ध नहीं, किन्तु सम्बद्ध और सापेक्ष होता है। केवल अवयवों के समूह से 'रूप' उत्पन्न नहीं होता, जैसे ईंटों के ढेर से भवन अथवा फूलों के ढेर से माला नहीं बनती। 'योजना' के अनुसार खंडों का संयोजन रूप का उत्पादक होता है। योजना के द्वारा ये खण्ड इस प्रकार ग्रथित होते हैं कि प्रत्येक का उचित स्थान 'समग्र' में नियत होता है, प्रत्येक खण्ड दूसरे की अपेक्षा रख कर ही 'समग्र' के उत्पादन में भाग लेता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में प्रत्येक खण्ड केवल स्थिर, जड़, निष्क्रिय खण्ड ही नहीं होता, वरन् वह एक सजीव अङ्गी का अङ्ग, व्यापक, अखण्ड रूप में साथ भाग लेने वाला तथा समग्र का सक्रिय, गतिशील अवयव होता है। किसी मानव-शरीर, चित्र, संगीत आदि रूपवान् पदार्थ में अवयवों की परस्पर सापेक्षता अथवा साकांक्षता आवश्यक होती है।

सापेक्षता के लिये हम किसी बिन्दु विशेष को मूल-बिन्दु मानते हैं और दूसरे अङ्गों और खण्डों को इसी बिन्दु की अपेक्षा से नापते हैं। जैसे, किसी ज्यामितिक डिज़ाइन में हम किसी रेखा, वृत्त, बंक आदि को मूल मान कर उसकी अपेक्षा रखते हुए दूसरे आकारों का निर्माण करते हैं। निरपेक्ष रहने पर

---

*धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारै यया समाकृष्यत नैषधोऽपि । इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।

वह डिज़ाइन ही न बन सकेगा। 'समता' के लिये हम किसी रेखा को आधार मान कर उस रेखा के इधर-उधर अथवा चारों दिशाओं में चलते हैं और परस्पर सापेक्ष खण्डों को पुनरावृत्ति पाते हैं। मानव शरीर सापेक्षता और समता का उपयुक्त उदाहरण है। शरीर में, यदि वह रूपवान् है तो, प्रत्येक अवयव दूसरे की अपेक्षा रखता हुआ बड़ा, छोटा होना चाहिए। बहुत बड़े शरीर में छोटा सिर कितना विरूप प्रतीत होता है। सुन्दर शरीर में एक रेखा के दोनों ओर अवयवों की रचना इस प्रकार होती है, मानो एक ओर का भाग दूसरे की केवल पुनरावृत्ति या प्रतिरूप है। ऐसा शरीर 'सम' (Symmetrical) कहलाता है। संगीत में भी आरोह और अवरोह की गति, स्वरों का उत्थान और पतन, चित्र में रेखा, बंक, वर्ण आदि की गति और उतार-चढ़ाव, ज्यामितिक रूप में तो कहना ही क्या, जहाँ कहीं अवयव अपने अङ्गी के साथ और परस्पर किसी बिन्दु और रेखा को आधार मान कर बनाये जाते हैं, वहाँ 'सापेक्षता' और 'समता' गुणों से रूपमात्र सुरूप हो उठता है।

संगति का अर्थ विरोध का अभाव है। वस्तुतः संगति रूप का प्राण है और रूप के अन्य गुण इसी के अन्तर्गत रहते हैं। अनेकों की एकता को रूप कहते हैं, और, अनेकों में सामञ्जस्य और समन्वय संगति से उत्पन्न होते हैं। जहाँ हम रेखा आदि की अभिव्यञ्जक शक्ति का उल्लेख करेंगे, वहाँ हम संगति के स्वरूप की विशेष व्यख्या करेंगे। यहाँ हमें समझ लेना चाहिये कि रूप की भाँति ही संगति भी व्यापक तत्त्व है। काव्य, नाटक, उपन्यास, चित्र, नृत्य, संगीत तथा प्राकृतिक सुन्दर वस्तुओं में जहाँ रूप विद्यमान है वहाँ संगति भी विद्यमान रहती है। काव्य को ही लीजियेः किसी मुख्य, परिपक्व रस को केन्द्र मान कर, (जैसे कहीं शृङ्गार, कहीं करुण आदि,) कवि अन्य रसों, अलङ्कारों तथा गुणों से उसी का संवर्द्धन करता है। इससे काव्य में 'रूप' का आविर्भाव होता है जिसके कारण ही वह कलात्मक कहलाने योग्य होता है। रूप के अभाव में रस-परिपोष तो होगा ही नहीं, अन्य सभी काव्य के तत्त्व इतस्ततः बिखर जायेंगे। उनमें एक-सूत्रता केवल रूप से उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार चित्र आदि में भी अनेकों तत्त्वों की संगति से ही 'रूप' का उदय हो सकता है।

नाटक, आख्यान आदि में एक प्रमुख भावना 'बीज' से लेकर 'निर्वाह' तक कई भूमियों में से होकर जाती है। भावना के 'आरोह' में संकट (Crisis) उपस्थित होता है और तदुपरान्त वह एक चरम-बिन्दु (Climax) को स्पर्श करके उपराम (Denouement) को प्राप्त होती है। नाटक, नृत्य, उपन्यास आदि में भावना के इस आरोह-अवरोह में 'रूप' स्पष्ट झलकता है, जिसके बिना कोई कला-कृति बुद्धि को भ्रम में डाल सकती है, उसे आनन्दित नहीं कर सकती। यह रूप भी अनेक तत्त्वों की संगति से ही उत्पन्न होता है।

साधारणतः हमारी भावनाएँ आवेग के स्वरूप में अनुभव की जाती हैं। हम क्रोध, प्रेम, भय, शोक आदि आवेगों का अनुभव आँधी के झोंके की भाँति करते हैं जिसमें हमें दुःख ही प्रतीत होता है। कलाकार इन भावनाओं को अन्य तत्त्वों, जैसे कथानक, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण आदि के द्वारा 'रूप' प्रदान करता है। भावना रूप को पाकर कलात्मक आनन्द की जननी होती है। इसी भाँति शोक, भय, करुणा, घृणा आदि भावनाएँ भी सुखद प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार चित्र, मूर्ति, काव्य, नृत्यादि में भावना साकार, सजीव और सरूप हो उठती है। भावना के रूप में अनेकों अंगों का विन्यास, सहकारी भावनाओं का समावेश तथा अन्य तत्त्वों की योजना जिस नियम के अनुसार की जाती है, उसे हम 'सन्तुलन' कहते हैं। सन्तुलन के स्वरूप पर विचार करते हुए ह्वाइटहैड नामक दार्शनिक कहता है कि जब अनेकों तत्त्व किसी योजना में इस प्रकार संघटित हों कि एक दूसरे का विघात न करके वे परस्पर गौरव और प्रभाव की वृद्धि करें, एक स्वर दूसरे स्वर का, एक भावना, अलंकार, घटना, रंग, रेखा और कथन आदि दूसरे के प्रभाव की वृद्धि करें तो इससे एक सन्तुलित रूप का उदय होता है। रूप में अङ्गों के सन्तुलन से एक विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है और इसके अभाव में व्यस्तता एकाङ्गीपन तथा कुछ मानसिक हिंसा का अनुभव होता है। ध्वनिकार आनन्द-वर्द्धन के अनुसार, सन्तुलन का सार 'प्रधान-गुण-भाव' का सिद्धान्त है जिसके अनुसार रूप की योजना में भाग लेने वाला प्रत्येक अंग अपने अङ्गी अथवा प्रधान भावना के अधीन रह कर उसकी रक्षा और संवर्द्धन करता है। वह स्वाधीन, प्रबल अथवा विच्युत होकर अपने अंगी का

विरोध नहीं करता। मथुरा की किसी बुद्ध-मूर्ति को लीजिये। इसके प्रत्येक भाग, इसकी गोलाई, मोटाई और दूसरे परिमाण परस्पर सन्तुलित होकर, न अधिक न कम, एक किसी भावना का पोषण करते हैं। भवन, चित्र, मन्दिर, मूर्ति और काव्य, जहाँ सुरूप विद्यमान है वहाँ अवयवों का परस्पर सन्तुलन तथा अङ्गाङ्गिभाव अवश्य ही विद्यमान रहता है।

(६)

सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य-आस्वादन में 'भोग' और 'रूप' के महत्त्व को हम देख चुके हैं। इनका स्वयं एक 'स्वाद' है जिसे हम अपनी स्वाभाविक चेतना से ग्रहण करते हैं। किन्तु मनुष्य अपनी गम्भीर प्रकृति के कारण भोग और रूप को अपने गम्भीरतम और प्रियतम अनुभवों की अभिव्यक्ति का साधन बना लेता है। जिस प्रकार वस्तु और अनुभवों में 'रूप' का आविष्कार और सृजन करना हमारा स्वभाव है : न जाने क्यों अपने चारों ओर व्यवस्था के अभाव से चित्त भी अव्यवस्थित हो जाता है,—उसी प्रकार अभिव्यञ्जना भी स्वाभाविक प्रेरणा है। कुछ विचारकों के अनुसार तो जीवन, हमारा स्वयं शरीर, वनस्पति, पशु, तरल जल-स्रोत, गगन और गगनचारी चन्द्र,सूर्य और नक्षत्र, सारा दृश्य जगत् विराट् जीवन की अभिव्यञ्जना है, किसी दिव्य कामना का सदेह रूप है, ये सब किसी के संगीत के मधुर स्वर हैं। शब्द, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, रस, रूप आदि के द्वारा कोई अव्यक्त चेतना स्वयं व्यक्त होना चाहती है। इस दर्शन के अनुसार हम नृत्य, वाद्य, गीत, साहित्य, चित्र आदि में जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करने की व्यापक और स्वाभाविक प्रेरणा को समझ सकते हैं।

अदृश्य, अव्यक्त आध्यात्मिक अनुभूतियों को दृश्य रूपों द्वारा व्यक्त करना कला है। यदि अभिव्यक्ति सुरूप माध्यम द्वारा होती है, जैसे प्रेम, विरह, विकलता, भय आदि सुरूप नृत्य, काव्य, चित्र अथवा संगीत द्वारा, तो वह अभिव्यक्ति भी स्वयं सुन्दर हो उठती है। भय, शोक, करुणा, रौद्र आदि अनुभव स्वयं सुखद नहीं होते, किन्तु सुरूप अभिव्यक्ति के द्वारा ये 'रसों' के

उत्पादक हो जाते हैं। यहाँ हम 'क्या' अभिव्यक्त करते हैं, इस पर ध्यान न देकर 'कैसे' अभिव्यक्त करते हैं, इसी में रसास्वादन करते हैं। रूप के अतिरिक्त अभिव्यक्ति में नियम और स्वच्छन्दता का सामञ्जस्य आवश्यक होता है। नियम के अभाव में अभिव्यक्ति विरूप हो जायगी, जैसे प्रत्येक मधुर स्वर नियम के बन्धन बिना संगीत उत्पन्न नहीं करता। और, नियम की कठोरता में अभिव्यक्ति जड़ और मृतवत् हो जाती है। इतिहास के उन युगों में जिनमें नवीन 'रूपों' का सृजन नहीं हो सका तथा कलाकार ने नियम के आतंक को स्वीकार किया, उनमें कला की अभिव्यक्ति निर्बल, रूढ़िग्रस्त और नीरस हुई है। अभिव्यक्ति के लिये 'स्वच्छन्दता' उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार जीवन के लिये प्राण। कला में अभिव्यक्ति ही को सृजन कहा जाता है। कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा रूढ़ि और बन्धनों की अवहेलना करती है, किन्तु अभिव्यक्ति के लिये वह जिन नूतन रूपों और उपकरणों का आविष्कार करती है वे स्वयं नियम के शासन को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य है कि कलाकार की उत्पादक प्रतिभा स्वच्छन्द गति से बह कर स्वयं 'रूप,' 'सापेक्षा' 'संगति' और 'सन्तुलन' के नियमों का आविष्कार करती है। कलात्मक अभिव्यक्ति अ-रूप को रूप, स्वभावतः नियमहीन को नियम प्रदान करती है। इस दृष्टि से ताज-महल एक ऐसे रूप की अभिव्यक्ति है जिसमें अनेक स्वच्छन्दतः बिखरे हुए श्वेत शिला-खण्डों को कलाकार की कल्पना द्वारा नियमों के शासन में बाँधा गया है।

ओज, माधुर्य और प्रसाद—ये तीन अभिव्यक्ति के गुण हैं। इनमें परस्पर विरोध नहीं है, किन्तु अन्ततः ये विभिन्न मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखने के कारण सदैव एक ही अभिव्यक्ति में एक साथ नहीं पाये जाते। मानसिक जगत् में आन्दोलन अथवा विलोडन उत्पन्न कर देने वाली अभिव्यक्ति ओजस्विनी कहलाती है। वीर, रौद्र आदि रसों में 'ओज' का अनुभव किया जाता है। आकाश में बादलों की दौड़, जल-प्रपात, तरल स्रोत, वायु-वेग प्रकृति में 'ओज' की अनुभूति के उदाहरण हैं। कलाओं में भी मानसिक 'दीप्ति' उत्पन्न करने की शक्ति को 'ओज' कहा जाता है। माधुर्य का सम्बन्ध मन की सुखानुभूति से है, इन्द्रिय-सुख से नहीं, वरन् गम्भीर आध्यात्मिक सुखानुभूति से है। शृङ्गार रस के

अनुभव में—विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में—माधुर्य का अनुभव होता है। शृङ्गार और काम के अन्तर को हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस अनुभव में मृदुता, मार्मिकता, मनोज्ञता का सरस सम्मिश्रण रहता है, जैसे प्रकृति में उपवन, पुष्प-वाटिका, वसन्त और शरद आदि ऋतुओं की सुमन-सम्पदा आदि के निरीक्षण में हमें अनिर्वचनीय माधुर्य का अनुभव होता है। 'प्रसाद' के विषय में विचारकों का कथन है कि यह अभिव्यक्ति का व्यापक गुण है, क्योंकि इसके अभाव में जटिलता, दुरुहता और घृणा के भाव उत्पन्न होकर वस्तु के सौन्दर्य को नष्ट कर सकते हैं। जिस प्रकार ओज के अनुभव में चित्त की 'दीप्ति' और माधुर्य में चित्त की 'विद्रुति' अथवा पिघलना होता है, प्रसाद के विशिष्ट अनुभव से 'चित्त-विस्तार' का अनुभव होता है। हास्य-रस की कला में, विस्तृत हरियाले मैदानों में; खेतों में बिखरी हुई सस्य-सम्पदा, क्षितिज तक फैले हुए जल-विस्तार आदि के अनुभव में प्रसाद का 'चित्त-विस्तार' रूप अस्वादन मिलता है।

(७)

अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना अभिव्यक्ति है। इसके विषय में तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं: (१) अमूर्त्त को मूर्त्त करना कैसे सम्भव होता है? (२) इसके लिये प्रेरणा कहाँ से मिलती है? (३) हम किन अमूर्त्त अनुभूतियों को मूर्त्त करना चाहते हैं?

(१) हम मूर्त्त करने के लिये किसी भौतिक पदार्थ को माध्यम बनाते हैं। सबसे उत्तम माध्यम वही हो सकता है जो हमारी अनुभूति को सबसे अधिक ग्रहण कर सके, जिसमें हमारी आत्मा का सबसे स्पष्ट प्रतिबिम्ब उतर सके, जिसमें सर्वाधिक 'लोच' हो। हीगेल नामक जर्मन दार्शनिक के अनुसार 'शब्द' हमारी आत्मा के सबसे निकट है। अतएव साहित्य में 'शब्दों' के माध्मम द्वारा हमारा आध्यात्मिक जगत् सबसे अधिक अङ्कित किया जा सकता है। शब्द के अनन्तर 'ध्वनि' में 'लोच' और आध्यात्मिकता है; इसलिये संगीत हमारी अनुभूतियों को मूर्त्त रूप दे सकता है। नृत्य, वाद्य आदि में भी सीधी प्रकार से आत्मा को

समूर्त्त बनाने की शक्ति है। इनके अनन्तर रेखा, रंग, घन आदि में उत्तरोत्तर लोच और आध्यात्मिक घटनाओं को ग्रहण करने की शक्ति कम होती है। इसलिये इन माध्यमों द्वारा चित्र, मूर्ति और वास्तु कला में केवल प्रतीकों द्वारा ही आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना सम्भव होती है। आध्यात्मिक अनुभूतियों के बाह्य चिह्न, जैसे उदारता के लिये विशेष हस्त-मुद्रा, बल के लिये वृषभ, हाथी आदि, हीगेल के अनुसार 'प्रतीक' कहलाते हैं। शब्द, ध्वनि तथा प्रतीकों के माध्यम द्वारा अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना सम्भव होता है।

(२) अभिव्यञ्जना के लिये प्रेरणा के दो केन्द्र मानव-इतिहास में रहे हैं। एक तो अन्तर्जगत् की घटनाएँ, जैसे, उल्लास, उत्साह, आत्म-विजय, गौरव, समर्पण, प्रेम, क्रोध आदि—साधारण जीवन के अनुभव नहीं जिनके लिये हमें दैनिक जीवन में ही तृप्ति के साधन मिल जाते हैं—वरन् ऐसे गम्भीर अनुभव जिनमें वेदना की इतनी तीव्रता रहती है कि इनकी पूर्त्ति साधारणतया सम्भव ही नहीं—ये अनुभव मनुष्य को अभिव्यक्ति के लिये प्रेरित करते हैं। कला, विज्ञान, साहित्य, यहाँ तक कि धर्म, नीति और दार्शनिक सिद्धान्तों का आविष्कार इन्हीं अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना के लिये होता है। प्रेरणा का दूसरा केन्द्र बाह्य जगत् का सौन्दर्य ही है। संसार में पर्याप्त रंग, रूप, ध्वनि हैं जिसके चित्रण के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति 'अनुकरण' के रूप में विद्यमान है। बाह्य जगत् के चित्रण और अन्तर्जगत् के प्रतिबिम्बन के लिये हमें निरन्तर स्वाभाविक प्रेरणा मिलती है।

(३) हम अपने विचारों को मूर्त्त रूप देने के लिये विज्ञानों की रचना करते हैं। धार्मिक, नैतिक, सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिये धर्म और धर्म के प्रतीक, नैतिक व्यवस्था और सामाजिक संस्थाओं को जन्म देते हैं। इसी प्रकार व्यवहार के लिये अनेक उपयोगी वस्तुओं, वस्त्रों आदि का निर्माण करते हैं। वस्तुतः हमारी सम्पूर्ण संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और कला अनुभूतियों की ही विभिन्न अभिव्यञ्जनाएँ हैं। हम उन अभिव्यञ्जनाओं को 'सुन्दर' कहते हैं जिनसे हमें 'आनन्द' का लाभ होता है, तथा जिनसे हमारा भावना-जीवन समृद्ध और पुष्ट होता है। सुन्दर अभिव्यञ्जनाओं का लक्ष्य 'आनन्द'

की सिद्धि करना है यद्यपि यह आनन्द अन्य भावनाओं के साथ मिश्रित भी रहता है, जैसे 'मन्दिर' के सौन्दर्य में धार्मिक भावना के साथ आनन्द का पुट रहता है। जहाँ कहीं हमें मूर्त्त भावना दिखाई पड़ती है, वहीं हमें सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

(८)

सुन्दर वस्तु के विश्लेषण से हमें तीन तत्त्व मिलते हैं जिन्हें हमने भोग, रूप और अभिव्यक्ति कहा है। ये तत्त्व विकास-क्रम में उत्तरोत्तर स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ भोग की उच्चता रहती है, वहाँ रूप और अभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं रहते, जैसे आकाश, वन, समुद्र, पर्वत आदि के सौन्दर्य में। वनस्पति जगत् में, विशेषतः पुष्पों के लोक में, प्रकृति रूप और भोग दोनों का समावेश करती है। इससे आगे पशु-जगत्, विशेषतः मानव-लोक में, भोग, रूप और चेतन-जीवन की अभिव्यक्ति रहती है। मानव-सौन्दर्य में इन तीनों तत्त्वों का अतीव स्वाभाविक सम्मिलन है। शिशु, युवा और युवती के शरीर में भोग और रूप की पराकाष्ठा के साथ चेतन-जीवन के चिह्न—आकांक्षा, अदम्य उत्साह, हार्दिक उल्लास—स्पष्ट रहते हैं। वृद्ध होते होते यद्यपि भोग और रूप तत्त्व इतने स्पष्ट नहीं रहते, तथापि उसमें अभिव्यक्ति की गम्भीरता, उदारता और आध्यात्मिकता इतनी प्रबल हो उठती हैं कि 'वृद्ध का सौन्दर्य' 'युवक के सौन्दर्य' से भी उदात्त और हृदय-हारी हो जाता है। सौन्दर्य की दृष्टि से एक तत्त्व की प्रकृष्ट अनुभूति के लिये अन्य तत्त्वों का अस्पष्ट हो जाना आवश्यक होता है। किन्तु तीनों तत्त्वों का एकत्र सम्मिलन, इनका समन्वय और उत्कृष्ट अनुभव विरले ही सम्भव होता है। हम ऐसे सौन्दर्य को लोकोत्तर अथवा दिव्य कह सकते हैं।

सौन्दर्य और आनन्द

यदि हम 'सुन्दर' वस्तु के पार्थिव शरीर पर ध्यान दें तो विश्लेषण के द्वारा उसमें भोग, रूप और अभिव्यक्ति इन तीन तत्त्वों को पाते हैं। किन्तु सौन्दर्य का सम्पूर्ण रहस्य उसके पार्थिव रूप में नहीं है : सुन्दर वस्तु का एक अध्यात्म रूप भी है अर्थात् वह रसिक के हृदय में एक विशेष अनुभूति का आविर्भाव करती है और कलाकार की एक विशेष अनुभूति से स्वयं उत्पन्न होती है। आनन्द इस अनुभूति का प्राण है। सौन्दर्य के सम्पूर्ण अनुभव में सुन्दर वस्तु का *पार्थिव रूप* और इसका आनन्दमय *आध्यात्मिक रूप* इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि इनके वियुक्त करने से ये दोनों ही विलीन हो जाते हैं। कोई वस्तु स्वतः सुन्दर नहीं होती जब तक आनन्द का अनुभव नहीं है, और, आनन्द का स्वतः वस्तु बिना अनुभव सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता। सौन्दर्यानुभूति में पार्थिव रूप और अध्यात्म रूप का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक यदि चेतन आत्मा है तो दूसरा उसका रूपवान्, व्यक्त शरीर है, एक यदि पुष्प है तो दूसरा उसका आह्लादमय सौरभ है; एक यदि स्रोत है तो दूसरा उसका वेग है, एक यदि अग्नि है तो दूसरा उसकी दाहकता है। सुन्दर वस्तु मूर्तिमती अनुभूति है, और, अनुभूति स्वयं वस्तु के सौन्दर्य से स्वरूप पाती है।

हम जीवन में भोग और भाग्य के निरन्तर द्वन्द्व को देखते हैं। जीवन स्वयं एक अनन्त कामना है, किन्तु भाग्य का विधान इसकी तृप्ति के लिये कब अवसर देता है? इस सनातन संघर्ष से शोक का आविर्भाव होता है। कुछ क्षण के लिये मनुष्य इससे दूर होकर मोद भी मनाता है : स्त्री-पुरुष का प्रेम आनन्द का अक्षय निधि है। पुत्र तथा कन्या के प्रति वात्सल्य, इसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति, मैत्री आदि अनेक भाव हैं जिनसे मनुष्य अपना चित्त-रञ्जन करता है। संघर्ष को भूल कर कभी वह चन्द्रमा, रात्रि, उषा, आकाश, पर्वत, स्रोत, मैदान आदि

प्राकृतिक पदार्थों से आनन्द पाता है। कभी विराग से संघर्ष का शोधन करता है; इससे शान्ति, क्षमा, दया, धैर्य और धर्म के भाव जन्म लेते हैं। संक्षेप में, मानव-जीवन में शोक से लेकर शान्ति तक, क्षोभ से लेकर धैर्य तक, और आसक्ति से लेकर विराग तक, अनेक-विध भाव हैं जिनके अभाव से जीवन का अस्तित्व ही न रहेगा। मनुष्य के पार्थिव अस्तित्व से अधिक उसके आध्यात्मिक जीवन का महत्त्व है। इन भावों का मूर्तरूप ही वह सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् को पाता है, अथवा, भावों की आन्तरिक प्रेरणा से वह विश्व को भावमय बना लेता है। भावों में एक स्वाभाविक ऊर्वरता और मूर्त्त होने की प्रवृत्ति भी है। इस प्रवृत्ति से कला द्वारा ये भाव पार्थिव रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस भी प्रकार से हो, अपने भावों, अनुभूतियों और कल्पनाओं का मूर्त्तरूप प्रकृति को पाकर अथवा बनाकर ही वह जीवित रहता है। भावों का मूर्त्तरूप ही सौन्दर्य है। अतः मनुष्य सौन्दर्य से जीवित रहता है।

वाल्मीकि के शोक का मूर्त्तरूप रामायण है। रामायण छन्दोमयी मूर्ति है। शब्द इसका पार्थिव रूप है, शोक इसकी आत्मा है। तुलसी की भक्ति-भावना का शब्द-घटित पार्थिव रूप उनका रामचरित मानस है। फ़िरदौसी का 'शाहनामा' जीवन में नियति की विडम्बना का प्रत्यक्ष दर्शन है। मिल्टन ने जीवन की मूल प्रेरणा का अनुभव किया था, सृष्टि के मूलोद्गम को देखा था। 'पैरेडाइज़ लास्ट' में आदम और हौवा की कथा उसी अनुभव की छन्दोबद्ध मूर्ति है। आकाश विराट् पुरुष के आनन्द का छलकता प्याला है। भारतवर्ष के मन्दिरों में रक्खी हुई सहस्रों मूर्तियाँ, बौद्ध, जैन मूर्तियाँ, क्राइस्ट की मूर्तियाँ तथा अनेकानेक मूर्ति-कला, चित्र-कला, स्थापत्य कला के सहस्रशः नमूने, कवियों और कलाकारों के ऊर्वर भावों की सुरूप सम्पन्न पार्थिव अभिव्यक्तियाँ हैं। वस्तु भाव को शरीर प्रदान करती है और भाव वस्तु को सौन्दर्य प्रदान करता है। भाव के अभाव में वस्तु सुन्दर नहीं होती, और, वस्तु के अभाव से सौन्दर्य निष्प्राण, अ-शरीर रहता है। भाव में शरीर धारण करने की प्रवृत्ति है। सौन्दर्य शरीरधारी भाव है। अभिनवगुप्त ने इस प्रवृत्ति को 'शरीरीकरण' कहा है। यही पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की मूर्त्तकरण (Objectification) की प्रक्रिया है।

आनन्द का 'शरीरीकरण' अथवा 'शरीरतापादन' ही सौन्दर्य है। हम सौन्दर्यानुभूति में 'आनन्द' और 'शरीर' दोनों पर ही बल देते हैं। हम सौन्दर्य के शरीर और उसके रूप और गुणों का अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ सौन्दर्य की आत्मा अथवा सुन्दर वस्तु के आध्यात्मिक स्वरूप अर्थात् 'आनन्द' के स्वरूप निश्चय करना है। यह आनन्द सत्य के अनुभव से उत्पन्न 'प्रसन्नता' तथा प्रवृत्तियों की पूर्त्ति से प्राप्त 'तृप्ति' से भिन्न है। बिना तृप्ति के भी सौन्दर्यानुभूति में आनन्द की मात्रा रहती है, बिना बौद्धिक प्रसन्नता तथा ज्ञानालोक के भी उसमें जीवन का परम आह्लाद रहता है : यह हम पहले कह चुके हैं। यहाँ इसी को स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे : वस्तुतः आनन्द का स्वरूप आस्वादन है।

किसी मौलिक भ्रम के कारण हम मिठाई के आनन्द को उसके आस्वादन से भिन्न मानते हैं। वस्तुतः मिठाई में आनन्द कोई पदार्थ नहीं है जिसकी सत्ता उसके आस्वादन से पृथक् हो। इसी प्रकार ध्वनि का माधुर्य उसके 'श्रवण' से भिन्न नहीं हो सकता; वस्तु की मृदुता और कोमलता का सुख उसके स्पर्श की क्रिया के अतिरिक्त नहीं है। रस वस्तुतः रसास्वादन का दूसरा नाम है। सौन्दर्य में हम जिस आनन्द का अनुभव करते हैं वह आनन्द हमारे मन की 'आस्वादन' क्रिया का नाम है। आस्वादन समाप्त होने पर आनन्द भी समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार 'अर्थ' वस्तुतः समझने की क्रिया का नाम है, केवल अर्थ के पार्थिव शरीर अर्थात् शब्द का नाम नहीं है, इसी प्रकार सौन्दर्य वस्तु का ही गुण नहीं है, किन्तु रसिक की आत्मा में जाग्रत आस्वादन क्रिया का नाम है। संसार की भोग्य वस्तुओं के आनन्द को हम उन वस्तुओं में निहित गुण मानते हैं। उसी प्रकार सौन्दर्य में आनन्द को भी हम सुन्दर वस्तु का गुण मानकर उसे सुन्दर कहते हैं। इसी भ्रम को याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी को उपदेश देते हुए स्पष्ट किया था कि वस्तुतः प्रियता पुत्र, पत्नी, धन आदि में नहीं है, वह तो आत्मा में ही है।* सौन्दर्य-शास्त्र भी इस 'माया' को जो हमारे सांसारिक जीवन का आधार है, किन्तु जो परमार्थतः भ्रम है, दर्शन की भाँति ही भ्रम मानता है, और, यद्यपि

---

* बृहदारण्यक उपनिषद्

इसे रसानुभूति का आधार मानता है, तथापि रस को रस-चर्वणास्वरूप आत्मा की क्रिया ही जानता है।

विचारकों ने 'आनन्द' का निरूपण भी आस्वादन-क्रिया के मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक निरूपण द्वारा किया है। प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न दृष्टि-कोणों से इसी आस्वादन-क्रिया का निरूपण है।

(२)

पाश्चात्य मनोविज्ञान में वुन्ट तथा उसके सहयोगियों ने मन की एक साधारण प्रवृत्ति का आविष्कार किया है। वह प्रवृत्ति है कि किसी वस्तु या क्रिया का साक्षात् करने वाला व्यक्ति उस वस्तु अथवा क्रिया के गुणों में तद्रूप हो जाता है। इस तद्रूप (Merger) होने की प्रवृत्ति के कारण बालक पतंग को ही केवल नहीं उड़ाता, वरन् वह स्वयं—उसका सम्पूर्ण भावना-जीवन—उसके साथ उड़ता है। यही उसके आह्लाद का कारण भी है। हमारी बुद्धि के लिये पतंग का उड़ना एक मामूली बात है, किन्तु बच्चे की सारी भावना उस पर केन्द्रित हो जाती है, उसकी चंचलता के साथ चंचल, उसके उठने और गिरने के साथ उठती और गिरती, पतंगों के पेच के समय उसी के साथ संघर्ष करती हुई प्रतीत होती है। आकाश में इसका स्वच्छन्द गति से तैरना ही स्वयं उसकी भावना को मानों आन्दोलित कर देता है। बालक अपनी सम्पूर्ण भावना-शक्ति द्वारा उस वस्तु के तद्रूप होकर उसका आस्वादन करता है। भावना की यह तद्रूपता प्रवृत्ति जो आस्वादन का आधार है, वुन्ट के शब्दों में Einfiihlung कहलाती है। अंग्रेज़ी में टिचनर ने इसका अनुवाद Infeeling अथवा Empathy किया है। हम इसे 'अन्तर्भावना' कहेंगे।

किसी विशाल सरोवर में जल-तरङ्गों को देखिए—सन्ध्या के समय, दुनिया के धन्धों से थोड़ा निश्चिन्त होकर केवल विनोद की इच्छा से। बिना जाने ही आप स्वयं आत्म-विस्मृत से हो जायेंगे। यह निद्रा अथवा मूर्च्छा की अवस्था नहीं है; वरन् यह अवस्था है जिसमें हमारा सम्पूर्ण भावना-जीवन तरङ्ग-मय हो गया है। अब भावनाओं का केन्द्र शरीर से हट कर तरङ्गों के जीवन में

तन्मय हो गया है; उन्हीं के साथ उठता, गिरता, लहराता, हँसता और विलीन हो जाता है। जल में से फिर-फिर कर तरङ्गों का उदय और उसी में विलय हो जाना—सृष्टि और प्रलय का प्रत्यक्ष नाटक—वस्तुतः हृदय-हारी दृश्य होता है। मन अथवा हृदय का अपहरण करने वाली वस्तु को हम ठीक ही 'मनोहर' कहते हैं। सान्ध्य सरोवर का यह तरङ्गित रूप मनोहर है। इसमें दर्शक को तल्लीन करने की योग्यता है। प्रेक्षक 'अन्तर्भावनात्मक' प्रवृत्ति के कारण ही इस की मनोहरता को हृदयङ्गम करता है।

(३)

एक दूसरे दृष्टि-कोण से, हृदय सरोवर की तरङ्गों तक नहीं जाता, तरङ्गायमान सरोवर स्वयं हृदय में प्रवेश करता है। हृदय सरोवर बनकर लहराता है; इसमें सरोवर की विशालता आ जाती है; लहरों की चंचलता, उनके उत्थान और पतन का विलास, पवन की अठखेलियाँ, अस्तोन्मुख सूर्य का अरुण-राग, और, थोड़ी देर पश्चात्, उसमें तारिकाओं की झिलमिलाहट, इत्यादि सभी सरोवर के व्यापार हृदय में होने लगते हैं। इसके साथ, अनेक पूर्व के अनुभव, सुख और दुःख की स्मृतियाँ, हृदय की विस्मृत पीड़ाएँ और भविष्य की मधुर कल्पनाएँ सब जाग्रत हो जाती हैं। सरोवर के देखने में हम जिसे 'सौन्दर्य का आनन्द' कहते हैं, वह अपनी आत्मा में ही सञ्चारित अनेक नवीन क्रियाओं और स्पन्दनों की अनुभूति है। यह आध्यात्मिक-स्पन्द (Self-activity) जितना अधिक व्यापक, अपूर्व और अनुकूल होता है, उतना ही हम अधिक आनन्द का अनुभव करते हैं। इस आन्तरिक स्पन्दन के साथ हमारा सम्पूर्ण शरीर भी स्पन्दित हो जाता है। श्वास की गति सम होने से विस्मृत हो जाती है; पलकों का उन्मेष-निमेष नियमित हो जाता है। इससे बोध होता है कि हृदय की गति में एक विशेष सन्तुलन उत्पन्न हो जाता है जिससे सम्पूर्ण स्नायु-मण्डल, रुधिर-चक्र तथा शरीरान्तवर्ती सम्पूर्ण जीवन-क्रियाएँ अपूर्व विश्राम लाभ करती हैं। सौन्दर्यास्वादन में शरीर और मन की यह व्यापक क्रिया इसका सार है जिसके कारण हम आत्म-विस्मृति में भी सुख का अनुभव करते हैं। वर्नोन ली

नामक अँग्रेज़ लेखक इस क्रिया को 'आत्मा का नाटक' (Drama of the soul-molecules) कहता है।

सौन्दर्यास्वादन का रहस्य हमारे मन और शरीर में आध्यात्मिक स्पन्दन और हृदय की सन्तुलित गति हैं। मन और शरीर की गति एवं स्पन्दन में सामञ्जस्य रहता है। इससे हमारे सम्पूर्ण जीवन की धारा साधारण से भिन्न होकर बहती है। साधारणतया हमारा जीवन कुछ जड़ और स्तब्ध-सा रहता है। प्राण-क्रिया के अतिरिक्त कभी-कभी जीवन के कोई चिह्न नहीं दिखाई देते। सौन्दर्यास्वादन के काल में यह जड़ता टूटती है और इसमें सुप्त भावनाओं के जगने से 'गति' उत्पन्न होती है। हमारे आवेगों में भी गति रहती है। क्रोध, भय, प्रेम आदि की दैनिक अनुभूति में मन और शरीर की क्रियाएँ तीव्र हो उठती हैं। किन्तु आवेग की तीव्रता में चंचलता और क्षोभ रहता है। सरोवर की कल्लोल-क्रीड़ा को देखने से जो शरीर और मन में भावना और जीवन की नवीन धाराएँ फूट उठती हैं, वे आवेग की चंचलता से भिन्न हैं। उस समय जीवन में वस्तुतः 'गति' रहती है।

इस समय भावना-जीवन की गति में 'संगति' का भी उदय होता है। क्षोभ की अवस्था में जो जीवन का सन्तोल नष्ट हो जाता है, रसास्वादन के समय वह पुनः उदित हो जाता है। जीवन के अनेक अनुभव, भाव के अनेक प्रवाह, स्मृति और कल्पना के कई नवीन स्रोत, सब इस समय सौन्दर्यानुभूति की धारा में सम्मिलित रहते हैं। इनमें परस्पर विरोध का अभाव तो हो ही जाता है, क्योंकि विरोध से क्षोभ और क्षोभ से आनन्द के अनुभव में ह्रास होता है, साथ ही, ये एक दूसरे के प्रभाव की वृद्धि करते हैं। इनके मेल से स्वरों की संगति से उत्पन्न संगीत की भाँति गम्भीर 'जीवन-संगीत' का उदय होता है। सौन्दर्यास्वादन में जीवन की संगीत सी संगतियुक्त गति इसकी विशेषता है।

न केवल संगति ही, रसास्वादन में 'प्रगति' का भी अनुभव होता है। कामना के नवीन दीपक जल उठने से जीवन के सुदूर कोनें विस्फारित हो जाते हैं। विस्तृत जल-राशि में लहरों के उत्थान-पतन की क्रीड़ा देख कर, जीवन-सम्बन्धी अनेक रहस्य जिन्हें तर्क और युक्तियाँ स्पष्ट नहीं कर पातीं, वे सब स्वयं

ही आनन्द की आभा से चमक उठते हैं। रसिकों का अनुभव है कि संगीत की स्वर-लहरी अनेक गूढ़ तत्त्वों को इतना विशद बना देती है जितना पंडितों की व्याख्या नहीं। मानस में अभूतपूर्व रसों का संचार हो जाता है, नवीन क्षितिजों से मोद के अनेक सुरभित झोंके बहने लगते हैं। दिगन्तरालों से नवीन आलोक की ज्योति फूट उठती है। हमें स्वयं ही अपना जीवन आगे बढ़ता और ऊँचे उठता हुआ प्रतीत होता है। लोल लहरों की तरलता स्वयं जीवन में उतर आती है; उनका विलास-हास, उनकी स्वच्छन्द लीला, लीला में ही जलराशि में अन्तर्धान हो जाना और फिर हँसते-हँसते उदय हो जाना, सान्ध्य-राग में रँग जाना, पवन के साथ सिहर उठना, दौड़ना, मिट जाना, और, फिर तारों की आभा में झिलमिला उठना, ये सब क्रियाएँ हृदय में उतर आती हैं, और नूतन शक्तियों को जगाती हैं, कल्पना में प्राण भरती हैं, कामना में नवीन सिहरन उत्पन्न करती हैं, नेत्रों में नवीन ज्योति लाती हैं। इसे हम सौन्दर्य-शास्त्र में 'प्रगति' कहेंगे।

रस के आस्वादन में जीवन में 'गति', 'संगति' और 'प्रगति' का उदय इस अनुभव का प्राण है।

(४)

हमने सुन्दर वस्तु में भोग, रूप और अभिव्यक्ति नामक तत्त्वों का उल्लेख किया है। हमारी आनन्दानुभूति यद्यपि सुन्दर वस्तु के पार्थिव शरीर का तो भाग नहीं, तथापि वह 'सम्पूर्ण सौन्दर्य' का आवश्यक अंग है। सच पूछा जाये तो 'आनन्द' ही 'रूप' आदि को 'सौन्दर्य' प्रदान करता है। हम रूप, भोग आदि का निरूपण वस्तु के साधारण वर्णन से कर सकते हैं, किन्तु उसके सौन्दर्य का निश्चय केवल वस्तु की नाप, तोल करके, उसके अवयवों और परिमाणों का पता लगाने से नहीं कर सकते। केवल स्वरों की स्पन्दन-गति से यदि संगीत का सम्पूर्ण रहस्य मालूम हो जाता तो इस गति को नापने वाला गणित हमारे लिये पर्याप्त होता। फलतः सुन्दर वस्तु का माप करने वाला गणित शास्त्र ही हमारे लिये सौन्दर्य-शास्त्र होता। यदि रंग, रेखा, स्वर, अंक आदि का गणित

चित्र, संगीत, मूर्ति, काव्य आदि के सौन्दर्य को हमें समझाने में असमर्थ रहता है तो इसका कारण यह है कि सौन्दर्य—आनन्दात्मा होने के कारण—वस्तु के पार्थिव शरीर से 'व्यतिशय' तत्त्व है। सौन्दर्य वस्तुगत 'व्यापक' गुण प्रतीत होने पर भी इससे अतिरिक्त अध्यात्म तत्त्व है। उपनिषद् की भाषा में 'वह वस्तु में भी है, वस्तु से बाहर भी है; वह स्वयं नहीं चलता, परन्तु मन में संगीत की गति उत्पन्न करता है, वह रूपवान् होकर भी अरूप है; मूर्त्त होते हुए भी अमूर्त्त रहता है* ।' सौन्दर्य का यह स्वभाव अनन्त चेतन-शक्ति की भाँति है। इस स्वभाव में *'व्यापकता'* और *'व्यतिशयता'* दोनों ही विरोधी गुण विद्यमान हैं।

'व्यतिशयता' (Transcendence) सुन्दर वस्तु को असुन्दर से पृथक करती है। इसके स्वरूप को समझने के लिये भारतीय दर्शनकारों ने 'वाक्' को सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रतिनिधि माना है। वाक् अथवा वाणी का स्वरूप शब्दमय है, किन्तु इतने में ही इसका पर्यवसान नहीं हो जाता। उसका आत्मा अर्थ है जो आध्यात्मिक होने के कारण 'व्यतिशय' तत्त्व है। अर्थ के उदय होने से जिस प्रकाश, आनन्द और गति का अनुभव होता है, उसके लिये प्रेक्षक के हृदय में प्रेमी की सरसता और विकलता होनी चाहिए। नीरस और अप्रतिभ मनुष्य को वाक् का यह व्यतिशय, लोकोत्तर रूप नहीं झलकता। "ऐसा मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता, वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनता; वह तो सुन्दर वसनों से सज्जित-कामाकुल सुन्दरी की भाँति अपने (अध्यात्म) शरीर को (सरस और प्रेम से विह्वल) पति के लिये ही उघाड़ती है"

[उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ऋग्वेद १०।७१।४]

सौन्दर्य के इस व्यतिशय तत्त्व को भारतीय दर्शन में 'रस' कहा है और स्पष्ट शब्दों में इसे आत्मा और आनन्द का समानार्थक मान लिया है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में वेदों और उपनिषदों में प्रयुक्त इसी 'रस' को साधारण मनोविज्ञान की भाषा में समझाया है और अध्यात्म शास्त्र के दार्शनिक दृष्टि-कोण

---

* ईशोपनिषद्

के स्थान पर रस के स्वभाव को समझने के लिये वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया है। यह दृष्टिकोण संक्षेप में इस प्रकार है :

भरत के अनुसार हम किसी भी सुख अथवा दुःख का अर्थ केवल अपने मन की स्वाभाविक और सहज प्रवृत्तियों के सम्बन्ध से ही समझ सकते हैं। जिस विशेष अनुभव को हम 'रस' कहते हैं उसका हमारे मानवीय जीवन से निकटतम सम्बन्ध है, और जीवन का वह भाग जिससे 'रस' का सम्बन्ध है वह हमारी कामनाएँ, वासनाएँ अथवा पशु-प्रवृत्तियाँ हैं जो हमारे मन में नित्य अनुस्यूत रहती हैं। रसास्वादन की क्षमता का मूल ये हमारे जीवन में अनेकों क्रियाओं और प्रेरणाओं को उत्पन्न करती हैं। भरत इन्हें बहुत ही उचित 'स्थायी भाव' नाम देता है। ये स्थायी भाव 'काम' दया, वीरता, भय आदि हैं, जिनसे एक ओर जीवन में सम्पूर्ण व्यवहार, भावना, राग और प्रेरणा आदि उदय होते हैं, और दूसरी ओर, विशेष परिस्थितियों के वश, 'रस' नामक अनुभव उत्पन्न होता है। प्रेरणा और रस दोनों का मूल-स्रोत एक ही अर्थात् स्थायी भाव हैं। दोनों में तुलना का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि काम-सुख और काम-वासना से उत्पन्न शृङ्गार रस मूलतः एक होने पर भी परिस्थितियों के भिन्न होने से भिन्न हैं। अन्तर इतना है—और यह अन्तर अत्यन्त महत्त्व का है—कि रस में प्रेरणा का सर्वथा अभाव रहता है। सिंह को देख कर भयभीत मनुष्य में दौड़ने की प्रेरणा होती है; शत्रु की ललकार सुन कर वीरता के उदय से वीर हाथ में तलवार संभालता है; कामिनी के लावण्य से मुग्ध नायक के हृदय में काम का आवेग उत्पन्न होता है। किन्तु चित्र में सिंह को देखकर भागने की प्रवृत्ति, महाभारत अथवा आल्हा को सुनकर शत्रु को ताड़ने की प्रवृत्ति अथवा साँची के द्वारों पर यक्षिणी की मूर्तियों को देख कर काम-प्रवृत्ति का आविर्भाव नहीं होता। इन विशेष अवस्थाओं में हमें केवल 'भयानक', 'वीर' और 'शृङ्गार' रसों का ही अनुभव होता है। यदि अनुभव के आवेग से कदाचित् इन प्रवृत्तियों का उदय हो जाये, जैसे कभी-कभी नाटक आदि को देखते समय, अथवा, वीर अथवा शृङ्गार के संगीत आदि के सुनते समय होता है तो उस अवस्था में रसानुभूति में क्षणिक बाधा उपस्थित होती है। कुशल रसिक इस सीमा तक अपने रसास्वादन

को नहीं पहुँचने देता। प्रवृत्ति के उदय से पूर्व तक वह अपने आपको मानो, अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण, दृश्य और श्रव्य रूप के हवाले कर देता है।

भरत ने 'रस' के मूल की गवेषणा करने में जिन स्थायी प्रवृत्तियों का पता लगाया, उन्हें आज का पाश्चात्य सौन्दर्य-दर्शन स्वीकार करता है। जार्ज सान्तायन सौंन्दर्य में मधुर वेदना के अनुभव को काम-वासना से उत्पन्न मानता है; परन्तु वह स्वीकार करता है कि रसानुभूति में प्रवृत्ति का जागरण दूर से होता है, अतः इससे क्रिया उत्पन्न नहीं होती* । पौलहान नामक मनोवैज्ञानिक भावना-जीवन के नियमों का उल्लेख करते हुए कहता है कि सौन्दर्य-भावना जिस अनुभूति का नाम है उसमें विशेषता इस बात की होती है कि इस भावना से, साधारण से विचित्र, किसी क्रिया-कलाप का उदय नहीं होता। इसी कारण कि सौन्दर्य-भावना में अपनी स्वाभाविक प्रेरणा उत्पादन की योग्यता नहीं होती—प्रेरणा उदय होते ही वह दमन कर दी जाती है—इसीलिये उस भावना को उत्पन्न करने वाली वस्तु स्वयं सुन्दर हो उठती है, और उसका मूल्य हम किसी तृप्ति के साधन के लिये नहीं लगाते† । भरत ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रख कर अर्थात् साधारण अनुभव और रस के मूल को समान स्रोत से उत्पन्न

* "From the radiation of the sexual passion, beauty borrows its warmth......and the whole sentimental side of our aesthetic sensibility—without which it would be perceptive and mathematical—is due to our sexual organization remotely stirred". Sense of Beauty G. Sanatyans P. 58.

† "In this case the stimulation is too weak to terminate in action...And it is precisely because the tendency is unable in this case to reach its customary goal, because it is absolutely inhibited as soon as produced, that the phenomena are considered by themselves and not as a means to a special end; and that is the characteristic of aesthetic emotion."
The Laws of Feeling—Paulhan.

किन्तु दोनों में प्रेरणा के उपर्युक्त अन्तर को विचार कर रस के उत्पादक कारणों को 'विभाव' कहा है।

जीवन की वास्तविक परिस्थितियाँ हमारी मूल वासनाओं और प्रेरणाओं को जाग्रत करेंगी ही, क्योंकि इन परिस्थितियों को सुलझाने के लिये उचित क्रिया-कलाप चाहिए। इसलिये यहाँ रसानुभूति की सम्भावना नहीं। अतएव भरत के लिये रसास्वादन का जगत् केवल नाट्य हो सकता है। यह 'अनुकरण' और कल्पना का जगत् है; इसमें क्रिया का उपयोग नहीं। यद्यपि इसमें हमारे साधारण जगत् की वास्तविकता नहीं, किन्तु कल्पना के बल के कारण इसमें सारा अनुभव का संसार विद्यमान है। इतना ही नहीं, भरत ने स्पष्ट कहा है कि इसमें ऐसे पदार्थ भी हैं, ऐसे अनेक जगत् हैं जो रसोत्पादन के लिये समर्थ हैं किन्तु हमारे सीमित प्रत्यक्ष अनुभव के लिये सम्भव नहीं। हमारे सम्पूर्ण जीवन का प्रतिविम्ब नाट्य के जगत् में है। अनुकरण के द्वारा हम अद्भुत स्पर्श, रूप, रस, शब्द, गन्ध इस जगत् में उत्पन्न करते हैं; अद्भुत नर-नारियों, लोकों, देव-देवियों, भवनों, संगीतों और चित्रों की सृष्टि करते हैं। नाट्य के ये कल्पित लोक जीवन में मूल-प्रवृत्तियों को जाग्रत करके हमें रस का अनुभव कराने में समर्थ होते हैं। ये नाट्य-जगत् की परिस्थितियाँ ही रसोत्पादक 'विभाव' हैं।

भरत नाट्य को जीवन की समष्टि मानता है। इसमें नाटक है; इसके लिये रंग-मंच का निर्माण चाहिए। इससे नाट्य में स्थापत्य, वास्तु और चित्र-कला का समावेश होता है। नृत्य, नृत्त, संगीत, अंगहार, अनेक अलंकारों का प्रयोग इसमें होता है। कथानक, काव्य आदि उपस्थित किये जाते हैं, जिससे नाट्य में सम्पूर्ण जीवन का 'विभावों' द्वारा प्रतिबिम्बन हो सके। नाट्य-जगत् में प्रवेश करके रसिक अपने वास्तविक, दैनिक जीवन को पीछे छोड़ आता है। यदि साथ लाता है तो वह इस जगत् के सौन्दर्य और रस से वंचित रहता है। यदि इस प्रतिबिम्बित जगत् में आकर इसी जगत् का प्राणी हो जाता है तो फिर उसके जीवन में वही सुख-दुःख का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। अतः रसिक कुशलता के साथ केवल अपने स्थायी स्वभाव को साथ लेकर नाट्य जगत् में प्रवेश करता है। न वह उसमें रम जाता है, न उसे दूर की ही वस्तु समझता

है। वह एक प्रकार की स्वयं-संचारित 'माया' के वश में स्वेच्छा से चला जाता है क्योंकि नाट्य-जगत् सत्य नहीं है, किन्तु असत्य भी नहीं है। वह एक विश्वास और वासना की भूमि है। जिस प्रकार, शङ्कुक के शब्दों में, चित्र-तुरग सत्य नहीं है, किन्तु असत्य होने पर उसमें कोई सौन्दर्य नहीं रहता, इसी प्रकार सारा 'विभाव' का जगत् कल्पना और विश्वास की शक्ति पर आश्रित है। ग्रूस नामक जर्मन विद्वान् के शब्दों में* नाट्य-संसार अथवा कला का संसार एक प्रकार अपनी इच्छा से प्रवृत्त की गई आत्म-प्रवंचना (Conscious Self-illusion) है। सौन्दर्य की भावना ही, उसके अनुसार, कल्पना की भावना (Assumption feeling) है सत्य और असत्य से जिसका निर्वचन नहीं किया जा सकता, ऐसा ही नाट्य द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य का रसमय, किन्तु मायिक, संसार है।

रस का संसार 'मायिक' होते हुए भी वास्तव की भाँति ही हृदय में स्थायी भावों को जाग्रत करता है; इसके साथ, मन में अनेक भावों को उद्बुद्ध करता है जो हमारी मूल रस-भावना के अनुकूल होते हैं। शृङ्गार रस के अनुभव में केवल मूल काम-वासना का ही जागरण नहीं होता, इसके साथ अनेक अनुकूल, इस रस की पोषक, वेदनाओं, स्मृतियों, कल्पनाओं का संचार होता है; भाँति-भाँति की मधुर अनुभूतियाँ इसके माधुर्य को और भी आस्वादन-योग्य बना देती हैं। इन सहयोगी, पोषक भावों को जिनसे रस मन के प्रत्येक स्तर में व्याप्त हो जाता है, भरत 'संचारी भाव' कहता है। केवल मन में ही नहीं, व्यापार और प्रेरणा के अवरोध से, हमारा सम्पूर्ण स्नायु-मण्डल, नाड़ी-चक्र, हृदय और जीवन-तन्तु भी उसी रस के प्रवाह से मानो स्पन्दन करने लगते हैं। इस शारीरिक स्पन्दन का रस की अनुभूति से घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि, यद्यपि

* "The aesthétic feeling is no longer a judgement-feelig, neither is it merely a "presentation-feeling," but rather an "assumption-feeling." [Der Aesthetesche Genuss.]

Valuation : Its Nature and Laws—Urban P. 220

यह रस के उद्रेक से प्रारम्भ होता है, तथापि यह उसे व्यापक और दृढ़ बनाने में सहायक होता है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रत्येक भावना और उसके द्वारा संचारित शारीरिक स्पन्दन के सम्बन्ध को पर्याप्त महत्त्व देता है, क्योंकि स्पन्दन के अवरोध से रस की भावना ही विलुप्त हो जाती है। रस के अनुकूल शारीरिक क्रिया और स्पन्दन को भरत 'अनुभाव' संज्ञा देता है।

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सहयोग से रस की निष्पति होती है। विभावानुभावसंचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः यह भरत का प्रसिद्ध रस-सूत्र है। प्रत्येक मूल-भावना के उद्बोधन के साथ मन में अनेक भावों का संचरण और शरीर में अनेक गतियों का स्पन्दन रस की तीव्रता को और भी बढ़ा देता है। इससे आनन्द की अनुभूति और भी प्रखर होती है। मन और शरीर का रसानुकूल स्पन्दन आधुनिक भाषा में 'सौन्दर्य-स्फूर्त्ति (Aesthetic resonance) कहलाता है। रसिक जब नाट्य वस्तु में, किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा चित्र, संगीत और मूर्ति के आस्वादन में तल्लीन और तद्रूप हो जाता है तो रस का उदय तो होता ही है, साथ ही उसका सम्पूर्ण जीवन अनेकों मनोहर भावों से प्लावित हो उठता है। बारंबार वह सुन्दर वस्तु को देखता है और बारंबार वह अपने ही शरीर और मन में जाग्रत तीव्र परिस्फूर्त्ति की ओर लौटता है। हृदय का यह आकर्षण-विकर्षण, भावनाओं का यह आलोड़न-विलोड़न रसास्वादन का सार है। भारतीय दार्शनिकों ने हृदय के अनुकूल (हृदय-संवादी) इस परम आह्लादमय मधुर संवेदना को 'रस-चर्वणा' का नाम दिया है।

भरत के रस-विज्ञान को परवर्त्ती विद्वानों ने परिमार्जित और परिवर्द्धित किया है तथा रस-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया है। हम इनको यथास्थान उपस्थित करेंगे।

(५)

सरोवर में प्रफुल्लित कमल-वन के दृश्य को लीजिये। इसके सौन्दर्यावगाहन के लिये आवश्यक है कि या तो अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण हृदय मानो बाहर जाकर कमल-वन का रूप धारण करे अथवा रसिक में आत्मा की रसनी-

यता-शक्ति के कारण वह कमल-वन, अपने रंग, स्पर्श, सौरभ और पुष्पासव के वैभव के साथ, हृदय में प्रवेश करे। हृदय और कमल-वन का यह काल्पनिक, किन्तु अनिवार्य भावनात्मक, सम्मिलन कहीं न कहीं अवश्य होता है। रसिक और सुन्दर-वस्तु के एकात्म होने से वस्तु के भोग, रूपादि गुण हृदय में आरोपित हो जाते हैं, और, हृदय में प्रवहण-शील रस और भावनाओं के स्रोत वस्तु के रूप आदि को आनन्दमय कर देते हैं। पुष्पों की सरस, मृदु गन्ध से यदि हृदय सुरभित हो जाता है, तो हृदय की रस-सिञ्चित कल्पना से पुष्प भी मनुष्य की आशाओं और अभिलाषाओं का मूर्त्त प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार, नील आकाश, सलिल-विस्तार, दिगन्तव्यापी महारण्य आदि अपने अपने गुणों के प्रभाव से प्रेक्षक के हृदय में अनन्तता, नित्यता, निरन्तर सृष्टि और प्रलयरूप परिवर्त्तन, जीवन की तरलता आदि की प्रखर अनुभूति उत्पन्न करते हैं, जिसे हमारे देश के दार्शनिकों ने 'चित्त-विस्तार' की अनुभूति कहा है। हृदय अपनी रसानुभूति के बल से इन वस्तुओं के गुणों को आध्यात्मिक रूप प्रदान करता है। ताज-महल अपनी संगति, सापेक्षा, सन्तुलन और धवल-रूप की महिमा के प्रभाव से प्रेक्षक के हृदय में 'रूप' की सन्तुलित गति उत्पन्न करता है, और हृदय इसे प्रेम की वेदना, उच्चता, निर्मलता और प्रखरता प्रदान करता है। संगीत अपनी स्वर-लहरी से, आरोह-अवरोह से, हृदय को विशेष गति प्रदान करके मानो विनिमय में हृदय के अनेक उदार और तीव्र भावों को ग्रहण करता है। हिमालय के उच्च शृङ्गों से रसिक के हृदय को 'विशालता' प्राप्त होती है, और, हृदय उसे जीवन की उच्चता का प्रतीक बना देता है। संक्षेप में, सौन्दर्यास्वादन में रसिक और वस्तु का परस्पर विनिमय बिना सम्मिलन और एकात्मता के सम्भव नहीं। हम इस एकात्मता को क्रिया को 'साधारणीकरण' कहते हैं।

साधारणीकरण का निर्वचन अन्य प्रकार से भी किया जाता है। मम्मट, अभिनवगुप्त आदि पंडितों ने रंग-मंच पर 'शकुन्तला-दुष्यन्त' के अभिनय से आनन्द-लाभ की प्रक्रिया को विशद करते समय कहा है कि प्रेक्षक अपने में दुष्यन्त का आरोप करके शकुन्तला-विषयक रति का आस्वादन करता है। प्रेक्षक वस्तु के साथ तादात्म्य अथवा 'साधारण्य' स्थापित करके उसमें आनन्द पाता

है। यहाँ यह सत्य है कि रसिक स्वयं वस्तु बन कर वस्तु का आस्वादन कर सकता है, किन्तु पंडितराज जगन्नाथ के कथन के अनुसार अपने में 'दुष्यन्त' का काल्पनिक आरोपण भी अनुचित, नीति-विरुद्ध होने के कारण रसोत्पादन के लिये उपयुक्त नहीं। अतः जगन्नाथ के अनुसार प्रेक्षक एक ओर तो अपने दैनिक व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्त होकर केवल सौन्दर्य का अभिलाषुक 'पुरुष' बन जाता है, और, दूसरी ओर नाट्य संसार की 'शकुन्तला' हमारी पूज्या पूर्वजा न रह कर भोग-योग्य 'स्त्री' के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। इस प्रकार प्रेक्षक और सुन्दर पदार्थ दोनों अपने असाधारण व्यक्तित्व को त्याग कर प्रकृति-पुरुष के साधारण भोग्य-भोक्ता के रूप को धारण करते हैं। इसी का नाम साधारण्य-क्रिया अथवा 'साधारणीकरण' है जो रसास्वादन का आधार है। हमने इस प्रक्रिया को इसके मनोवैज्ञानिक तत्त्व पर आश्रित किया है जिसके अनुसार अन्तर्भावनात्मक प्रवृति अथवा आत्मा की रसनीयता-शक्ति के कारण रसिक और वस्तु दोनों में तदाकारता अथवा एकात्मता का आविर्भाव हो जाता है। इसीलिये तो विशाल शिखर को देखकर हृदय में 'विशाल' होने का अनुभव होता है, चंचल स्रोत को देख कर जीवन में 'तरलता' का आविर्भाव होता है, चित्र में एक विस्तृत मैदान में बहती हुई सरिता पर एकाकी नौका और उसके नाविक की कल्पना से हृदय में भी उसी दृश्य का एकाकीपन उदित हो जाता है। 'साधारणीकरण' की जो भी निरुक्ति हमें मान्य हो यह अवश्य ही हमारी सौन्दर्य-चेतना का आधार है।

(६)

सौन्दर्य से जिस आनन्द की अनुभूति उत्पन्न होती है उसकी एक विशेषता यह है कि हम उसका माप नहीं कर पाते। वह क्षण क्षण में नवीन होता है। बुद्धि विश्लेषण के द्वारा सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य की थाह नहीं लगा पाती; मन अपने आनन्द की तोल नहीं कर पाता। बुद्धि चकित होती है, उलझ जाती है सौन्दर्य को देख कर, उसके आंकड़े व्यर्थ हो जाते हैं, किन्तु चकित होकर भी उसे आनन्द का आलोक मिलता है, उलझ जाने पर भी उसमें नवीन रहस्यों का उद्घाटन होता है। अनेक गूढ ग्रन्थियाँ स्वयं ही खुल जाती हैं, भ्रान्तियाँ

स्वयं ही भोग बन जाती हैं, जिस समय गायक की उठती हुई तान, चित्रकार की तूलिका द्वारा निर्मित एक सरल रेखा अथवा 'अवलोकितेश्वर पद्मपाणि' बुद्ध की एक झलक, नवीन और अभूतपूर्व वेदनाओं और स्फूर्त्तियों से आत्मा के अनन्त अन्तरिक्ष को आलोक से भर देती हैं। सत्य तो यह है सौन्दर्य-शास्त्र की सारी पटुता 'सौन्दर्य' के इस रहस्य को समझाने के लिये है। आनन्द की यह अनुभूति अनन्त, अमेय, अखण्ड अभूतपूर्व तथा रहस्यमयी होती है। सौन्दर्य-शास्त्र इसे 'चमत्कार' कहता है और इसे रस का सार (रसे सारश्चमत्कारः) मानता है।

सौन्दर्य के इस रहस्य को समझने के लिये हमारे देश में दो सराहनीय प्रयत्न हुए हैं, एक तो आनन्दवर्द्धन ने *ध्वनि* के आविष्कार द्वारा, दूसरे पंडित-राज जगन्नाथ ने *'चिदावरण भंग'* के विचार द्वारा रहस्योद्घाटन किया है। हम ध्वनि के स्वरूप को आगे चल कर स्पष्ट करेंगे। यहाँ इसका मनोवैज्ञानिक रूप जानना ही पर्याप्त होगा। रसस्वादन में रसिक के हृदय में किसी शब्द, स्वर आदि को सुनने अथवा किसी सुन्दर रूप को देखने के अनन्तर अनेक अपूर्व भावनाओं और अर्थों का अकस्मात् प्रस्फुटन होता है। घंटा बजाने के अनन्तर जिस प्रकार इसका निर्ह्राद अथवा अनुरणन देर तक होता रहता है, उसी प्रकार शब्द और स्वर भी अपनी शक्ति से चिर-संचित संस्कारों और रस-स्रोतों को मानो उन्मुक्त करके रसिक के हृदय में झंकार अथवा 'अनुरणन' उत्पन्न करते हैं। यह जीवन में पुनः-पुनः जगने वाला प्रतिध्वनन और निर्ह्राद ही सौन्दर्य का रहस्य है।

'चिदावरण भंग' वस्तुतः इस प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर है। हमारा साधारण व्यक्तित्त्व जिसमें अनेक अतृप्त कामनाओं के क्रन्दन, अनेक उद्दीप्त वासनाओं की गन्ध, अनेक चिन्ताओं के बन्धन आदि रहते हैं, हमारे चेतन आत्मा को जड़ बनाते रहते हैं। यह जड़ता आवश्यक भी है क्योंकि इसके बिना हाथ-पैर नहीं चलाये जा सकते और जीवन का व्यवहार भी सफल नहीं हो सकता। यह स्नायु-मण्डल और शरीर में भाँति-भाँति के तनाव उत्पन्न करके उसे क्रिया के योग्य बनाता है। किन्तु यह तनाव अथवा जड़ता जहाँ जीवन को सम्भव बनाते

हैं, वहाँ इसका व्यय और ह्रास भी करते हैं। यह जड़ता वस्तुतः चेतन आत्मा का आवरण है। इस आवरण के कई स्तर हैं। पहला स्तर तो यह अन्नमय शरीर है; यह जीवन का आधार होने पर भी जड़ता का मूल है। दूसरा आवरण हमारे प्राणों का निरन्तर श्वासोच्छ्वास है; तीसरा स्तर हमारे मन की निरन्तर 'संकल्प-विकल्पात्मक' उछल-कूद है और चौथा स्तर है बुद्धि का जो सब की अपेक्षा भार और जड़ता में कम है, किन्तु जिस ज्ञान का वह संचय करती है वह वस्तुतः आत्मा के लिये जाल ही है, क्योंकि हमें सारी प्रकृति के विज्ञान से भी कोई 'स्वान्तः-सुख' का लाभ नहीं होता। इन स्तरों के भार से यदि हमें क्षण भर भी मुक्ति मिल सके तो उस सुख का अनुभव हो जो हमें शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की तृप्ति से कदाचित् सम्भव नहीं। वस्तु का सौन्दर्य हमें इस आवरण को भंग कर इसी अनिर्वचनीय सुख की ओर ले जाता है। शरीर-सुख से इसकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि सौन्दर्य-सुख में तो शरीर का भान कम या बिल्कुल नष्ट हो जाता है। बुद्धि इस सुख का अंकन और निर्वचन नहीं कर सकती, क्योंकि बुद्धि की क्रिया स्थगित होने पर इसका उदय होता है। हमारा साधारण व्यक्तित्व मानो गल जाता है और आनन्द के महा समुद्र में लय होने लगता है। इससे बुद्धि चकित होकर भी आलोकित हो जाती है, हृदय गद्गद होकर भी आनन्द पाता है, शरीर में स्वेद, कम्पन, आदि के उदय होने पर भी विश्रान्ति का अनुभव होता है; प्राणों को अद्भुत विराम का अनुभव होता है। सौन्दर्य-आस्वादन में चित् के आवरण- भंग से जो रस उत्पन्न होता है, वह समाधि-सुख की भाँति होता है। हम इसे 'लयात्मक सुख' कहेंगे।

'लय' का विशद रूप हमें आधुनिक मनोविज्ञान में मिलता है। फ्रॉयड़ और यूँग नामक जर्मन पंडित मानव-व्यक्तित्व को अनन्त और अमेय मानते हैं जिसके ऊपर जीवन की विशेष परिस्थितियों का आवरण लग जाता है। इसे हम 'अहम्' अथवा Ego कहने लगते हैं। शरीर, मन, बुद्धि, जन्म, समाज आदि के आकस्मिक गुण संगठित होकर हमारे व्यवहारिक स्वरूप का निर्माण करते हैं। वस्तुतः 'अहं' के तल में ऊर्मिल अनन्त सागर की भाँति लहराता 'कामना'

का विस्तार है, जहाँ अहं का प्रश्न नहीं, जहाँ नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक बन्धन नहीं, जहाँ धर्म और अर्थ की सीमा नहीं, जहाँ सभ्यता का अनुशासन और संस्कृति का संस्कार नहीं। यही अतल, अनन्त कामना का सागर हमारे परम सुख का मूल-स्रोत है, चेतना का उद्गम-स्थान है; प्रेरणा का यहीं से जन्म होता है, यहीं से अभिलाषाएँ स्फुलिङ्ग की भाँति निकल कर आती हैं। हमारा बाह्य जगत् इसी अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब है। इसी की तृप्ति के लिये कलाओं की सृष्टि होती है; इसी की रोक-थाम के लिये नीति और धर्म तथा समाज की अनेक संस्थाओं, सभ्यता और संस्कृति का आयोजन किया जाता है। परन्तु हमारा क्षुद्र व्यक्तित्व इस अनन्त कामना की तृप्ति कैसे करे? इससे पीड़ा उत्पन्न होती है। इसी पीड़ा से दर्शन ध्यान समाधि तथा धर्म की उच्च अभिलाषाएँ उदित होती हैं। जीवन में जहाँ इसको तृप्त करने के लिये निरन्तर क्रिया की प्रेरणा बनी रहती है, वहाँ हमारा लघु व्यक्ति इसी अतल समुद्र में लय होने के लिये भी लालायित रहता है। इस लय-प्रवृत्ति को सौदर्य तीव्र बनाता है। इसी से सौन्दर्य के अनुभव में इस लयात्मक सुख का अनोखा आनन्द मिलता है।

(७)

कहा जा चुका है कि सौन्दर्य में आनन्द जिस तत्त्व का नाम है, वास्तव में वह रस-आस्वादन की विशेष क्रिया है। आस्वादन-क्रिया में रसिक और सुन्दर वस्तु में 'साधारण्य' अथवा 'तन्मयता' अवश्य होनी चाहिए। इस क्रिया में शरीर और मन में अनेक-विध स्पन्दनों और भावों का स्फुरण होता है। इससे यह व्यापक, आस्वाद-योग्य और जटिल हो जाती है। यही अनुरणनात्मक ध्वनि अथवा रस-चर्वण है। इस क्रिया के उदय के लिये आत्मा में रसनीयता-शक्ति चाहिए और चाहिए 'माया' द्वारा सृष्ट विभाओं का मनोहर नाट्य-जगत्। 'लय' होने की प्रवृत्ति इसमें विद्यमान रहती है, और लय द्वारा ही असीम और अनन्त आनन्द की अनुभूति उत्पन्न होती है। 'लय' का अर्थ सौन्दर्या-स्वादन में हमारे लघु व्यक्तित्व का जीवन के असीम समुद्र में मानों डूबने की प्रवृत्ति है। लय की अवस्था में जीवन में समाधि का अनुभव होता है। चित्त-

वृत्तियों के प्रवाह में एक ऐसी गति उत्पन्न होती है जिससे जीवन की जड़ता शनैः शनैः नष्ट होकर द्रव बनने लगती है। शरीर, मन, प्राण, बुद्धि आदि की अन्तर्ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं, और, रसिक का सम्पूर्ण अस्तित्व मानों आनन्द के अनन्त प्रवाह में बहने लगता है। विश्वनाथ तो सौन्दर्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्मानुभूति—जीवन में 'बृहत्' के अनुभव से भिन्न नहीं मानता। रस उसके लिये 'ब्रह्मानन्द सहोदर' है।

यहाँ प्रमुख प्रश्न यह है कि (१) रसानुभूति और साधारण सुख में क्या अन्तर है? (२) रसानुभूति में कौन सी बाधाएँ रहती हैं?

यह अध्याय, सच पूछा जाये तो, पहले प्रश्न के उत्तर के लिये है। हमने 'आनन्द के स्वरूप' का निश्चय करते समय माना है कि हमारे दैनिक सुख-दुःख वास्तविक जगत् की परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं; प्रेरणा और व्यवहार इसके मुख्य अंग हैं। सौन्दर्य में आनन्द का आविर्भाव एक विशेष लोक में होता है। एक छोटे चित्र को लीजिये। देखने में रंगों और रेखाओं का एक लघु समुच्चय प्रतीत होने पर भी वह स्वयं एक जगत् है। चित्रकार का चित्र हमें उसी लोक में ले जाता है। उस लोक में जाने के लिये हमें अपना स्थूल शरीर यहीं छोड़ना होता है, और, जड़ता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ तथा 'अहं' के भावों का भार भी साथ नहीं ले जा सकते। यह हमारी आत्मा की की लाघव अवस्था है, जिसमें हम कल्पना पर मानों सवार होते हैं, और, आनन्द की स्वाभाविक प्रवृत्ति हमें सौन्दर्य-लोक में विहार के लिये प्रवृत्त करती है। मन, बुद्धि, प्राण की गति भी इस समय संगति की भाँति सन्तुलित हो जाती है। इन सब कारणों से एक ओर आत्म-लय की प्रवृत्ति का उदय होता है और दूसरी ओर आवरणों के हट जाने से प्रकाश के नूतन स्रोत मन और प्राण को प्लावित करते हैं। यह सब हमारे साधारण सुख में नहीं होता।

सौन्दर्य की अनुभूति में कल्पना द्वारा एक विशेष लोक के उद्घाटन पर हम बल देते हैं। एक चित्र, मूर्ति, संगीत, अथवा कोई प्राकृतिक दृश्य, जैसे सूर्योदय, सूर्यास्त, घनघोर घटा आदि हमारे सर्व-सामान्य जगत् की नगण्य वस्तु और इसके भाग नहीं है; किन्तु प्रत्येक चित्र, मूर्ति और संगति का अपना स्वयं

पूर्ण लोक है। नन्दलाल बोस के दो चित्रों को पास-पास रख कर देखिए। इनकी लम्बाई-चौड़ाई पर ध्यान देने से ये दोनों हमारे वास्तविक जगत् की छोटी-सी वस्तुएँ हैं। अब चित्रों को हृदयङ्गम कीजिए : प्रत्येक चित्र कल्पना का एक लोक है, जिसमें भावना और आनन्द के प्रवाह बहते हैं। प्रेक्षक इन लोकों का उद्घाटन किए बिना इनका आस्वादन नहीं कर सकता। प्रकाश और आनन्द इन लोकों का मुख्यतम अंग है। इसलिये हम सौन्दर्य के 'मायिक' आनन्द मय लोक को 'अलोक-लोक' (Ethos) कहेंगे।

रसानुभूति की बाधाएँ इस 'अलोक-लोक' में प्रवेश करने की असमर्थता से उत्पन्न होती हैं। आनन्दवर्द्धन के अनुसार प्रेक्षक में 'सहृदयता' होनी चाहिए। 'सहृदय' प्रेक्षक वह है जिसमें तन्मय होने की योग्यता (तन्मयीभवनयोग्यता) है। अभिनवगुप्त इस सूत्र की व्याख्या करते हुए रसानुभूति की सात बाधाओं का उल्लेख करता है। संक्षेप में वे ये हैं:

१. *प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावना विरहः*—यदि सुन्दर वस्तु का लोक इतनी दूर है कि उसके अस्तित्व की हम सम्भावना भी नहीं कर सकते तो उसके हृदयंगम करने में हम समर्थ नहीं होते। सुन्दर वस्तु हमारी प्रतीति के निकट होनी चाहिए। 'प्रतीति' के बाधक रसास्वादन में भी बाधा उत्पन्न करते हैं, क्योंकि निर्विघ्न 'संवित्ति' अथवा 'भाव' का नाम ही तो रस है। (सर्वथा वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः—अथवा—लोके सकल विघ्न विनिर्युक्ता संवित्तिरेव चमत्कार निर्वेश रसादिभिः शब्दैरभिधीयते)।

२. *स्वगतपरगतत्वनियमेन देद कालविशेषावेशः*—यदि प्रेक्षक 'स्व' और 'पर' के देश, काल आदि की विशेषता में इतना आविष्ट है कि वह इस भेद को नहीं भुला पाता, तो वह सुन्दर वस्तु में तन्मय न हो सकेगा। प्रेक्षक को उचित है कि वह अपने देश और काल के आवेश को छोड़ कर सुन्दर वस्तु के लोक में जहाँ देश काल की बाधा नहीं है, प्रवेश करे। कल्पना-शून्य व्यक्ति अपनी प्रस्तुत सीमाओं से मुक्त नहीं हो पाता, इस लिये उसके लिये कल्पना-लोक के सुख का अस्तित्व ही नहीं। सौन्दर्य के आस्वादन 'स्व' और 'पर' में बिल्कुल 'भेद' और बिल्कुल 'अभेद' दोनों ही बाधक हैं—इसक उल्लेख पहले किया जा चुका है।

भेद और अभेद के मध्य में जिस अन्तर मे रसास्वादन सम्भव होता है, उसे हम 'रसान्तर्य' (Aesthetic distance) कहेंगे। नाटक आदि देखने में प्रेक्षक कभी इतना तन्मय हो जाता है कि वह दृश्य-जगत् की सारी घटनाओं का आरोप 'स्व' में कर लेता है। इससे रसास्वादन में बाधा होती है। कभी वह 'पर' से इतनी दूर चला जाता है कि उससे उसका सम्पर्क ही विच्छिन्न हो जाता है। कुशल प्रेक्षक उचित 'अन्तर' पर रहकर आस्वादन करता है।

३. *निज सुखादि वशीभावः*—यदि प्रेक्षक अपने ही सुखादि में उलझा है तो वह रसास्वादन के लिये असमर्थ है।

४. *प्रतीत्युपायवैकल्यम्*:—५. *स्फुटत्वाभावः* इनका अर्थ है कि वस्तु का '*आलोकलोक*' ही स्पष्ट नहीं है और न यह प्रतीति उत्पन्न करने में समर्थ है।

६. *अप्रधानता*—रस का आस्वादन प्रेक्षक अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से करता है, जिसमें उसके नैतिक, धार्मिक और सामाजिक भावनाओं की तृप्ति भी होती है। किन्तु यदि हमारी नैतिक अथवा धार्मिक भावना इतनी प्रबल बनी रहे कि सौन्दर्य का आस्वादन हमारे लिये गौण हो जाये तो इससे हमारी अनुभूति अवश्य फीकी पड़ जायेगी ७. *संशययोगः*—सुन्दर वस्तु का कल्पना-लोक यदि सन्दिग्ध रहे तो रसास्वादन निर्विघ्न न हो सकेगा। सौन्दर्य की प्रतीति प्रबल होनी चाहिए।

सुन्दर और उदात्त

जीवन में वेदना ओत-प्रोत है, यहाँ तक कि यह कहना कठिन है कि जीवन से वेदना का आविर्भाव हुआ अथवा वेदना से जीवन को अस्तित्व मिला। जीवन में वेदनाओं का निरन्तर घात-प्रतिघात चलता है। अनुकूल वेदना को सुख और प्रतिकूल वेदना को दुःख कहते हैं। सौन्दर्य के जिस भाव-लोक में हम 'आनन्द' का अनुभव करते हैं, वहाँ यद्यपि वासनाओं की तृप्ति अथवा अतृप्ति-जन्य सुख-दुःख तो नहीं हैं, तथापि वहाँ वासनाएँ हैं, वहाँ जीवन भी है, अतएव वहाँ अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओं से उत्पन्न सुख-दुःख दोनों ही विद्यमान रहते हैं। 'आनन्द' की अनुभूति में सुख-दुःख दोनों का ही समावेश है। पिछले अध्याय में हमने आनन्द के स्वरूप को समझने के अवसर पर देखा है कि किस प्रकार, हमारे साधारण अनुभूत लोक से दूर, सौन्दर्य का भाव-लोक है, जिसमें रस-चर्वणा द्वारा हम अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की वेदनाओं से लयात्मक सुख अथवा आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि हम यह मानें कि जीवन में सुख का मूल काम-वासना है तो केवल शृङ्गार रस में ही अनुकूल-वेदनीय सुख उत्पन्न हो सकता है। इसमें भी विप्रलम्भ शृङ्गार में वेदना प्रतिकूल रहती है और इसके अतिरिक्त रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों में तो निश्चित रूप से ही प्रतिकूल वेदनाओं का समावेश रहता है। इन सबका तात्पर्य है कि रसानुभूति में प्रधानतः दुःख से ही आनन्द का लाभ होता है।

विचित्र प्रतीत होने पर भी दुःख से आनन्दानुभूति सौन्दर्य जगत् की सत्य घटना है। यही सौन्दर्य का महत्त्व भी है, क्योंकि वस्तु के सौन्दर्य-अवगाहन करते समय प्रेक्षक भाव-लोक में प्रवेश करता है जहाँ वास्तविक जगत् की प्रेरणा से दूर वह निर्भय होकर भय का, कायर होकर वीरता का, विना कामुकता के भी काम-रस का, प्रखर अनुभव करने में समर्थ होता है। रसास्वादन की क्रिया द्वारा

भय आदि आवेगों से उत्पन्न प्रतिकूल वेदनाएँ भी रूपान्तरित होकर केवल आनन्द उत्पन्न करती हैं। भयंकर नद, प्रपात अथवा गर्त्त को देखिए। इसके सौन्दर्य के अवगाहन के क्षण में इनकी सम्पूर्ण भयंकरता हृदय में प्रवेश करती है। प्रेक्षक तन्मय होकर भय की पूर्ण भावना से प्लावित हो जाता है। प्रपात के भयंकर नाद को वह सुनता है; ऊपर से गिरती हुई जल-राशि के साथ गिरता है, और, प्रबल आघात से पागल होकर फेनों के रूप में गर्जन करके उठ खड़ा होता है, और, फिर मानो अपने को ऊँचे पर जाने के लिये असमर्थ पाकर प्रलाप करता हुआ प्रवाह बन कर चट्टानों पर सिर धुनता हुआ बह निकलता है। आगे यही भयावह गर्जन करती हुई जल-राशि एक शान्त धारा बन जायगी जिस पर नावें अठखेलियाँ करेंगी इत्यादि। प्रेक्षक इस सम्पूर्ण दृश्य को अपनी आत्मा में मानो भर लेता है, और, प्रपात की सम्पूर्ण भयंकरता का अनुभव निर्भय होकर करता है, क्योंकि इस अनुभूति के तल में विश्वास है कि वह भाव-लोक में है, जहाँ भय की भयंकरता चर्वणा द्वारा आनन्द को ही उत्पन्न करती है। भय के इस अनुभव से जो वास्तविक जीवन में कदापि सम्भव नहीं प्रेक्षक का चित्त अवश्य ही लाघव का अनुभव करता है। इसी प्रकार अन्य आवेगों के अनुभव में इनको प्रखरता के साथ तन्मय होकर प्रेक्षक चित्त-लाघव प्राप्त करता है। इससे जीवन में आवेगों के वेग से उत्पन्न 'तनाव' और भार कम हो जाते हैं जिससे अद्भुत मानसिक स्वास्थ्य और मनः-प्रसाद का अनुभव होता है। करुण आदि रसों के अनुभव को लेकर अरस्तू नामक यूनानी विद्वान् ने भी इनकी उपयोगिता का उल्लेख किया है। इन रसों के अनुभव से आवेगों का वेग-निरसन (catharsis) होता है। यही कारण है कि रसास्वादन में प्रतिकूल वेदनाएँ भी परम आनन्द को ही उत्पन्न करती हैं।

हास्य का आनन्द भी वस्तुतः दुःख का आनन्द है। हम जिस वस्तु अथवा परिस्थिति पर हँसते हैं उससे तदाकार होकर उसी के गुणों का अपने में अनुभव करते हैं, जैसे, हम किसी बहुत मोटे, बहुत छोटे, विरूप व्यक्ति को देख कर अथवा वर्षा में किसी को फिसलते हुए या किसी के टोप को हवा में उड़ते हुए देख कर बहुधा हँसते हैं। इन सब परिस्थितियों में, स्वाभाविक सहानुभूति के

कारण, हम उपहासास्पद व्यक्ति की भावनाओं का अपने में अनुभव करते हैं। किन्तु यह अनुभव, वास्तविकता से दूर, भाव-लोक अथवा कल्पना में होता है, इसलिये वस्तुतः हम गिरने वाले के साथ गिर कर भी नहीं गिरे। इस परिस्थिति को बुद्धि नहीं सुलझा पाती, और, हृदय, भावना से प्लावित होने के कारण, आवेग की प्रतिकूल वेदना को हँस कर मानो दूर भगा देता है। हँसना हमारी सहज-क्रिया है अर्थात् इसके लिये मानसिक श्रम अथवा चिन्तन अनावश्यक है। सहानुभूति के आवेग से स्वतः हो मन और शरीर की क्रियाएँ हास्य में संचालित हो जाती हैं। यही दशा अन्य भय, करुणा, रौद्र आदि आवेगों के अवसर पर भी होती है। जब हम, वास्तविक जगत् से दूर होकर, केवल भाव-लोक में, भयंकर, करुण, रुद्र आदि का रसास्वादन करते हैं तो अन्तर्भावनात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ये आवेग हमें तन्मय बना देते हैं। इससे चर्वणा और लयात्मक सुख अथवा आत्म-विस्मृति का संचार होता है, और, जीवन की ये प्रतिकूल वेदनाएँ हमारे लिये आनन्द का स्रोत बन जाती हैं।

'सुन्दर' हम उन वस्तुओं को कहते हैं जो अपने रूप, भोग, अभिव्यक्ति द्वारा प्रेक्षक में अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत करती हैं, जिस प्रवृत्ति के कारण रसिक-प्रेक्षक रसास्वादन और रस-चर्वणा में प्रवृत्त हो जाता है। रस-चर्वणा भाव-लोक की एक क्रिया है। जिससे अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाएँ सभी लयात्मक सुख अथवा आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य का अनुभव कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर निर्भर है। सहृदय प्रेक्षक और कलाकार में ये प्रवृत्तियाँ प्रकृष्ट होती हैं; इसलिये वह सम्पूर्ण प्रकृति और मानव-कृतियों में सौन्दर्य का आस्वादन करने में समर्थ होता है। वन-उपवन, वृक्ष, लता, पुष्प, पल्लव, सरित्, सरोवर, सागर, पर्वत आकाश, घन, विद्युत् आदि अनन्त प्राकृतिक पदार्थ सहृदय के लिये अक्षय आनन्द के निधान हैं। वह इनमें तन्मय होकर इनके सौन्दर्य का अवगाहन करता है। उसके हृदय में लहरों का उल्लास और बादलों की विकलता दोनों ही रहती हैं। वह पुष्प की कोमलता और चट्टानों की कर्कशता का समान रूप से अनुभव करता है। उसके हृदय में प्रपातों का उन्मुक्त वेग और बवंडरों का भयावह आवर्त्तन भी आस्वादन

की क्रिया को जाग्रत करते हैं। इसी प्रकार कला-कृतियों में, अपनी स्वाभाविक क्षमता के कारण, संगीत, चित्र, नृत्य, काव्य-नाटकों के संसार में जाकर वह रसास्वादन करता है। ये सब वस्तुएँ उसके लिये 'सुन्दर' हैं।

मनुष्य अपने गम्भीर आध्यात्मिक स्वभाव के कारण केवल सौन्दर्य के रस से सन्तुष्ट नहीं होता। वह जगत् की मूर्त्त वस्तुओं में सुख-दुःख का अनुभव करता है, किन्तु उसके लिये अध्यात्म-जगत् की अमूर्त्त अनुभूतियाँ और घटनाएँ भी परम सत्य हैं। वहाँ व्यक्त जगत् की घटनाएँ तो नहीं हैं, किन्तु कुछ अचिन्त्य, अद्भुत सनातन सत्य वहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। साधारण मनुष्य तो उनकी झाँकी कदाचित् हो पाता है, किन्तु कलाकार, क्रान्त-दर्शी कवि और आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात् अनुभव करने वाले ऋषि इन सनातन सत्यों को ही जीवन का सत्य मान कर उन्हीं को समझने और सुलझाने में तल्लीन रहते हैं। 'जीवन निरन्तर गति है'; 'आत्म-तत्त्व अमर, अनन्त, अनादि है', 'आत्मा एक है', 'आत्मा चेतन तत्त्व है', 'आत्मा सत्य है, चित् और आनन्द है'; 'सूर्य और चन्द्रमा इसके नेत्र हैं, वायु इसका प्राण है; आकाश इसके केश हैं, इत्यादि।' ये सब केवल शब्द ही नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् की परम सत्य घटनाएँ हैं जिनका साक्षात्कार बिजली और बादल की भाँति ही ऋषि-गण करते हैं। 'अनन्त' यह साधारण मनुष्य के लिये शब्द-कोश का एक शब्द है जिसके अर्थ का साक्षात्कार दार्शनिक परम लय की अवस्था में करता है। हम इन अनुभूतियों को इसलिये अस्वीकार नहीं कर सकते, कि इनका आभास हम अपने धार्मिक और नैतिक जीवन में पाते हैं। हमारा स्वयं अस्तित्व अनन्त सत्ता का अंग है। वह सत्ता अज्ञेय, अमेय, अनिर्वचनीय है, किन्तु बिना इस सत्ता को जाने हुए हम अपने अस्तित्व को ही कैसे समझ सकते हैं? इसलिये हय अज्ञेय के द्वारा ज्ञेय को जानना चाहते हैं, अमेय के द्वारा मेय को नापना चाहते हैं; अनिर्वचनीय के द्वारा हम निर्वचन करने को प्रस्तुत हैं। इस परिस्थिति के कारण, जीवन में दार्शनिक दृष्टिकोण आवश्यक हो जाता है। इस दार्शनिक दृष्टि-कोण को जीवन में लाने के लिये अर्थात् उसके 'योग' के लिये साधारण सुख-दुःख के संसार का वियोग (विराग) आवश्यक है। आध्यात्मिक जगत् के अनन्त, अमृत,

आलोक में रहने के लिये लोक का त्याग अनिवार्य है (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*)। इससे एक अनन्त और अनिर्वचनीय 'पीड़ा' का उदय होता है।

यहाँ कठिनता इस बात की है कि हम एक ओर तो अपने ही आध्यात्म तत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते जहाँ से हमें निरन्तर अव्यक्त किन्तु परम सत्य सन्देश मिला करते हैं, जो हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर, तम से ज्योति की ओर, असत्य से सत्य की ओर, निरन्तर इङ्गित से मानो बुलाता रहता है। दूसरी ओर हम अपने पार्थिव अस्तित्व को नहीं छोड़ पाते, जिसके बिना उस आलोक-लोक में प्रवेश असम्भव है। इस कठिनाई का अनुभव जगत् के सभी दार्शनिक, कवियों और धर्म-प्रवर्त्तकों ने किया है। धर्म, कला और दर्शन का मूल उद्देश्य इसी समस्या को सुलझाना है। प्रत्येक के अपने ढंग से इसे सुलझाने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम इन विविध सुलझावों की उलझन में न पड़ कर, सौन्दर्य-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही लेंगे। वह प्रश्न इस प्रकार है: आध्यात्मिक जगत् की अनन्त अनुभूति में भी वेदना रहती है। यह वेदना अनन्त होगी। हम नहीं जानते कि यह अनुकूल अथवा प्रतिकूल है, किन्तु इतना सत्य है कि यह हमारे ही अन्तर की सत्यतम वेदना है जिसका प्रत्याख्यान असम्भव है। हमारे साधारण अनुभव से यह भिन्न है। इस भिन्नता के कारण हम एक को त्याग कर (वैराग्य द्वारा) ही दूसरे को पा सकते हैं। इससे हमारे अध्यात्म-जगत् की वेदना अनन्त पीड़ामय है। हम किस प्रकार इस अनन्त पीड़ा को आनन्द में रूपान्तरित करें? किन उपायों से जीवन की अनन्त पीड़ामय वेदना को मूर्त्त बना कर उसका रसास्वादन करें?

जब हम इस अनन्त पीड़ा को चित्र, काव्य, मूर्ति, भवन आदि में मूर्त्त बना कर अथवा प्राकृतिक पदार्थों में इसी का मूर्त्त रूप पाकर, इसका आस्वादन करते हैं, तब हम इन्हें 'सुन्दर' न कह कर 'उदात्त' कहते हैं। वस्तुतः 'सुन्दर' का ही उत्कृष्ट रूप 'उदात्त' है, जिसमें प्रवृत्तियों से ऊँचे उठ कर मन आध्यात्मिक जगत् की अनुभूतियों का मूर्त्त रूप में आस्वादन करता है। संसार की धार्मिक कला

---

* ईशोपनिषद्।

का क्षेत्र 'उदात्त' का क्षेत्र है। प्रस्तुत अध्याय में 'उदात्त' के स्वरूप को समझने के लिये हमें कई धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि-कोणों की विवेचना करनी होगी।

(२)

हमारा प्रश्न है : किस रासायनिक विधि द्वारा जीवन की अव्यक्त और अनन्त वेदना 'आनन्द' में रूपान्तरित होती और मूर्तिमती होकर हमारे रसास्वादन के योग्य हो जाती है ?

इस वेदना का रसास्वादन हो 'उदात्त' का स्वरूप है।

हम सबसे पहले कला-शास्त्र का दृष्टिकोण लेंगे। इसके अनुसार वेदना उसी समय तक पीड़ोत्पादक होती है जब तक वह व्यक्त और मूर्तिमती नहीं होतो। साधारणतया वेदना आवेग के रूप में अनुभव की जाती है और स्वरूपहीन होने के कारण एक मानसिक आन्दोलन (Feeling Storm) उत्पन्न करती है। इससे मन पीड़ित होता है। किन्तु ज्यों ही यह वेदना कथानक, चित्र, मूर्ति आदि का निश्चित स्वरूप पा लेती है, इसका आवेग शान्त और स्थिर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे आँधी के पश्चात् आकाश निर्मल और प्रसन्न हो उठता है। साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ मूर्तिमती वेदनाएँ हैं। कलाकार की सृजनात्मक शक्ति वेदना के वेग और बवंडर को व्यवस्था, रूप सन्तुलन देकर उसे स्थिरता प्रदान करती है। इससे वह आस्वादन के योग्य हो जाती है।

हमारा यह विचार पुराना है जिसका कुछ उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी से मिलता-जुलता विचार जार्ज सान्तायन ने अपनी (Life ot Reason) नामक पुस्तक में उपस्थित किया है। वह कहता है "यह समझ लेना कि पीड़ा कितनी न्याय्य, अनिवार्य और हमारे जीवन का अभिन्न अंग है और हमें शोक मनाने के लिये कितना उचित कारण है, हमारी पीड़ा और शोक के लिये परम सान्त्वना है।* इसका अर्थ है कि वेदना उसी समय

* "To know how just a cause we have for grieving is already a consolation, for it is already a shift from feeling to understanding." P-64.

तक वेदना रहती है जब तक उसका क्षेत्र आवेग और भावना तक सीमित रहता है। ज्यों ही वह आवेग के क्षेत्र से प्रकाश और विवेकदायिनी बुद्धि के क्षेत्र की ओर अग्रसर होती है, हमें सान्त्वना मिलती है। वेदना स्वयं प्रकाशित हो उठती है और मानव-जीवन का स्पष्ट सिद्धान्त बन जाती है। बुद्धि का स्पर्श वेदना को सान्त्वना में रूपान्तरित कर देता है।

काण्ट नामक जर्मन दार्शनिक ने कला-शास्त्र के दृष्टि-कोण को स्पष्ट करते हुए 'उदात्त' के स्वरूप को निश्चित किया है। वह कहता है कि समुद्र-तट पर खड़े होकर दिगन्त-व्यापी जल-राशि को देखिए। उस समय बुद्धि को हस्तक्षेप न करना चाहिए, क्योंकि 'यह समुद्र पृथ्वी-गोलक का तीन चौथाई भाग है' 'अनेक राष्ट्रों के लिये वह उपयोगी जल-मार्ग है' आदि बौद्धिक विचार आते ही समुद्र के साक्षात्कार करने से जो भावना जाग्रत होती है वह दब जायगी। अतएव समुद्र की अनन्तता, तरलता, विस्तार आदि को अपनी पूर्ण शक्ति के साथ तल्लीन होकर हृदय में आने दीजिए। उस समय 'समुद्र का सौन्दर्य' हृदय में भावना बन कर उमड़ेगा। बुद्धितत्त्व के स्थगित होने से तन्मयता की वृद्धि होगी और भावना और भी तीव्र हो जायगी। इस अवस्था में प्रेक्षक के हृदय में एक अपूर्व वेदना का उदय होगा—वह अनन्त, उत्ताल तरङ्गमय जल-विस्तार उसके लघु जीवन के लिये कितना विशाल है! इससे हृदय कुछ सहम और सिहर उठेगा। किन्तु दूसरे ही क्षण मानो इस विशालता का पूर्ण आस्वादन करने के लिये हृदय में भी 'विशालता' का उदय होना प्रारम्भ होगा। आत्मा को अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव होगा; नवीन ज्योति और शक्ति जग उठेंगी। यह अनुभव जिसे काण्ट 'आध्यात्मिक स्फूर्त्ति' (Spiritual reinvigoration) कहता है 'उदात्त' का सार है। उदात्त की अनुभूति में सौन्दर्य का सरस आनन्द नहीं होता। वैसे भी जीवन में सुख से भी अधिक दुःख में प्रेरक शक्ति होती है। इसलिये सौन्दर्य के अनुभव में इतना मानसिक स्फुरण नहीं रहता। उदात्त के अनुभव में अनन्त वेदना के उदय से पहले तो कुछ 'संकोच' और 'भार' (Depression) का अनुभव होता है, किन्तु इसी कारण फिर नवीन चेतना, शक्ति और स्फूर्त्ति का जागरण होता है।

उदात्तानुभूति का आनन्द इसी आध्यात्मिक स्फूर्ति के उदय का आनन्द है। समुद्र, पर्वत-शिखर, विशालकाय गिर्जे, मन्दिर आदि के देखने से हम 'उदात्त' का अनुभव करते हैं।

काण्ट का मत सत्य होने पर भी संकुचित है। उदात्त के अनुभव में अन्य कई तत्त्व सम्मिलित रहते हैं।

(३)

आधुनिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण कुछ गम्भीर है। यूंग नामक जर्मन पंडित ने 'सुन्दर' और 'उदात्त' के विवेचन में आध्यात्म विद्या के आधार-तत्त्वों का प्रयोग कर उसे गम्भीर बना दिया है। उसके अनुसार हमारे मानसिक जीवन का आधार एक अनन्त, अपरिमेय, अपौरुषेय, अचेतन तत्त्व है जिससे हमारा चेतन मन, कामना और प्रवृत्तियाँ, यहाँ तक कि हमारा व्यक्तित्व, अहंभाव, हमारे धर्म, दर्शन और कला का उदय होते हैं। यह अज्ञेय तत्त्व है; किन्तु इससे उदय होने वाली व्यक्त सृष्टियों को देख कर हम यह निश्चय समझते हैं कि यह साक्षात् जीवन-शक्ति (Life-energy) है जो अपनी तृप्ति अभिव्यक्ति द्वारा पाने के लिये निरन्तर जाग्रत रहती है। अभिव्यक्ति द्वारा तृप्ति चाहने वाली यह शक्ति अपनी परम तृप्ति स्त्री और पुरुष के शरीर में पाती है। स्त्री और पुरुष, इनका नैसर्गिक बनाव और पारस्परिक आकर्षण, इसी जीवन-शक्ति का एक पहलू है जिसे यूंग 'काम' अथवा Libido कहता है। सम्पूर्ण जीव-सृष्टि में काम व्यापक तत्त्व है। यह एक सृजनात्मक शक्ति है : इसी से धर्म, समाज-व्यवस्था आदि का आविर्भाव होता है। इसी से कला और सौन्दर्य का भी उदय होता है। सौन्दर्य में काम-तत्त्व की सरसता, विह्वलता, रस-चर्वणा सभी विद्यमान रहते हैं। फ्रॉयड जो यूंग का गुरु है सौन्दर्य के आस्वादन को मन के द्वारा काम-रस का आस्वादन मानता है। केवल भेद इतना है कि भोग का माध्यम वास्तविक अनुभव से ऊपर कल्पना हो जाता है। सौन्दर्य के आस्वादन में जीवन की शक्ति स्वयं काल्पनिक माध्यम द्वारा काम-रसमय (Sexualized) हो जाती है। प्राकृतिक वस्तु अथवा मनुष्य द्वारा सृष्ट कला-कृति जो भी इस

आत्म-तत्त्व को रसमय बनाने में समर्थ होती है वह हमारे लिये 'सुन्दर' होती है।

परन्तु, यूंग के अनुसार, 'सुन्दर' से भी अधिक तृप्ति मनुष्य को उस समय प्राप्त होती है, जब वह स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण को त्याग कर अथवा इससे ऊँचे उठ कर आत्मा के आधार-भूत अनन्त तत्त्व में एकाकार होने का प्रखर अनुभव करता है। उस समय हमारा सीमित व्यक्तित्व, उसके साधारण सुख-दुःख, पाप-पुण्य की मीमांसा, विधि-निषेध के विधान, सभ्यता और संस्कृति का दायित्व, मानो आत्मा के अनन्त, अचेतन अन्तराल में समाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अनन्त की इस भावना के उदय से हमारा ससीम व्यक्तित्व एक ओर तो सिहर उठता है, किन्तु दूसरी ओर बन्धनों से मुक्त होकर अद्भुत आह्लाद का अनुभव करता है। उदात्त की अनुभूति में 'अनन्त वेदना के साथ अनन्त आनन्द का अनुभव' ही इसका प्राण है। ससीम व्यक्तित्व के एक साथ असीम हो उठने से अनन्त वेदना और बन्धनों की मुक्ति से आवरण-भंग होने से—अनन्त और अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। सृष्टि में अनेक दिव्य पदार्थ हैं जिनको हृदयंगम करने से हमें इसी 'अनन्त' तत्त्व का अनुभव हो जाता है। इसकी अभिव्यक्ति से आत्मा भी असीम और अनन्त हो उठता है और इसके व्यक्तिगत बन्धन छूटने लगते हैं। कला में भी संगीत, चित्र, मूर्ति, भवन आदि के देखने से कभी-कभी इसी प्रकार का अनुभव होता है। इन सब पदार्थों को हम 'सुन्दर' ही नहीं 'उदात्त' भी कहते हैं। इनकी अनुभूति भी 'उदात्त' कहलाती है।

संक्षेप में, इस मत के अनुसार, ससीम, बन्धन-ग्रस्त मानव व्यक्तित्व में असीम और अनन्त तत्त्व के उदय से अनन्त वेदना और अनन्त आनन्द का एक कालिक अनुभव होता है। यह अनुभव ही 'उदात्त' का अनुभव है।

(४)

भर्तृहरि ने अपने शतकों में सुन्दर और उदात्त भावनाओं का विशद् रूप उपस्थित किया है। 'शृङ्गार शतक' में सौन्दर्यानुभूति की मूलभूत भावना अर्थात् काम और इसकी चर्वणा से उत्पन्न रस का निरूपण है। इसमें दार्शनिक कवि सौन्दर्य के अधिष्ठातृ देव की जिनके—विचित्र चरित्र वाणी के लिये अगोचर हैं

प्रार्थना द्वारा मङ्गलाचरण करता है : 'वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय।' काम को सौन्दर्य के प्राण रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये भर्तृहरि को वैदिक साहित्य से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। बृहदारण्यक में उपनिषद् में पति-पत्नी की उत्पत्ति का वर्णन दार्शनिक है। सर्व प्रथम वह आत्मा एकाकी ही उत्पन्न हुआ, किन्तु उसको रमण और रञ्जन के लिये कुछ न मिला। सारा विश्व नीरस प्रतीत हुआ, तब उसने 'द्वितीय' की इच्छा की और अपनी एक ही आत्मा को द्विधा अर्थात् दो भागों में विभक्त किया जिससे पति और पत्नी का उदय हुआ। इस प्रकार एक ही आत्मा के दो भाग होने के कारण इनमें स्वाभाविक आकर्षण और इतनी मनोरमता है। इनका पुनः संयोग इतना चमत्कार और रस उत्पन्न करता है कि यह क्षण आनन्दानुभूति का प्रकृष्टतम समय होता है जब कि जीवन की सम्पूर्ण वेदना पिण्डीभूत होकर प्रखर हो उठती है। उपनिषद् के इस दार्शनिक विवेचन को अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की 'लोचन' नाम की टीका में स्वीकार किया है और कहा है कि रति अत्यन्त व्यापक भावना है। इसके समान जीवन में सन्तुलन और 'हृदय-संवाद' (Hdarmony) उत्पन्न करने वाली अन्य भावना नहीं है। पति के हृदय में भी यह चमत्कार उत्पन्न करती है।

भर्तृहरि का शृङ्गार-शतक स्त्री को सौन्दर्य का परम प्रतीक सिद्ध करने के लिये काव्यात्मक दर्शन ग्रन्थ है। वस्तुतः स्त्री का शरीर सम्पूर्ण कलाओं की समष्टि है। उसमें संगीत की मधुर ध्वनि और चित्र के रंग और रेखाओं का सुन्दर विन्यास है। उसकी गति में नृत्य की गति है। वास्तु-कला और मूर्तिकला के सापेक्ष, सन्तुलन आदि सभी सिद्धान्त वहाँ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। उसके वचनों में साहित्य का प्राण है जिसे हम रस कहते हैं। कला-विशारदों द्वारा की गई रूप, शोभा, कान्ति, समता, लावण्य, सुन्दर आदि की परिभाषाएँ अपना जन्म स्त्री के शरीर से लेती हैं। इन सबसे बढ़कर, वह आध्यात्मिक और शारीरिक वेदनाओं की परम तृप्ति करने में समर्थ है। इस प्रकार भर्तृहरि ने सौन्दर्य के सारभूत और कलाओं की समष्टि-रूप स्त्री को अपने 'दर्शन' का केन्द्र माना है। रति और रस-चर्वणा इस सौन्दर्य के आधार हैं।

किन्तु भर्तृहरि सच्चे दार्शनिक की भाँति सरस सौन्दर्य से सन्तुष्ट न होकर 'उदात्त' भावना की ओर क्रमशः चलते हैं। इसके लिये 'वैराग्य' का उदय होना आवश्यक है। भर्तृहरि ने वैराग्य के मूर्त्तदेव 'कामारि' की प्रार्थना से उदात्त-भावना के मूल भूत सिद्धान्त का निरूपण करने के लिये 'वैराग्य-शतक' का प्रारम्भ किया है। वैराग्य काम की विरोधी भावना अवश्य है, किन्तु इसका मूल जहाँ से इसे स्वरूप और शक्ति मिलती है वही है। वैराग्य का पूर्ण विकास कई भूमियों के अनन्तर होता है। अन्तिम भूमि में 'उदात्त' की प्रखर अनुभूति का उदय होता है। सबसे प्रथम तो वैराग्य का उदय हृदय में विकलता-पूर्ण 'शून्यता' का अनुभव उत्पन्न करता है। स्त्री के सरस सौन्दर्य में आसक्त मन, वैराग्य के उदय से, मानो अकस्मात् एक अपूर्व प्रकाश-लोक में जग उठता है, और, उसे इन्द्रियों की प्रवञ्चना स्पष्ट होने लगती है। एक ओर अतृप्त मन सौन्दर्य के रसमय लोक की ओर लालायित होकर देखता है, और, दूसरी ओर उसे वैराग्य का आलोकमय उदात्त रूप झलकने लगता है। अब उसे 'स्त्री' प्राणिलोक के पाश की भाँति विष और अमृतमय प्रतीत होने लगती है। जिसका सृजन उसने स्वयं अपने मन से आत्मा को द्विधा विभक्त करके किया था, अब वह नहीं समझ पाता कि इसकी सृष्टि किसने की है: 'स्त्रीयंत्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिलोकसपाशः।' वह कहने लगता है कि सारे सुखों का मूल स्त्री ही सारे दुखों का मूल भी है: 'नान्यन्मनोहारि नितम्बनीभ्यो दुःखैक हेतु र्न च कश्चिदन्याः।'

यह वैराग्य की प्रथम भूमि है। इसमें विकलता और वेदना रहती है। किन्तु इसमें शून्यता होती है; अतः वैराग्य का आनन्द नहीं रहता। इस शून्यता में कोई कला की सृष्टि भी इसीलिये सम्भव नहीं। यदि इस दशा में किसी कला अथवा साहित्य का निर्माण होता भी है तो वह केवल उत्ताप, अतृप्ति, विकलता का वर्द्धक होता है। किन्तु हृदय की यह शून्यावस्था देर तक नहीं रहती। इसमें शम और सन्तोष के स्रोत फूटने लगते हैं और जीवन का विशेप दृष्टिकोण और पथ प्रशस्त होने लगता है। अब पश्चाताप और विकलता का स्थान स्थिरता और शान्ति ग्रहण करती हैं। भोग के प्रति उदासीनता इस द्वितीय अवस्था का

मुख्य लक्षण है : 'प्राताः श्रिय : सकलकामदुघा स्ततः कि' यह औदासीन्य की प्रकृष्ट अवस्था है।

उदासीनता वैराग्य की 'उत्ताप' के अनन्तर दूसरी भूमि है। यह भूमि शून्य नहीं, किन्तु ऊर्वर है। गिर्जे, चैत्य आदि का प्रारम्भ, तीर्थों का अटन, तपोभूमि, संन्यास और जीवन की सरलता उदय इसी भूमि में हुआ है। स्मरण रहे कि चैत्य से स्तूप और स्तूप से मन्दिर का विकास हुआ है। चैत्य स्मशान-भूमि में बने हुए ध्यान-गृह को कहते हैं जहाँ मनुष्य मृत्यु के समीप रह कर वैराग्य को दृढ़ बनाता है। धार्मिक साहित्य और कला का पर्याप्त भाग इसी उदासीनता की भावना की उपज है।

उदासीनता के अनन्तर हृदय में नवीन सृष्टि करने के लिये नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा का उदय होता है। प्रतिभा के उन्मेष से कल्पना सौन्दर्य-लोक को छोड़ कर आदर्शों के दिव्य-लोक में जाती है। हमारे लोक से भिन्न स्वर्ग और बैकुण्ठ, शिव, सत्य लोकों और दिव्य विभूतियों की रचना प्रारम्भ हो जाती है। यह जीवन में 'पलायन' प्रवृत्ति का उदय है। इसमें वैराग्य से प्रथम बार ही आनन्द का स्फुरण होता है। यह मानसिक अवस्था अत्यन्त ऊर्वर होती है। सभी देशों के सभी धर्मों का साहित्य, उनके सिद्धान्त और कल्पनाएँ, मन्दिरों, गिर्जों की भव्य मीनारें, शिखर, कलश, दिव्य मूर्तियाँ तथा धर्म की सारी दिव्य व्यवस्था, इसी प्रवृत्ति की उपज हैं।

भर्तृहरि की पलायन प्रवृत्ति ने 'लीला दग्ध विलोल कामशलभ' : 'ज्ञान-प्रदीप हर' और शिवलोक की अत्यन्त उदात्त कल्पना की है।

शनैः शनैः वैराग्य की आभा में कल्पना-लोकों से भी ऊपर दिव्य-आनन्दमय लोक का दर्शन होने लगता है। ज्ञान-प्रदीप हर को छोड़ कर एक व्यापक तत्त्व का आविर्भाव होता है जिसमें सारे लोक सन्निहित हैं, जिसमें मृत्यु और जन्म दोनों ही समाविष्ट हैं, जिसमें सांसारिक भोग क्षणिक विलास की भाँति हैं। यह लोक 'काल' है। भर्तृहरि अपने वैराग्य के विकास में सर्वव्यापी काल-तत्त्व का अनुभव करते हैं और उसे नमस्कार करते हैं :

सर्वं यस्य वशादगात्स्मृति पथं कालाय तस्मै नमः ।

किन्तु काल स्वयं भय है । इसके विशाल गर्भ में सब कुछ क्षण की भाँति आगमापायी है । इसलिये इस अवस्था में आनन्द न्यून रहता है । हम काल को नमस्कार करते हैं; किन्तु हम स्वयं काल नहीं है । वैराग्य का विकास इस स्थिति में नहीं ठहर सकता । अपनी पूर्णता के लिये वह स्वयं ही व्यापक तत्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है । उसका पृथक् व्यक्तित्व, उसके बन्धन और सीमाएँ अध्यात्म की एकत्व-भावना में मग्न होने लगती हैं; उसका व्यक्तित्व तो नाश पाता है, किन्तु उसका आत्मा उस ब्रह्म-तत्त्व में निमग्न होकर अद्भुत आलोक और आनन्द का स्वरूप धारण करता है । यह वही व्यक्ति है जिसके लिये "नचास्मिन संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम् ।" अब वही कहता है : "ज्ञानापास्त समस्त मोहमहिमा लीये परम ब्रह्मणि ।"

ब्रह्म-लय वैराग्य की चरम भूमि है, और, साथ ही अनन्त वेदना जो वैराग्य से उत्पन्न होती है इस चरम-भूमि में पहुँच कर अनन्त आनन्द को भी उत्पन्न करती है । यही 'उदात्त' को अनुभूति है ।

(५)

सच पूछा जाये तो 'धर्म की अनुभूति' उदात्त की अनुभूति है, क्योंकि धर्म का उदय ही जीवन में असीम और अनन्त तत्त्व की स्पष्ट अथवा अस्पष्ट झाँकी से होता है । हमारे जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणा और प्रार्थना इसी तत्त्व को पाने के लिये है । यदि जीवन केवल जन्म से मृत्यु तक ही सीमित है, यदि इसके आगे और पीछे सत्ता ही समाप्त है तो वह तुच्छ, हेय पदार्थ प्रतीत होने लगेगा । अनन्त और असीम की प्रतीति से जीवन में महत्त्व का उदय होता है, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, का अर्थ गम्भीर हो जाता है । इसाई धर्म ने पश्चिमीय देशों को आत्मा के अमरत्व का संदेश देकर उन्हें पशु-जीवन से दिव्य जीवन की ओर आगे बढ़ाया । उदात्त का जो स्वरूप हमें ईसा से मिला है, उसमें मृत्यु के ऊपर अमरत्व की विजय, शरीर के ऊपर आत्मा की विजय, क्रोध के ऊपर क्षमा की विजय, का दिव्य संदेश है । इसाई धर्म ने ईसा की मूर्तियों द्वारा, इटली देश

के अनेक विख्यात चित्रकारों द्वारा निर्मित चित्रों और सारे योरोप में इतस्ततः प्रसृत गोथिक गिर्जों द्वारा, इसी 'उदात्त' भावना को सवाक् और समूर्त्त बनाया है।

बुद्ध का 'निर्वाण' वस्तुतः जीवन की सीमाओं से पार जाकर असीम सत्ता में लय हो जाना है। उसे 'विनाश' अथवा दीपक का बुझ जाना ही समझिए। किन्तु इस विनाश और शून्य के आभास से जीवन में एक नवीन आभा और स्फूर्त्ति का जन्म होता है जिससे बुद्ध की असंख्य मूर्तियों और अनेक देशों में फैले हुए स्तूप और पैगोडाओं का निर्माण हुआ। जीवन अनन्त विषाद है; इसका अवसान केवल निर्वाण द्वारा ही सम्भव है। मृत्यु और निर्वाण में ही विषाद के अवसान से अनन्त आनन्द का आविर्भाव सम्भव हो सकता है। यद्यपि बुद्ध ने जीवन अथवा मृत्यु में आनन्द और सुख को स्वीकार नहीं किया था, तथापि अनन्त विषाद के अवसान की कल्पना को उन्होंने मनुष्य-जीवन का ध्येय माना था। इससे भी एक लोकोत्तर वेदना और सन्तोष का अनुभव होता है। बौद्ध धर्म में 'उदात्त' का स्वरूप यही अनुभूति है।

महाभारतकार व्यास की 'शान्ति' की कल्पना अद्भुत है। यह विश्व अनादि और अनन्त, सीमा-हीन, निरन्तर गतिशील काल का प्रवाह है। इस विराट् में असंख्य ब्रह्माण्ड, कोटि-कोटि शशि-सूर्य रोम-रोम में समाये हुए हैं। हमारी साधारण कल्पना इस विराट् का दर्शन कर ही नहीं सकती। इसके लिये दिव्यचक्षु की आवश्यकता होती है। इस विराट् का साक्षात्कार होने पर हमारा लघु जीवन एक साधारण बुद्बुद की भाँति जान पड़ता है। सृष्टि और प्रलय विराट् के श्वासोच्छ्वास हैं, जीवन और मृत्यु उसकी क्रीड़ा हैं। इस दर्शन से हम जिसे अपने जीवन में सुख-दुःख, पाप-पुण्य, प्रेम-सौहार्द आदि कहते हैं वे सब निरर्थक हो जाते हैं। हमारा ससीम व्यक्तित्व इस असीम का प्रतिरोध कैसे करे? अतः हमारे व्यक्तित्व की सीमाएँ विस्फारित होने लगती हैं; उसके प्रेम, राग, पुण्य आदि की मीमांसा व्यर्थ होने लगती हैं। इससे जीवन का सम्पूर्ण विषाद जग उठता है। अर्जुन का विषाद जीवन की वास्तविक वेदना है। इसका उपचार केवल प्रिय प्रतीत होने वाले ससीम व्यक्तित्व का त्याग करना है। तब तो हम स्वयं असीम 'काल' हो जाते हैं। सारी सृष्टि का आनन्द ही मेरा आनन्द हो

जाता है। सब भय समाप्त हो जाते हैं, सब बन्धन गिर जाते हैं। आत्मा अपने दिव्य, अमेय, अनन्त स्वरूप को पाकर परम स्वास्थ्य का अनुभव करती है। इस अनुभूति को 'शान्ति' कहते हैं जिसमें सुख और दुःख का स्पर्श नहीं है, पाप और पुण्य का द्वन्द्व नहीं है, जीवन और मृत्यु का संघर्ष नहीं है। इस स्थिति को पाकर हम व्यास के इस उपदेश के भागी हो जाते हैं। "त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज।" धर्म और अधर्म, सत्य और अनृत दोनों को छोड़ दें क्योंकि स्वतंत्र और अनन्त आत्मा के लिये दोनों ही बन्धन है, और, जिस अहंभाव से इनका त्याग करता है उसको भी त्याग दे। शान्ति का लोक इन द्वन्द्वों और बन्धनों के उस पार है, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा और तारे नहीं चमकते, न वहाँ विद्युत् ही प्रकाश करती है, किन्तु जहाँ से ये सब अपना-अपना प्रकाश पाते हैं। जहाँ भय नहीं है, किन्तु जिसके भय से पवन चलता है, नदियाँ बहती हैं, बादल जल बरसाते हैं। संक्षेप में, सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ का आशय इसी शान्ति के स्वरूप को समझाना है। व्यास ने जोवन की भयंकर परिस्थितियों का चित्रण किया है जब हमारा हृदय इस 'शान्ति' के लिये व्याकुल होता है, जिस शान्ति के लिये त्रैलोक्य के राज्य की भी भोग-लिप्सा फीकी पड़ जाती है, वीरों का वीरत्वाभिमान दीन बनकर "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" की पुकार कर उठता है।

श्रीकृष्ण भगवान् का जीवन 'सुन्दर' और 'उदात्त' की परम उत्कृष्ट कल्पना है। उनमें माधुर्य है, रूप, नृत्य, संगोत, शोभा प्रेम, औदार्य, वीरता, नम्रता इत्यादि दिव्य गुणों का ऐश्वर्य है। इसी से वह आज भी दिव्य सौन्दर्य के प्रतीक माने जाते हैं। किन्तु उनके सौन्दर्य में परम शान्ति की अलौकिक झलक है; जब सब रोते हैं किसी की मृत्यु पर, तब वह अपने विराट्-रूप को सँभाल कर मुस्कराते हैं। यदु-वंश का विनाश, स्वयं अपना प्रस्थान भी उन्हें विचलित न कर सका। यह 'उदात्त' की परमोच्च अनुभूति है। श्रीकृष्ण में 'उदात्त' और 'सुन्दर' का सामञ्जस्य है। इस उदात्त सौन्दर्य की छाया को पाने के लिये योगी ध्यान लगाते हैं; भक्त भजन करते हैं। हमारे देश के असंख्य कलाकारों, कवियों

और दार्शनिकों ने अनेक माध्यमों द्वारा इस अलौकिक सौन्दर्य को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया है।

(६)

ऊपर बताये हुए 'उदात्त' सम्बन्धी मत विरोधी नहीं हैं; वस्तुतः ये एक ही अनुभूति को विभिन्न दृष्टि-कोणों से समझने के प्रयत्न हैं, जिससे ये मूलतः एक ही पदार्थ की ओर संकेत करते हैं। ये दृष्टि-कोण तीन प्रतीत होते हैं। दार्शनिक दृष्टि से 'उदात्त' वह पदार्थ है जो अपने 'बृहत्' रूप के प्रभाव से मनुष्य में 'लघुता' के अनुभव को जाग्रत करता है। न केवल इतना ही, अपितु उसे 'लघुता' को त्याग कर 'ब्रह्मता' को स्वीकार करने के लिये 'विवश'-सा करता हुआ प्रतीत होता है। इस विचार के अनुसार हम प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य में 'उदात्त' के प्रभाव को समझ सकते हैं। आकाश, समुद्र, पर्वत, विशाल नद, आदि वस्तुओं के दर्शन अथवा ध्यान से 'ब्रह्मता' और 'विवशता' का अनुभव उत्पन्न होता है। हमने 'विवशता' पर इसलिये अधिक बल दिया है कि साधारणतया मनुष्य अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्त होने में भय का अनुभव करता है; उसे मानो अपने अस्तित्व के नष्ट हो जाने का अनुभव होता है। समुद्र की विशालता देख कर उसके आकर्षण से विशालता की अनुभूति ही अपने लघु अस्तित्व से मिट जाने का भय है। इस भय की दो धाराएँ हो सकती हैं। एक तो वह जिसमें भय की वस्तु स्थूल है जैसे नद, पर्वत, समुद्र आदि; दूसरे वह जिसमें भय का उद्‌गम सूक्ष्म और आध्यात्मिक तत्त्व होता है। दूसरे प्रकार में काल की अनन्तता और अनादिपन, विश्व की निस्सीमता आदि को 'भय' का आविर्भाव होता है। प्रेम में भी प्रेमी प्रेयसी के प्रति अथवा उपासना में उपासक उपास्य के प्रति आत्म-बलिदान का अनुभव करता है। वह अपने अस्तित्व को मिटा कर उपास्य के अनन्त अस्तित्व में मिल जाना चाहता है। भक्ति के काव्यों और कलाओं में 'उदात्त' का अनुभव भक्त की इस 'मिटने' और 'मिलजाने' की प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है। कबीर की काव्य-साधना में उदात्त-अनुभूति का मूल 'काल' 'शब्द' की आत्मोपासना है जिसमें साधक स्वयं उपास्य का रूप धारण करके अपने साधारण व्यक्तित्व को त्याग कर बृहत् व्यक्तित्व को पाता है।

कबीर को धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि का विरोध करने वाला क्रान्तिकारी दार्शनिक और उपासक माना जाता है। इस विरोध के मूल में व्यक्तित्व की सीमा और उपाधियों को छिन्न करके अनन्त आत्म-तत्व के साक्षात्कार करने की आध्यात्मिक प्रवृत्ति विद्यमान् है। हमारे समय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने राष्ट्रीय, राजनैतिक, भौगोलिक सीमाओं के ऊपर 'अनन्त' तत्त्व का दर्शन करने के लिये 'मानवता' के आदर्श को उपस्थित किया है। यह 'उदात्त' तत्त्व का ही अनुभव है जिसमें मनुष्य अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व को खोकर मानव व्यक्तित्व का आविर्भाव करता है। कलाकार होने के कारण कबीर और ठाकुर दोनों ने ही 'उदात्त' सत्य की अभिव्यक्ति कला के साधनों द्वारा की है और कल्पना के बल से इस सत्य को माधुर्य प्रदान कर सत्यतम बना दिया है। कबीर के रहस्य पूर्ण पदों में उदात्त अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति है। कार्य-क्षेत्र भिन्न होने के कारण गान्धी जी की उदात्त भावना का रूप कलात्मक न होकर सामाजिक हुआ। वे वस्तुतः 'महा-मानव' थे।

दूसरा दृष्टि-कोण मनोविज्ञान का है। 'उदात्त' की मानसिक अनुभूति में प्रवृत्तियों को गतिरोध से उत्पन्न अद्‌भुत पीड़ा का समावेश रहता है। 'सुन्दर' के अनुभव में यद्यपि प्रवृतियों की तृप्ति नहीं होती, तथापि इनका विरोध नहीं किया जाता। मूल वासनाओं के उद्रेक से आनन्द की प्रतीति भी होती है। किन्तु 'उदात्त' की अनुभूति में प्रवृत्तियों का गतिरोध होता है। जहाँ कहीं इनकी गतिरोध होता है वहाँ मनुष्य की अन्तरात्मा का प्रवाह, जल-प्रवाह के रुकने की भाँति, ऊपर को चढ़ने लगता है, और एक प्रकार की आत्मोद्दीप्ति अथवा आत्म-विस्फूर्ति का अनुभव होता है जिसमें पीड़ा का अवश्य समावेश रहता है। उदाहरणार्थ : त्याग, आत्म-बलिदान, उदारता, आत्म-विजय आदि की घटनाओं में, जिनके आधार पर साहित्य और कला में पर्याप्त मात्रा में सृजन होता है, मनुष्य की साधारण मनोवृत्तियों का दमन होता है। यह वह अनुभव है जिसे युँग ने कामतत्त्व का रूपान्तरण या De-Sexualigation कहा है। इसके अनुभव में मनुष्य की आत्मा में गतिरोध के कारण नवीन स्फूर्त्ति, दीप्ति और वेदना का उदय होता है, किन्तु साथ ही आत्मा नीचे स्तर से ऊँचे स्तर की ओर

चढ़ती हुई प्रतीत होती है। यही 'उदात्त' की अनुभूति है। कला के माध्यम में पड़ कर यह अनुभूति प्रखर और मनोरम हो उठती है। दुःखान्त नाटकों में, धर्म, मानवता, राष्ट्र आदि के लिये, सत्य आदि की रक्षा के लिये किए गये आत्म-बलिदानों की कथाओं और कलात्मक अभिव्यक्तियों में इसीलिये रसिक के हृदय में आनन्द भी होता है और आँसू भी उबल उठते हैं।

'वस्तु' की दृष्टि से 'उदात्त' का रूप सुन्दर के रूप की अपेक्षा अधिक 'भव्य' होता है और कहीं तो रूप की विरूपता ही अथवा विन्यास का अभाव ही उदात्त की अनुभूति का आधार होता है। प्रलय, विनाश के दृश्य, खण्डहर अथवा विशाल चट्टान आदि के साक्षात्कार से जिस अनुभव का आविर्भाव होता है उसमें 'रूप' कारण नहीं, अपितु 'रूप' का अभाव ही कारण होता है। सुन्दर भवन दर्शन से 'सौन्दर्य' की अनुभूति अवश्य जगती है, किन्तु खण्डहर का दृश्य उससे भी ऊँची 'उदात्त' की अनुभूति जाग्रत करने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त 'रूप' से सीमा की प्रतीति होती है। इसलिये प्रकृति के भव्य पदार्थ, आकाश, समुद्र, बना आदि, रूप के अभाव से 'निस्सीम' होकर उदात्त प्रतीत होते हैं।

कला में सौन्दर्य

हम यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि सौन्दर्य कला के क्षेत्र से बाहर सम्भव नहीं। सत्य तो यह है कि प्रकृति में सौन्दर्य है : उसमें रूप, भोग, अभिव्यक्ति हैं, उसमें 'शृङ्गार' से लेकर 'भयानक' तक सभी रसों की सरसता है, उसमें कमलों के कोमल सौन्दर्य से लेकर पर्वत-शिखरों और समुद्रों का उदात्त सौन्दर्य विद्यमान है। जहाँ से सम्पूर्ण सौन्दर्य के सिद्धान्तों का उदय हुआ है वह मानव-शरीर प्रकृति की सृष्टि है। वस्तुतः जो व्यक्ति प्रकृति के अनेक पदार्थों और क्षेत्रों में सौन्दर्य के आस्वादन में असमर्थ है, वह कला के मार्मिक सौन्दर्य का तनिक भी अवगाहन नहीं कर सकता। रूसी दार्शनिक कैनोविच तो यहाँ तक कहता है कि सौन्दर्य प्रकृति की व्यापक भावना है जिसकी प्रेरणा से (Will-to-Beauty) इसका उद्‌गम और विकास हुआ है। हमारे आकाश और इसके पिण्डों का निर्माण, वनस्पति और जीव-जगत्, यहाँ तक कि समाज में भी विकास द्वारा प्रकृति ने अधिकाधिक सौन्दर्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। हमारे देश में तो कपिल के सिद्धान्त, सांख्य दर्शन, के अनुसार, प्रकृति नर्तकी है, जो अनेक आभरणों से सज्जित होकर पुरुष के मनोरञ्जन के लिये मनोहारी नृत्य करती है। प्रकृति स्वभाव से ही मनोहर और सुन्दर है, और, पुरुष उसका प्रेक्षक एवं भोक्ता है।

तब फिर 'कला' का क्या प्रयोजन है? क्या कला प्राकृतिक सौन्दर्य से बढ़कर किसी अन्य सौन्दर्य की सृष्टि करती है, अथवा केवल प्रकृति का अनुकरण करती है अथवा चित्रण और प्रतिबिम्बन करती है? कला-सृजन का क्या रहस्य है : हमारे हृदय के किस विशेष अन्तराल में स्वरों से भावों की जगमगाहट लिए हुए संगीतों का सृजन होता है; चित्रकार की तूलिका में से रंग और रेखाओं का आकार लिये किस प्रकार सजीव चित्र निकल आते हैं? किस प्रकार शिल्पकार की कील द्वारा एक साधारण प्रस्तर-खण्ड अनेक भावों को लेकर

सजग हो उठता है, तथा, कवि किस प्रकार के लोक से लाकर शब्दों में चमचमाहट, ध्वनियों में राग, दिव्य गन्धों का वैभव, प्रेम का उन्माद और प्राणों की पीड़ा भर देता है ? वह क्यों हठात् ही हमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणों की सुध-बुध भुलाकर इस लोक के ऊपर अलौकिक आलोक और आनन्द के लोक में ले जाता है ? इत्यादि कला-सम्बन्धी अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना प्रस्तुत अध्याय का प्रयोजन है। इन प्रश्नों के उत्तर से हम सौन्दर्य के रहस्य को और भी समझने में समर्थ होंगे, कारण कि कला के क्षेत्र में सौन्दर्य कलाकार के हृदय में उदय होता, पलता और पुष्ट होता है, और, फिर अनेक माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त होता है। यद्यपि कलाकार स्वयं ही अपने हृदय की इस विशेष अवस्था से परिचित नहीं रहता जिसमें सौन्दर्य का उदय और सृजन होता है, तथापि वह कुछ तो उस लोक की झाँकी पा लेता है और सृजन के रहस्य को, अस्पष्ट रूप से ही सही, समझ पाता है।

कला-शास्त्र की मौलिक कठिनता अब स्पष्ट होनी चाहिए : कलाकार स्वयं कला-सृजन के रहस्य से विशेष परिचित नहीं होता क्योंकि मन की एक विशेष अवस्था में, जिसे अर्द्धमूर्च्छा, स्वप्न, समाधि अथवा उन्माद भी कहा गया है, सौन्दर्य का उदय और सृजन होता है। पंडित जो सौन्दर्य का आस्वादन करता है उस अवस्था से परिचित नहीं हो सकता क्योंकि रसास्वादन और सौन्दर्य-सृजन की क्रियाएँ भिन्न माननी चाहिए। यहाँ तक भी अंशतः सत्य है कि कवि केवल काव्य का स्रष्टा होता है, वह उसके माधुर्य का आस्वादन करने में असमर्थ होता है। ("कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः") हमारी यह कठिनता इसी प्रकार की है जिस प्रकार की कठिनता का अनुभव सीता जी की सखी ने श्रीराम के प्रथम दर्शन के समय किया था। वाणी उनके सौन्दर्य का वर्णन कैसे करे क्योंकि देखा तो आँखों ने है और, आँखें स्वयं रसास्वादन में समर्थ हैं किन्तु उन्हें वाणी का वरदान प्राप्त नहीं! (सखि सुषमा किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥) फलतः कलाकार और पण्डित दोनों ही कला-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ प्रतीत होते हैं।

इस कठिनता का सुलझाव केवल यही सम्भव है कि किसी एक ही

स्थल पर 'नयन' और 'वाणी' का मिलन हो। वस्तुतः यह मिलन होता भी है, क्योंकि हमने रसास्वादन की क्रिया का निरूपण करते समय माना है कि आस्वादन में आध्यात्मिक स्फुरण (Self-activity) अथवा चर्वणा उसका प्राण है। कलाकार जिस आध्यात्मिक स्फूर्त्ति का अनुभव अपने अन्तर में करता है उसी को पुनः जागरण किये बिना रसिक सौन्दर्य का आस्वादन नहीं कर सकता। रसिक और कलाकार का यह मिलन भावना के स्तर पर कला के भाव-लोक में होता है : दोनों ही सौन्दर्य के जगत् में तन्मय होकर पहुँचते हैं। उस जगत् में बुद्धि तर्क को त्यागकर केवल एकतान ध्यान करती है। प्रवृत्ति और प्रेरणा की हलचल स्थगित हो जाती है। ऐसी अवस्था में रसिक और कलाकार मानव-भावना के शुद्ध और साधारण रूप का अनुभव करते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि कवि अपनी कारयित्री (उत्पादक) प्रतिभा के कारण उस भाव-लोक की आनन्दानुभूति को मूर्तिमान्, रूपवान्, गतिवान् और प्राणवान्, बना देता है; रसिक अपनी भावयित्री (रसास्वादन करने वाली) प्रतिभा के बल से उस अनुभूति के स्वरूप को समझने योग्य बना लेता है।

ऊपर के निरूपण से यह अर्थ निकलता है कि *कला का सौन्दर्य मानव-सौन्दर्य* है। वह कलाकार की मानवता के अध्यात्म-लोक में उदित और संमूर्त्त होता है। उसमें कलाकार के अध्यात्म-लोक का आलोक, माधुर्य, संगीत और सजीवता रहती है; उस सौन्दर्य में कलाकार के प्राणों की वेदना, उसकी अध्यात्म-चेतना, उसकी प्रखर और गूढ़ अनुभूतियों का स्पन्दन रहता है। कलात्मक सौन्दर्य में, अर्थात् हमारे संगीत, चित्र, मूर्ति और काव्यों में, कलाकार के हृदय की उदारता, विशालता, उन्माद और उत्पीड़न रहते हैं। रसिक और कलाकार दोनों का आध्यात्मिक रूप एक ही है। अतएव रसिक कलात्मक-सौन्दर्य को अपनी निकटतम, तीव्रतम और मधुरतम अनुभूति मानकर उसका आस्वादन करता है। प्रकृति में उसके नद,-पर्वत, सुमन और सागरों में *दिव्य सौन्दर्य* होता है। वह किसी अनन्त भावना से *प्राणन* करता प्रतीत होता है। मनुष्य उस दिव्य-कलाकार की अनन्त आत्मा, उसके अनन्त आलोक, आनन्द और उल्लास का, उसके असीम विस्तार और अमेय मान का

हृदयंगम इतने समीप होकर नहीं कर पाता, जितना कला के मानव-सौन्दर्य का। प्रकृति के सौन्दर्य की दिव्यता का अनुभव करने के लिये मनुष्य स्वयं दिव्य हो उठता है, किन्तु उसमें मानवता का आरोप नहीं कर पाता। जब कभी मनुष्य प्राकृतिक पदार्थों पर मानवता का आरोप करता है : अर्थात् प्रकृति में अपने शोक, प्रेम, आवेगों की कल्पना करता है तो प्राकृतिक सौन्दर्य विरूप हो जाता है। सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि में ऐसा करना भ्रम और दोष है जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने Pathetic fallacy और Sympathetic illusion अर्थात् भावनात्मक भ्रान्ति कहा है। यह सत्य है कि प्रकृति और मानव की आत्मा मूलतः एक ही हैं : दोनों में समान वेदना और चेतना का स्फुरण होता है, किन्तु कला तो मानव आत्मा की स्पष्टतम अभिव्यक्ति है। अतः कला का सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्थर्य की अपेक्षा हमारे अधिक निकट है।

कला में मानव-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही कला-सृजन के लिये मूल-प्रेरणा है। कला-सौन्दर्य की मानवता ही कला को महत्त्व और औचित्य प्रदान करती है। यही इसका प्राकृतिक सौन्दर्य से अन्तर और अतिशय है, और, इस प्रकार मानवता ही कला-सौन्दर्य के परीक्षण के लिये उसकी अचूक कसौटी है।

कला-सौन्दर्य मानवता के कारण ही प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है।

(२)

कला-सौन्दर्य का पार्थिव माध्यम स्वर, वर्ण, शब्द, रेखा आदि हैं, किन्तु इसका आध्यात्मिक माध्यम कलाकार की मानवता है। मनुष्य होने के कारण ही वह कला द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यहाँ पृष्ठव्य यह है कि किस मानव-प्रवृत्ति से कला का जन्म होता है! यूनान देश के दार्शनिक 'अनुकरण' (Mimesis) की प्रवृत्ति से कला का उदय मानते थे। मनुष्य अपने चारों ओर प्रकृति के सौन्दर्य को देखता है और उससे प्रभावित होकर वह पार्थिव माध्यम द्वारा उसका चित्रण करता है। मनुष्य में अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति है ही। अतएव कला-सृजन अनुकरण की क्रिया है और कला-सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रतिविम्ब है।

यह सिद्धान्त भ्रान्ति-मूलक है, कारण कि एक तो कलाकार प्रकृति का पूर्णरूपेण प्रतिविम्बन नहीं कर सकता, दूसरे यदि वह येन-केन प्रकारेण कर भी सका तो यह कला का वास्तविक सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। यदि कलाकार का पुष्प प्राकृतिक पुष्प का अनुकरण-मात्र है तो इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं। हम एक को दूसरे की पूर्ण प्रतिकृति नहीं मान सकते। सत्य तो यह है कि जब तक कलाकार की दृष्टि बहिर्मुख अर्थात् पुष्प की ओर लगी है और जब तक उसका सारा प्रयत्न रंगों में प्रतिविम्ब उतारने के लिये है, उस समय तक कला का उदय ही नहीं होता। जिस समय कलाकार की दृष्टि अन्तर्मुखी होकर अपनी ओर मानी है, उस पुष्प के सौन्दर्य से उत्पन्न आध्यात्मिक प्रभावों का अनुशीलन करती है—पुष्प के कोमल, कान्त, निष्पाप, क्षणिक जीवन का अनुगमन करती है तब वह पुष्प प्राकृतिक वस्तु न रहकर मनुष्य के अध्यात्म-जगत् की वस्तु हो जाती है; वह पुष्प मानव-जीवन का प्रतीक बन कर स्वयं चेतना की व्यक्त मूर्ति बन जाता है। कलाकार प्राकृतिक पुष्प का अनुकरण न करके मानवीय अथवा आध्यात्मिक पुष्प का दृश्य-माध्यम द्वारा निरूपण करता है। अतएव कला-सृजन का प्रारम्भ ही उस समय होता है जब अनुकरण की प्रवृत्ति स्थगित हो जाती है। यदि कला का पुष्प प्राकृतिक पुष्प से कुछ अधिक नहीं है तो वह व्यर्थ है। कलाकार अनुकरण करके प्राकृतिक पुष्प से सुन्दर और सजीव पुष्प की सृष्टि नहीं कर सकता; किन्तु अनुकरण न करके वह पुष्प को अपनी मानवता और तीव्र आध्यात्मिक चेतना का एक जीवित स्फुलिङ्ग बना सकता है।

कला-सृजन की क्रिया प्रकृति का अनुकरण नहीं, प्रकृति के रूपान्तरण (Transformation) की क्रिया है। कलाकार अपनी प्रतिभा के बल से जड़ को चेतन बनाता है और वस्तु को अपनी मानवता से ओतप्रोत करके उसे रसास्वादन के योग्य बना देता है। कला के सौन्दर्य का सत्य प्रकृति की प्रतिकृति होकर सिद्ध नहीं होता। कला जहाँ तक प्रकृति की अनुकृति होगी, वहाँ तक उसका सौन्दर्य असत्य होगा। कला का सौन्दर्य अनुकरण न होकर भी—अनुकरण न होकर ही—सत्य हो सकता है। क्योंकि कलाकार ऐतिहासिक सत्य

की स्थापना नहीं करता, वह अपने अन्तर्लोक की मानवता और सत्यतम अनुभूति का कला द्वारा उद्‌घाटन करता है। कला का सत्य कलाकार की मानव अनुभूति का सत्य है।

योरोपीय कला की प्रवृत्ति कुछ बाह्य जगत् से प्राप्त प्रेरणा को ही रूप देने की रही है। किन्तु यह प्रवृत्ति कला को जन्म नहीं दे सकती, यह शीघ्र ही वहाँ के विचारकों ने अनुभव किया था। प्लेटो के अनन्तर अरस्तु ने शुद्ध अनुकरण के सिद्धान्त को छोड़ कर प्रकृति के सामान्य रूप का चित्रण स्वीकार किया। उसके अनुसार हम इस या उस पुष्प का चित्रण नहीं करते, किन्तु 'पुष्प' अर्थात् पुष्प-गत सामान्य गुणों का चित्रण करते हैं। यह सिद्धान्त भी हमें मान्य नहीं, कारण कि चित्रण अथवा अनुकरण कला को प्रकृति से ऊँचा नहीं उठा सकता। भारतीय कला अनुकरण-सिद्धान्त के सदैव विमुख रही है; इसलिये हमारी कला में प्राकृतिक वस्तुओं की अनुकृति खोजने वाले कला-मर्मज्ञों को निराशा होती है। वस्तुतः चित्रण की प्रवृत्ति तो सब स्थानों पर पाई जाती है; किन्तु 'चित्रण' करने वाली कला,—यदि उसे कला कहें तो—हमारे यहाँ कभी सम्मानित नहीं हुई।

आधुनिक समय में शिलर नामक विचारक ने अनुकृति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु प्लेटो के विरुद्ध कारणों को लेकर। प्लेटो के लिये कला अनुकरण-मात्र होने के कारण नैतिक दृष्टि से मनुष्य के लिये हेय वस्तु थी; किन्तु शिलर के लिये मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह अपनी कल्पना-शक्ति के बल से अनुकृतियों से भी वही आनन्द पा सकता है जो वह प्रकृति से पाता है। हमारा इसके प्रति यही कथन है कि कलाकार की सृष्टि यदि कल्पना को सन्तोष दे सकती है तो वह केवल प्रकृति की शुद्ध प्रतिकृति नहीं है।

यहाँ से एक नूतन सिद्धान्त का श्रीगणेश होता है। योरोप के अनेक विचारकों ने कला में कल्पना की तुष्टि को उसके सृजन का मूल कारण माना है। बेकन, एडीसन, कूज़ाँ आदि अनेक विचारक कहते हैं कि मानव-हृदय अपने चारों ओर की प्रकृति में अनेक अपूर्णताएं पाकर असन्तुष्ट होता है। इस असन्तोष के कारण वह कल्पना से पूर्णरूपेण सुन्दर और सर्वाङ्गीण वस्तुओं

का सृजन कला के रूप में करता है। वह कला द्वारा सौन्दर्य और पूर्णता के आदर्श उपस्थित करता है। कला-सृजन की क्रिया अतिशय-करण Idealization की क्रिया है। कला प्रकृति की अपूर्णताओं की पूर्त्ति करती है और मनुष्य को वह आनन्द प्रदान करती है जिसके लिये प्रकृति स्वयं असमर्थ है। कला मनुष्य के लिये आस्वादन के क्षेत्र को विस्तृत बनाती है।

इस सिद्धान्त में कई बाधाएँ हैं: एक तो यह कि प्रकृति को अपूर्ण, हेय और सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करने में अक्षम स्वीकार करना हमें उचित प्रतीत नहीं होता। हम प्रकृति को सौन्दर्य का निधान मानते हैं, और, मानते हैं कि वह मनुष्य जो प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य का आस्वादन करने में असमर्थ है उसके लिये कला-सौन्दर्य अवश्य ही अगम्य होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे जिस व्यक्ति को आँखों से बिल्कुल दिखाई नहीं देता उसको चश्मा लगाने से भी कुछ नहीं दिखाई देगा। यह माना कि उस व्यक्ति को जो अन्धा नहीं है चश्मा लगा देने से दूर तक स्पष्ट दिखाई दे सकता है, किन्तु कला में तो सौन्दर्य-आस्वादन की योग्यता स्वाभाविक होती है। कला इस योग्यता में वृद्धि नहीं करती। अतएव जिसकी स्वाभाविक रसिकता कुंठित है और जो प्राकृतिक पुष्प के सौन्दर्य का अनुशीलन करने में असमर्थ है, वह मनुष्य कलाकार के पुष्प में रसास्वादन नहीं करता।

दूसरी बाधा इस सिद्धान्त में यह है कि मनुष्य केवल कल्पना-जीवी प्राणी नहीं है। रसास्वादन में कल्पना की तुष्टि ही कला का परम ध्येय नहीं हो सकती। सौन्दर्य का भोग मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से करता है, एकांश से नहीं: (अखण्ड बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम्) यह सम्भव नही कि वह अपने नैतिक, सामाजिक, धार्मिक विचारों और भावनाओं को एक ओर रख कर केवल कल्पना के सन्तोष के लिये कला के सौन्दर्य में निमज्जन करें। यदि यह सत्य है तो कला में मानव-व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति मानना चाहिए। कल्पना द्वारा कला प्रकृति की न्यूयताओं की पूर्त्ति कर सकती है, यह भी निस्सन्देह सत्य नहीं प्रतीत होता, कारण कि एक तो हम केवल कल्पना के

भोग से सन्तुष्ट नहीं होते, दूसरे, कला के काल्पनिक आदर्श कागज़ के फूलों की भाँति आकार आदि में सुन्दर प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उनमें सौन्दर्य की सरसता और सौरभ, स्पर्श का उन्माद और रूप की निष्पापता आदि की भावना और आनन्दानुभूति को जाग्रत करने की शक्ति नहीं हो सकती। अन्ततः सत्य तो यह है कि कला में प्राकृतिक पुष्प का सौन्दर्य नहीं, मानव-पुष्प का सौन्दर्य है। कला प्रकृति का अनुकरण अथवा आदर्श होकर सुन्दर नहीं होती। वह केवल मानव-जीवन की—कलाकार की मानवता—की अभिव्यक्ति से सौन्दर्य ग्रहण करती है।

तब तो हमें स्वीकार करना चाहिए कि कला का मूल-स्रोत प्रकृति नहीं, पुरुष है; इसलिये कला-सृजन की प्रक्रिया अनुकरण नहीं, अभिव्यक्ति है।

(३)

अभिव्यक्ति (Expression) ही कला है। किन्तु कला क्या अभिव्यक्त करती है? हमारे अनुसार, कला मानवता की अभिव्यक्ति है। किन्तु मानवता का अन्तराल विशाल है। वह एक अनन्त अध्यात्म लोक है, जहाँ अनेक वेदनाएँ स्पन्दन करती हैं, बुद्धि का प्रखर प्रकाश अपनी किरणों का विस्तार करता है, भावना के तरल स्रोत बहते हैं। इस सम्पूर्ण लोक की अभिव्यक्ति कला में कैसे होती हैं, इस प्रश्न को लेकर विभिन्न कला-मर्मज्ञों ने अपने-अपने उत्तर दिये हैं।

काण्ट नामक जर्मन दार्शनिक के अनुसार हमारा सम्बन्ध दो लोकों से है। एक है प्रकृति का लोक या बाह्य जगत् जिसमें शब्द, स्वर, गति, रंग, रूप और नाना पदार्थ हैं। इसमें नियमों की कठोरता है। कोई भी प्राकृतिक पदार्थ अपने नियमों का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वहाँ परतंत्रता का पूर्ण प्रभाव है। यह लोक जड़ और स्पन्दनहीन है। दूसरा लोक है आत्मा का, जहाँ जीवन और भावना हैं, जहाँ विचार और विवेक है। यह लोक चेतन है और इसमें मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव करता है। कला इन दोनों—जड़ और चेतन, प्राकृतिक और आध्यात्मिक—लोकों का मिलन है। कला के द्वारा

चेतन-लोक के अनुभव, वहाँ का विवेक और स्वतंत्रता संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति और साहित्य का रूप धारण कर जड़ता के लोक में प्रवेश करते हैं। वैसे तो चेतन आत्मा प्रकृति के काल, दिशा और परिस्थितियों के बन्धनों से बँधे हुए लोक में पद-पद पर परतंत्रता का अनुभव करती है, किन्तु कला-सृजन और आस्वादन के क्षण में जड़ प्रकृति में—स्वर, गति, रंग, रेखा और प्रस्तरों में—आत्मा के प्रकाश का स्फुरण हो उठता है, जीवन की लहरें तरङ्गित हो जाती हैं, भावों का आलोक जगमगा उठता है। कला-सृजन में आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता का मूर्त्त रूप में अनुभव करती है। कला का उद्देश्य, आदर्श और साफल्य प्राकृतिक रूप में आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति है।

हीगेल काण्ट का अनुगामी है। वह विश्व को चेतना की मूर्त्त रूप मानता है। यह चेतना ही प्रकृति और जीव-जगत् में ओत-प्रोत है। हम इसे जड़ नहीं मान सकते। विकास होते-होते यह व्यापक विश्व-चेतना मनुष्य में बुद्धि और विवेक का रूप धारण करती है और सवाक् हो उठती है। हम इसे बुद्धि (Reason) नाम देकर इसका सम्मान करते हैं। यद्यपि प्रकृति में यह तत्त्व ओतप्रोत है तथापि इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति वहाँ नहीं होती, कारण कि वहाँ पर्याप्त विकास नहीं है। कलाकार अपने कौशल से प्रस्तरों से भवन और मूर्ति बना कर, रंगों और रेखाओं से चित्र बना कर, स्वरों से संगीत, गति से नृत्य, शब्दों से साहित्य की रचना करके, उसी व्यापक बुद्धि-तत्त्व को स्पष्ट कर देता है। कला बाह्य जगत् में अव्यक्त रूप से निहित बुद्धि अथवा अध्यात्म-तत्त्व को व्यक्त करने की क्रिया है। इसी कारण एक मूर्ति जड़ पत्थर का खंड नहीं है: वह चेतन-जगत् का प्रतीक और प्रतिनिधि है। हीगेल के अनुसार कला में ज्यों-ज्यों यह तत्त्व प्रस्फुटित होता जाता है, उसमें उत्तरोत्तर उच्चता का आविर्भाव होता है। उसके कथन के अनुसार वास्तु-कला अथवा भवनादि के निर्माण में सबसे कम आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, इसके अनन्तर मूर्ति में इससे अधिक, चित्र में और भी अधिक। किन्तु चित्र तक आत्मा केवल दृश्य रूप में ही अभिव्यक्त होती है। स्वरों में संगीत का रूप धारण कर आत्मा का रूप और भी स्फुट हो उठता है। शब्द तो बिल्कुल आध्यात्मिक हैं ही।

इसलिये आत्मा की सरल और स्फुटतम अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। हीगेल यहीं नहीं रुकता। साहित्य में भी काव्य, नाटक, उपन्यास आदि की अपेक्षा विज्ञान में आत्मा का विवेक और सत्य प्रकाश प्रकट होता है। विज्ञान से भी बढ़कर दर्शन सत्य का प्रत्यक्ष रूप है जिसमें सम्पूर्ण विज्ञानों का समन्वय किया जाता है। अतएव दार्शनिक के दर्शन में—उसके सिद्धान्तों में—दो आत्मा का मानो साक्षात्कार ही हो जाता है।

हीगेल के कला-दर्शन की विशेषता यह है कि यह कला को अभिव्यक्ति-स्वरूप मानकर जितनी भी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं उनमें कला को उचित स्थान देता है। इससे कला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि का कृत्रिम अन्तर दूर हो जाता है और इनमें तारतम्य स्थापित हो जाता है। इस सिद्धान्त में त्रुटि इस बात की है कि यह वैज्ञानिक और कलात्मक उद्देश्यों और अनुभूतियों के भेद को स्पष्ट नहीं कर सकता। हमने कहा है कि विज्ञान में 'सत्य' की अभिव्यक्ति होती है, इससे चित्त में 'प्रसन्नता' का उदय होता है। परन्तु कला सौन्दर्य की सृष्टि करती है जिसके आस्वादन से 'रस' का अनुभव होता है। इस 'रस' के स्वरूप को हीगेल का कला-दर्शन समझाने में असमर्थ है। उसके लिए कला में यदि कोई रस है तो वह विज्ञान के आनन्द या दार्शनिक सिद्धान्तों के मनन से उत्पन्न प्रसन्नता के अतिरिक्त पदार्थ नहीं है।

हर्ष की बात है कि हीगेल के बुद्धिवाद का विरोध उसी देश के शोपेन-हावर नामक दार्शनिक ने किया। उसने कला के आस्वादन में उसकी वेदना, जीवन का स्पन्दन, गति, तन्मयता और आनन्द की विह्वलता पर विशेष ध्यान दिया। शोपेन हावर जीवन में एक ही वेदना को स्वीकार करता है। वह वेदना है जीवन की इच्छा (The Will to Live) किन्तु इस इच्छा का विघात निरन्तर होता रहता है। जीवन और मृत्यु के सनातन संघर्ष में जीवन परास्त होता है, मृत्यु को विजय होती है इससे एक अपूर्व पीड़ा का उदय होता है। यह सांसारिक कष्टों की पीड़ा नहीं है, यह आन्तरिक पीड़ा है जो सनातन है और जिसका अनुभव दार्शिनिक स्तर पर मनुष्य को होता है। इस पीड़ा को कैसे भुलाए मनुष्य ? विज्ञान द्वारा ? सांसारिक भोगों

द्वारा ? यह सम्भव नहीं। शोपेन हावर के अनुसार इस महापीड़ा से त्राण मिलता है या तो उपनिषद् के महालय और मोक्ष के उपदेश के अनुसार, या बुद्ध के 'निर्वाण' द्वारा, जिसमें सभी इच्छाओं का चरम अवसान हो जाता है। जब जीवन की इच्छा ही न रहेगी तो उस 'निर्वाण' और 'मोक्ष' की अवस्था में वेदना का चरमान्त हो जायगा। शोपेनहावर उपनिषद् की पुस्तकों को सदा पास रखता था और कहा करता था कि इनसे जीवन में शान्ति मिलती है, इन्हीं से मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी। इसके अतिरिक्त जीवन की महा-वेदना को विस्मृत करने का साधन कला है। कला हमें इस लोक से दूर ले जाकर कल्पना और भावना के आलोक-लोक में ले जाती है, जहाँ हमें यह वेदना भूल जाती है। संगीत में यह क्षमता सर्वाधिक है, इस लिए संगीत सब कलाओं का आदर्श है। प्रत्येक कला, शोपेनहावर के अनुसार, अपने चरम विकास की अवस्था में संगीत का रूप धारण करती है।

हमारे समय में मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) नामक शाखा ने जिसका उदय भी जर्मनी में ही हुआ है हीगेल के बुद्धिवादी सिद्धान्त का विरोध किया है। हम इसका उल्लेख फ्रॉयड और युंग के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के समय कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना है कि कला काम (Sex) अथवा जीवन-शक्ति (Libido) को मूर्त्त करने का प्रयत्न करती है। काम भी एक अनन्त, व्यापक, अचेतन किन्तु प्रबल तत्त्व है जो हमारी अन्तरात्मा के रूप में हमीं में विद्यमान है। वह वास्तविकता के संसार में बन्धनों को त्याग कर निरन्तर तृप्ति चाहता है। भोजन, पान, मैथुन, रूप, स्पर्श आदि अनेकों प्रकार से यह कामना तृप्ति के लिए विकल रहती है। यही कामना वस्तुओं को सौन्दर्य और आकर्षण प्रदान करती है। कला भी इसी की तृप्ति के अनेक साधनों में से एक साधन है। कला के द्वारा रसिक सौन्दर्य के कल्पना-लोक में कुछ वास्तविकता के बन्धनों से मुक्त होकर, मानसिक भोग प्राप्त करता है। अतः मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार कला 'काम-तत्त्व' की अभिव्यक्ति है। जैसा हमने पहले कहा है कि जब यह काम-तत्त्व सरस होकर तृप्ति और आसक्ति उत्पन्न करता है, हम कला को 'सुन्दर' कहते हैं। जिस समय यही तत्त्व सरस

(Sexualized) न होकर विरस और विरक्त (De-sexualized) हो उठता है, तब वेदना के अनुभव से 'उदात्त' की अनुभूति होती है ।

हमारे देश में भी कला में एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति मानने वाले कई विचारक हो चुके हैं । भोजराज सम्पूर्ण कला में 'शृंगार-तत्त्व' की अभिव्यक्ति मानते हैं । उनके लिये अन्य सम्पूर्ण भाव और भावनाएँ इसी तत्त्व की दीप्ति को समृद्ध करने के लिये हैं, जैसे आकाश के प्रकाश-पिण्ड सूर्य के चारों ओर रह कर उसी के तेज को बढ़ाते हैं (शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्द्धयान्ति) वह वृक्ष की शाखाओं की नाईं सम्पूर्ण रस एक शृङ्गार से ही उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार भवभूति केवल करुण-रस को ही सम्पूर्ण कला में अभिव्यक्त अनुभूति मानते हैं । अन्य कोई 'आश्चर्य' को कला-नुभूतिं का प्राण मानते हैं । उनके लिये कला 'अदभुत' की अभिव्यक्ति है । क्षेमेन्द्र के अनुसार कला का प्राण 'औचित्य' है । रस, अलङ्करण, गुण इत्यादि की संयोजना कला-कृति में औचित्य के नियमों का उल्लङ्घन नहीं कर सकती । अतएव कला 'औचित्य' की अभिव्यक्ति है ।

वस्तुतः ये सब पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्त जीवन के असीम अन्त-राल में एक तत्त्व की गवेषणा करते हैं और व्यर्थ ही उसे संकुचित बनाते हैं । कला-सृजन के पीछे अ-रूप को रूप देने की प्रेरणा है, अव्यक्त को व्यक्त, अमूर्त्त को मूर्त्त, अवाक् को सवाक् बनाने की प्रवृत्ति है । यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि कला का आविर्भाव और सृजन और इसके पीछे रहने वाली मूल प्रेरक शक्ति 'मानव' की आत्मा के देश में पलते हैं । कला का मूल और आध्यात्मिक माध्यम 'मनुष्य' है । चित्र और संगीत का रूप धारण करने से पूर्व वह कलाकार की मानवात्मा का रूप धारण करती है । उसकी चेतना से चेतना, उसके प्राणों से जीवन का वरदान, उसकी वेदना से तीव्रता, उसकी आन्तरिक दीप्ति से प्रकाश ग्रहण करती है । कलाकार की आध्यात्मिक प्रसव-वेदना से परिचित व्यक्ति तो कला को उसके उत्पादक के रक्त-मांस-हृदय से बना हुआ 'आत्मज' ही मानेंगे

कला मानवता की अभिव्यक्ति है। कलाकार की मानवता से उसे मानवता प्राप्त होती है। किन्तु मानवता का अन्तराल असीम और अनन्त है। इसमें अनेक रस हैं, अनेक ज्योतियाँ हैं, अनेक आदर्शों का वैभव है। इसमें विकास भी होता है। अतएव मानवता के विकास और विस्तार के साथ कला का भी विकास, विस्तार होता है। प्रत्येक युग की कला अपने युग की मानवता का प्रतीक होती है। कलाकार अपने व्यक्तित्व में अपने युग की समष्टि का अनुभव करता है। उसके व्यक्तित्व में मानवता, उसके आदर्श, आह्लाद और अवसाद, गान और क्रन्दन, आशा और अभिलाषा सभी स्पष्ट हो उठते हैं। कलाकार युग के भी ऊपर उठता है, और, मानव-जगत् ही नहीं, सम्पूर्ण चराचर सृष्टि के मूल में उद्वेलित प्रेरणाओं को भी हृदयङ्गम करता है। अपने व्यक्तित्व में विराट् का प्रत्यक्ष करता है। वह अपने जीवन की स्फूर्त्ति में जहाँ तक पहुँच पाता है वहाँ तक उठ कर जीवन की अनन्तता और इसकी विविध वेदनाओं का अनुभव करता है। इन्हीं को मूर्त्त करना कला कहलाता है।

कला का कलाकार और उसकी मानवता से सम्बन्ध है, इस सत्य को बिना माने हम कला के इतिहास को और इसके तल ऊर्मिल शक्तियों को नहीं समझ सकते।

(४)

कला का उदय अ-रूप को रूप देने की प्रवृत्ति से होता है। यहाँ अ-रूप का रूपवान् हो जाना कला-सृजन है। किन्तु यह होती किस प्रकार है? इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने पूछा था। 'स्वर किस प्रकार संगीत में ढल जाते हैं? कहाँ से यह संगीत प्राणों की वेदना, जीवन का गूढ़ अवसाद पाकर स्वरों के आरोह-अवरोह का रूप ग्रहण करता है?' यहाँ हमें 'कहाँ' प्रश्न का उत्तर मिल चुका है, क्योंकि कलाकार का अध्यात्म-जगत् ही कला की वेदनाओं का उदय-स्थान है। किन्तु कला-सृजन का रहस्य इस 'किस प्रकार' के प्रश्न में छिपा पड़ा है। 'अरूप को रूप की प्राप्ति' का रहस्य कला का रहस्य है। रहस्य इसलिये है कि हमारी साधारण मानसिक अवस्था में यह सम्भव नहीं प्रतीत

होता। कलाकार के परिचित, परिमित और ज्ञात व्यक्तित्व से दूर कहीं अपरिचित, अनन्त और अज्ञात लोक में यह सृजन की क्रिया हो चुकती है और कलाकार अनायास ही कहीं से उतरते हुए छन्दों को ग्रहण करता है। जिस मानसिक अवस्था में कला का सृजन होता है अर्थात् गायक जिस समय स्वरों से संगीत, चित्रकार रेखा और रंगों से चित्र, मूर्तिकार प्रस्तर-खण्ड में से मूर्ति और कवि काव्य की रचना करते हैं, उस समय इनकी मानसिक अवस्था साधारण से इतनी भिन्न होती है कि कोई इसे भ्रम, उन्माद, स्वप्न, समाधि और कोई इसे प्रगाढ़ अचेतना की अवस्था कहते हैं। एक पाश्चात्य विचारक ने प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों और विद्वानों की मानसिक अवस्था का विश्लेषण करते हुए अपने ग्रन्थ Psychology of the men of Genius में कहा है कि ये असाधारण व्यक्तित्त्व रखने वाले महापुरुष विक्षिप्त और कुछ तो साधारण से गिरे हुए नैतिक चरित्र वाले थे। जिस प्रतिभा से कला का जन्म होता है वह हमारी लौकिक बुद्धिमत्ता की अपेक्षा मन की विक्षिप्त दशा के अधिक समीप है। वह यहाँ तक कहता है कि पागलपन और उन्माद के मिश्रण बिना मनुष्य प्रतिभाशाली नहीं हो सकता। सत्य भी यही प्रतीत होता है कि हम जिस बुद्धिमत्ता से बाजार में सौदा पटाते हैं उससे काव्य की रचना नहीं कर सकते। प्रतिभा की असाधारणता, और, कलाकार की वह विशेष मानसिक अवस्था जिसमें कला की सृष्टि होती है किन्तु जिससे वह स्वयं परिचित नहीं होता, कला-सृजन के रहस्य को समझने की कठिनाइयाँ हैं।

कई कला-मर्मज्ञों ने कला-सृजन के मर्म को समझने का प्रयत्न किया है।

कुन्तल कहता है : कला कुछ साधारण से भिन्न (वक्र) होनी चाहिए। बस 'वक्रता' को उत्पन्न करना ही कला-सृजन है। यह मत बिल्कुल निराधार नहीं है, क्योंकि हम 'असाधारण' में अधिक आनन्द पाते हैं और 'साधारण' हमारे लिये अरुचिकर हो जाता है। विनोद और हास्य की कला में वक्रता रहती है, क्योंकि जब तक हम कहते हैं 'कुत्ते ने मनुष्य को काटा' उस समय इसमें कोई रोचकता नहीं। रोचकता उस समय आती है जब इससे विपरीत हम कहने लगते हैं कि मनुष्य ने कुत्ते को काट लिया। बर्नार्ड शा की कला में जहाँ

अन्य कई गुण विद्यमान हैं, वहाँ वक्रता की भरमार है। उसके नाटकों के विषय वक्र हैं; उसकी उक्तियों में 'वक्रता' का चटकीलापन है। वर्त्तमान समाचार-पत्रीय—शैली में वक्रता की प्रधानता है। इससे वाचकों का ध्यान आकृष्ट होता है। किन्तु केवल 'वक्रता' के आधार पर हम सम्पूर्ण कला की भित्ति को नहीं रख सकते।

ऊपर के सिद्धान्त का उल्लेख हमने इस बात पर बल देने के लिये किया है कि कला-सृजन का रहस्य हमारे मन के चेतन प्रयत्नों द्वारा नहीं समझा जा सकता। हमारा साधारण 'अहं' 'मम' वाला व्यक्तित्व इतना संकुचित और बन्धन-ग्रस्त होता है: इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कामना और भावों का इतना भार रहता है और जीवन की व्यक्तिगत आकस्मिक परिस्थितियों का इतना कठिन आवरण रहता है कि इसमें कला-सृजन की स्वच्छन्द, आनन्दमयी सृष्टि सम्भव नहीं। कला-सृजन के लिये *पहले* तो आत्मा का अनन्त अवकाश चाहिए जिसमें स्वार्थ की सीमाएँ और व्यक्तिगत परिस्थितियों जटिल जाल न हों। तभी उसमें बृहत् मानवता का उदय होता है। *दूसरे*, कलाकार में तीव्र वेदना को अनुभव करने की स्वाभाविक ग्राहकता होनी चाहिए। उसमें जड़ता के स्थान पर चेतना की प्रकृष्ट स्फूर्त्ति होनी चाहिए जिससे उसका हृदय विश्व की आत्मा के साथ समवेदना में स्पन्दन कर उठे। वह स्रोत की तरलता, आकाश की अनन्तता, पुष्प की सरसता, मानव-जीवन की पीड़ा और स्त्री के रूप की सुकुमारता का अपने अन्तर में अनुभव करने के योग्य होना चाहिए। *तीसरे*, कलाकार को न केवल अपने में अर्थात् अपनी ज्ञानोन्मेषशालिनी प्रतिभा में, नित्य नवीन लोकों की सृष्टि करने में तत्पर कल्पना में, भावना-जीवन की तरङ्गों में, जड़ता का अनुभव न करना चाहिए, साथ ही, उसे अपने मूर्त्त माध्यम में भी जड़ता का अनुभव न होना चाहिये। यदि मूर्तिकार प्रस्तर-खण्ड को जड़-बुद्धि रखता है तो वह इसमें चेतना का संचार कैसे कर सकेगा? उसकी दृष्टि में तो पत्थर के खण्ड में चेतना, वेदना और भाव सोये हुए हैं। वह अपने कौशल से लोहे की कील से मानो खोद कर इन आध्यात्मिक अनुभूतियों को उसी पत्थर में जाकर जगा देता है। कलाकार अपने माध्यम को अपनी ही

उद्वेलित, आन्दोलित, आलोकित और स्वच्छन्द आत्मा का अभिन्न अङ्ग मान कर कला-सृजन के लिये उसमें तन्मय होकर प्रवेश करता है। वह स्वयं माध्यम बनकर उसमें अपनी अनन्त चेतना का आलोक भर देता है। गायक स्वयं स्वर बन जाता है और उसकी आत्मा में स्वरों का माधुर्य ओत-प्रोत हो जाता है, और, तब उस तन्मयता में—गायक और स्वरों की तदाकारता के क्षण में—स्वरों में रूप का उदय होता है, और, वे अनायास संगीत बन जाते हैं उनमें गायक का उन्माद और अवसाद पूर्णरूपेण छलक उठता है। जिसे हम साधारणतया कौशल (Technique) कहते हैं वह वास्तव में कलाकार और उसके माध्यम की आध्यात्मिक तन्मयता से उदय होता है।

कला-सृजन की उपरिलिखित तीन आवश्यकताओं के कारण कलाकार वस्तुतः कला-सृजन के क्षण में अवश्य ही 'अलौकिक' होता है। हमें इस 'अलौकिक' क्षण को समझने के लिये 'जाग्रत' अवस्था से दूर पहले 'स्वप्न' के लोक में चलता होगा जहाँ, थोरवर्न के अनुसार, कला की सृष्टि होती है।

हम सभी को 'स्वप्न' का अनुभव है। यह एक मानसिक अवस्था है जिसमें वास्तविक संसार से विच्छेद हो जाता है। वहाँ सोने वाला व्यक्ति ही रहता है, और, नेत्र बन्द होते हुए भी वह अनेक रूपों को देखता है, इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के कार्य स्थगित हो जाने पर भी अद्भुत शब्द, स्पर्श, गन्धादि का अनुभव करता है। मन भी वहाँ यदि है तो अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में है, किन्तु दुःख, हर्ष, प्रेम, पीड़ा इत्यादि सभी अनुभव वहाँ होते हैं। इस सबका अर्थ है कि स्वप्न एक स्वयं अपने प्रकाश का लोक है जिसमें मनुष्य की अन्तरात्मा किसी अवस्था में 'एकाकी' रहती है, और, देह के भार से मुक्त होकर मानो अपने साथ स्वच्छन्द क्रीडा करता है। स्वप्न-जगत् के सभी जीव, सभी अनुभूत पदार्थ मनुष्य की स्वच्छन्द विलास करने वाली आत्मा से उदय होते हैं। इस दशा में कल्पना भी उन्मुक्त होकर आत्म-तत्त्व (Soul-stuff) में से अनेक अद्भुत और अपूर्व दृश्यों और जीवों की सृष्टि करती है जिनकी कल्पना जाग्रत अवस्था में असम्भव थी। कलाकार भी कला-सृजन के लिये जाग्रत-अवस्था से दूर स्वप्न के अर्द्ध-चेतन झिलमिल करते हुए लोक में प्रवेश करता है। वहाँ

वह अपने व्यक्तित्व के भार से मुक्त होकर अपनी वेदनाओं को तीव्र होने देता है। केवल बन्धनों को शिथिल कर देने से ये वेदनाएँ स्वयं प्रखर, स्पष्ट और रूपवान् होना प्रारम्भ कर देती हैं। यदि कलाकार गायक है तो उसकी आत्मा स्वरों का रूप धारण करती है और उस समय कल्पना, वेदना से प्रेरित होकर, स्वरों की भाँति-भाँति की योजना करने लगती हैं। वहाँ जीवन में उस समय सन्तुलन और संवाद तो होता ही है। अतएव जीवन की सम्पूर्ण वेदना को लेकर, आत्मा के आलोक और विलास से चमचमाते हुए स्वर, कल्पना की योजना द्वारा संगीत में ढल जाते हैं। इस प्रकार संगीत गायक के स्वरमय स्वप्न-लोक की सृष्टि है। जाग्रत-अवस्था में उसे पाकर, होश आने पर, गायक स्वयं चकित हो जाता है और श्रोता उसे सुन कर उसी उन्मुक्त अवस्था का अनुभव करता है जिसमें संगीत का उदय कलाकार की आत्मा में हुआ था।

कल्पना की उर्वरता और वेदना की तीव्रता कलाकार की स्वाभाविक मानसिक सम्पति हैं जिसके लिये वह साधना करता है। तीव्र वेदना स्वयं स्वरूप-वती होने के लिये प्रवृत्त होती है। कल्पना—नवीन संस्थान, योजना और रूप-विन्यास आविष्कार करने की शक्ति है। कलाकार का प्रयत्न केवल व्यक्तित्व के बन्धनों से मुक्त होने के लिये होता है जिससे वेदना और कल्पना स्वच्छन्द होकर अपना-अपना स्वरूप ग्रहण कर सकें। इसके अतिरिक्त कलाकार अपने माध्यम के साथ एकाकार होने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न से वह स्वप्न जैसी अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ कला की सृष्टि होती है।

इस सिद्धान्त में एक न्यूनता इस बात की है कि स्वप्न की अवस्था में सोते हुए मनुष्य का व्यक्तित्व शेष रहता है। वह अपने दुःख से दुखी और अपने सुख से सुखी होता है। जब तक वह अपने अन्तर्लोक में जीवन का पूर्ण और उन्मुक्त, वेदना का सीमाहीन और व्यापक, अनुभव नहीं करता, उसकी कला में प्राणों को आन्दोलित करने की क्षमता नहीं आती। इसलिये कुछ मनो-वैज्ञानिक कला की सृष्टि का मूल-स्थान स्वप्न-लोक से भी दूर, गाढ़ निद्रा, सुषुप्ति अथवा पूर्ण अचेतन (Unconscious) अवस्था में मानते हैं।

यह सुषुप्ति अथवा 'अचेतन' कौन-सा लोक है ? हम सभी इस लोक में जाते हैं स्वप्न के अनन्तर। यद्यपि वहाँ 'जाग्रत' और 'स्वप्न' का जगत्, इन्द्रियों की हल-चल, मन के संकल्प-विकल्प कुछ नहीं है, किन्तु वहाँ कुछ भी नहीं है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि गाढ़ निद्रा के अनन्तर हम प्रसन्न और ताजे होकर लौटते हैं। सुषुप्ति के शून्य अन्तराल में केवल आत्मा (Psyche) रहती है और वह व्यक्तित्व के सम्पूर्ण बन्धनों को तोड़कर अत्यन्त लाघव का अनुभव करती है। अपनी असीम, बन्धन-हीन, केवल अपने आनन्द और आलोक से आभासित अवस्था में पहुँच कर वह अपूर्व सुख का अनुभव करती है। यह उसकी मूल-अवस्था (Primortial state) यूँग के शब्दों में है। यह अवस्था 'मृत्यु' से भिन्न नहीं है। किन्तु इस शून्यता, मृत्यु अथवा जीवन की मूल अवस्था से जीवन का उदय होता है और जीवन की प्रवृत्ति इसी अवस्था में पुनः-पुनः लौट आने की रहती है। यह फ्रॉयड के शब्दों में मृत्यु की कामना (Death-wish) है जो हमें जीवन से भी अधिक प्रिय है। यह सुषुप्ति, यूँग के अनुसार 'माता' (Matrin) है, क्योंकि इसी से हमारे दैनिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसी के अनन्त गर्भ में से मनुष्य अपनी मनुष्यता और जीवन की प्रेरणा और वासना पाता है। किन्तु 'माता' के गर्भ में लौटने की प्रवृत्ति जीवन में अत्यन्त प्रबल रहती है। हम अपनी आदिम सुषुप्ति-अवस्था के स्वच्छन्द सुख को भूल नहीं पाते। इस प्रकार एक ओर हम सुषुप्ति की अचेतन अवस्था से जाग्रत की ओर विकास की शक्तियों से धकेले जा रहे हैं, किन्तु जाग्रत जीवन के उत्तरदायित्व और बन्धन हमें, दूसरी ओर, उसी 'माता', 'मृत्यु' अथवा जीवन की मूल अवस्था की ओर लौटने के लिये प्रवृत्त करते हैं। जीवन इन्हीं दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष का फल है। कला, धर्म, सभ्यता इसी संघर्ष के परिणाम-स्वरूप उदय होते हैं।

कला का सृजन सुषुप्ति की अवस्था में होता है। जीवन की मूल-वेदना का वहाँ स्वच्छन्द स्फुरण होता है। यह मूल-वेदना स्वभावतः उस सुषुप्ति की अवस्था से जाग्रत अवस्था में आना चाहती है, ठीक उन्हीं कारणों से जिससे 'जीवन' स्वयं उस 'मृत्यु' की अवस्था से जाग्रत अवस्था मे आना चाहता है।

'मृत्यु' 'शून्यता' अथवा 'सुषुप्ति' का अनन्त लोक ससीम होने के लिये उद्वेलित होता है। यह कला-सृजन का नहीं, जीवन और जगत् की सृष्टि का भी रहस्य है। कलाकार की कल्पना, सृजन के इस क्षण में, स्वरों अथवा रेखाओं, शब्दों अथवा गतियों में, सुषुप्त आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये, उपयुक्त 'रूप' का सृजन करती है। यद्यपि सुषुप्ति के असीम अवकाश में 'मृत्यु' का प्रसार है, तथापि वहाँ से जीवन का स्पन्दन उदित होता है, वहाँ शब्द, स्पर्श, रस आदि अनुभव नहीं हैं तथापि इन्द्रियाँ अपनी चेतनाओं की स्फूर्त्ति वहीं से पाती हैं। जिस प्रकार 'मृत्यु' से 'जीवन' का उदय होता है, उसी प्रकार सुषुप्ति की 'शून्यता' में से संगीत, चित्र, मूर्ति का उदय होता है। 'संवाद' और 'सन्तुलन' तो जीवन के संघर्ष के कारण नष्ट होते हैं। सुषुप्ति की अवस्था में वेदना की तीव्रता के साथ ये भी जग जाते हैं। इसी से स्वरों में स्वयं ही संगीत की संगति और सन्तुलन का उदय हो जाता है। कलाकार सृजन द्वारा 'सुषुप्ति' और 'जाग्रत' की भेदक भित्ति को दूर कर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार रसास्वादन की क्रिया 'जाग्रत' में 'सुषुप्ति' की अनुभूति को, जीवन में मृत्यु की अनन्तता और सुख की अनुभूति की, जगाने की क्रिया है।

ऊपर की विचार-शैलो में कई दोष हैं : इससे कला में आस्वादन का स्वरूप तो समझ में आ जाता है, किन्तु कला का वैभव, उसके अलंकार, संगति प्रगति, रूप और भोग की मनोरमता, आदि का रहस्य नहीं खुलता। शून्य से संगीत का उदय अकस्मात् नहीं होता, वह कलाकार के माध्यम द्वारा होता है। अतएव कलाकार को एक ओर रख कर हम सुषुप्ति की अनन्त वेदना से स्वयमेव कला का आविर्भाव मानने को प्रस्तुत नहीं। माना कि अचेतन आत्मा व्यक्त होने के लिये आलोड़ित रहती है, माना कि कला का रूप धारण के लिये अचेतन की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है, किन्तु स्वरों का स्वयमेव संगीत बन जाना, रेखाओं से स्वयमेव चित्र निकल आना, शब्दों में स्वयमेव साहित्य का उदय हो जाना, जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व केवल निष्क्रिय साक्षी रहता हो, यह हमें मान्य नहीं। अतएव हमें ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता है जिसमें कलाकार का आध्यात्मिक विकास और उसका स्वयं व्यक्तित्व कला-सृजन की क्रिया में उपयोगी

माने जाते हों। इसके लिये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त 'तुरीय' अवस्था का विवेचन करना होगा जहाँ कलाकार के व्यक्तित्व का अस्तित्व रहता है यद्यपि उस व्यक्तित्व की सीमाएँ इतनी विशाल और गम्भीर हो जाती हैं कि हम साधारणतया उनका पता नहीं लगा पाते।

(५)

कला के सौन्दर्य में कलाकार के व्यक्तित्व का कहाँ तक समावेश रहता है? यह प्रश्न विचारणीय है। इसके अनन्तर हम कला की मूल-भूमि और सृजन के रहस्य को समझ सकेंगे।

ऊपर की विचार-धाराओं में हमने देखा है कि किस प्रकार कलाकार की स्वप्निल अथवा सुषुप्ति-ग्रस्त अवस्था में कला-सृजन की क्रिया होती है। इन विचार-धाराओं के पोषक यह मानते हैं कि इन अवस्थाओं में साधारण व्यक्तित्व के बन्धन शिथिल हो जाने से ऊर्वर कल्पना माध्यमों के द्वारा जीवन की मूल कामनाओं को अभिव्यक्त कर देती है। ये अभिव्यक्तियाँ ही कला हैं। इन अवस्थाओं में उत्पन्न होने के कारण कला में अद्भुत अवसाद होता है जो हमें आनन्द देता है, अपूर्व गति और सन्तुलन होता है जिसे हम सजग रह कर नहीं उत्पन्न कर सकते। किन्तु इन पोषकों के अनुसार ये अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें मानव-व्यक्तित्व का ह्रास होता है। अतएव कला ह्रास की दशा में उत्पन्न होकर व्यक्तित्व को शिथिल बनाती हैं, और, उनमें जितना कम मानव-व्यक्तित्व का स्पर्श होता है उतनी ही अधिक मार्मिकता, मनोहरता और आकर्षण रहता है। यॅग के अनुसार तो कला का सम्पूर्ण रहस्य सौन्दर्य के आकर्षण में निहित है जो आकर्षण वस्तुतः व्यक्तित्व को शिथिल बना कर हमारे 'जीवन' और इसकी शक्ति को 'मृत्यु' 'माता' अथवा 'सुषुप्ति' की ओर खींचता है। कला जीवन की रुचि को दुर्बल बनाती है। कला का जन्म उन्हीं जीवन को शिथिल, अस्त-व्यस्त बनाने वाली प्रवृत्तियों से होता है जिनसे उन्माद और पागलपन का उदय होता है : केवल कुछ अन्तर के साथ।

यदि कला का जन्म व्यक्तित्व के ह्रास से होता है तो उसमें कलाकार के

व्यक्तित्व का सम्पर्क नहीं होना चाहिए, न उसमें जीवन को नवीन स्तर पर ले जाने की शक्ति होनी चाहिए। किन्तु हमने सौन्दर्य से उत्पन्न आनन्द के स्वरूप का अध्ययन करते समय देखा है कि यह आनन्द आस्वादन की क्रिया है जिससे रसिक के हृदय में तीन प्रकार के प्रभाव अवश्य पड़ते हैं: क रसिक के हृदय के आवेगों का वेग-निरसन होता है। वह भय, क्रोध, काम आदि का अनुभव भावों के लोक में करता है जिससे इनके वेग शान्त हो जाते हैं जो हमारे साधारण जीवन में नहीं होता। ख. आस्वादन में आध्यात्मिक स्फूर्ति अवश्य होती है जिसके कारण जीवन के सुदूर कोनों में छिपी वेदनाएँ और भावनाएँ जाग्रत होती हैं, और, नवीन रसों का सञ्चार करती हैं। जीवन स्वयं जगता प्रतीत होता है और निर्बल होने के स्थान पर दृढ़ और उत्साहित होकर विकास के लिये नये क्षेत्रों का आविष्कार करता है। ग. जिन सत्यों की अवगति बुद्धि लाख तर्कों द्वारा करने में असमर्थ होती है, वे सत्य, बुद्धि की तर्क-क्रियाओं के स्थगित होने पर भी, आनन्द के आलोक में स्वयमेव उद्भासित हो उठते हैं। संगीत, चित्र, मूर्ति और साहित्य के माध्यम द्वारा न केवल भावनाओं का उद्रेक, विस्तार और विकास होता है, बल्कि नवीन विचारों को इनसे प्रेरणा मिलती है, नये क्षितिज दृष्टि-गोचर हो उठते हैं। यदि कला-आस्वादन का यह सत्य परिणाम है तो अवश्य ही कला-सृजन कलाकार के विकसित व्यक्तित्व द्वारा होना चाहिए, न कि उसके ह्रास की अवस्थाओं में।

हम तो यह मानते हैं कि कला का चेतन माध्यम कलाकार स्वयं है। अतएव हम कला को कलाकार से पृथक् नहीं कर सकते। कला में उसके सृष्टा के आदर्शों की उच्चता, उसकी अनुभूतियों की सत्यता और प्रखरता, उसकी कल्पनाओं की स्वच्छन्द गति, उसके प्राणों का अवसाद और जीवन की तरलता, यहाँ तक कि उसके चरित्र का सौरभ, रहते हैं। ज्यों-ज्यों उसमें मानवता का विकास होता है, नवीन दिशाओं से प्रेम, आनन्द, निवेदन, भक्ति के भाव जाग्रत होते हैं, नूतन आदर्शों का आलोक अन्तर्देशों में जगमगाता है, त्यों-त्यों कलाकार की कला भी समृद्ध होती है। प्रत्येक चित्रकार या कवि अपने-अपने व्यक्तित्व में से ही 'राम' और 'कृष्ण' को जीवन देता है। प्रत्येक चित्र चित्रकार की

आत्मा का परिचायक होता है। इस निश्चित सम्बन्ध से हम अब व्यक्तित्व की उस विकसित अवस्था का निरूपण कर सकेंगे जिसमें कला का सृजन होता है। यह 'समाधि' की अवस्था है जिसे 'योग' द्वारा प्राप्त किया जाता है। अनेक विचारकों के अनुसार कला-सृजन योग की क्रिया है।

(६)

योग और समाधि का आध्यात्मिक महत्त्व जो भी हो, ये हमें कला-सृजन की मानसिक अवस्था को समझने में सहायक होते हैं। हमने ऊपर इस अवस्था के लक्षणों का उल्लेख किया है और यह माना है कि हमारा 'अहं' और 'मम' वाला, प्रवृत्ति और प्रेरणा के निरन्तर आस्फालन को सहने वाला, सीमित व्यक्तित्व कला-सृष्टि के लिये असमर्थ होता है। कलाकार अपने में बृहत् व्यक्तित्व, महा-मानवता, या यों कहिए, ब्रह्मत्व का उदय होने देता है, जिससे उसके श्वासोच्छ्वास में विश्व का प्राण न होने लगे, उसके नेत्रों में दिव्य प्रकाश उत्पन्न हो और अन्तरात्मा में विश्वात्मा की शान्ति और वेदना, स्फूर्ति और उल्लास, समा जायें। इसका मतलब है कि कलाकार कला-सृजन के क्षण में अपनी इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति को रोककर इन्हें आत्मा में केन्द्रित करता है, प्राणों के विषम और अनियमित प्रवाह को सम और नियमित बनाता है, हृदय में उत्ताप और चंचलता को दूर कर उल्लास और सौन्दर्य को भरता है। उस क्षण में उसमें योगी की भाँति ही चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है। सम्भव है साधारणतया कलाकार उच्च चरित्रशाली न हो, किन्तु कला-सृजन के क्षण में वह निश्चल होकर नैतिक पुण्य-पाप की अवस्था से ऊँचा उठता है और उसमें ब्रह्मत्व का उदय हो जाता है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि उस समय कलाकार की मानसिक वृत्तियों का प्रवाह सन्तुलित, संगतिमय. स्वच्छन्द, उल्लासमय, और प्रखर होता है जिससे उसमें 'सृजनात्मक' शक्ति का उदय हो सके।

योग की सम्पूर्ण क्रिया आत्मा में सृजनात्मक शक्ति को जाग्रत करने के लिये होती है। हमारी साधारण मानसिक अवस्थाएँ 'क्षिप्त' 'विक्षिप्त' और 'मूढ़' होती हैं। यहाँ 'क्षिप्त' मन की इतस्तत बिखरी हुई चंचल अवस्था का नाम है

जिसमें वह क्षण-क्षण में विषयों की ओर दौड़ता है और अस्थिर रहता है [क्षिप्तं—सदैव रजसा तेषु-तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम्] 'मूढ़' अवस्था में तमोगुण के समुद्रेक से कामुकता, कलह निद्रा, भय आदि का उदय होता है और विक्षिप्त दशा में चित्त में कभी-कभी स्थिरता [कादाचित्कः स्थैमा] आ जाती है। योग के अनुसार ये तीनों मन की सर्व-साधारण अवस्थाएँ हैं जिनमें मलावरण से पदार्थ स्पष्ट नहीं दीख पड़ता। यहाँ से ऊपर 'योग' का प्रारम्भ होता है। योग-शास्त्र के अनुसार 'योग' अथवा 'समाधि' अत्यन्त कठिन और असाधारण अवस्थाएँ नहीं हैं। ज्योंही तम के आवरण को हटाने के लिये हम चित्त को स्थिर करते हैं, योग का प्रारम्भ हो जाता है। किसी उच्च विचार, भावना और योजना के आविष्कार के लिये चित्त की स्थिरता आवश्यक है। अतः 'योग' की क्रिया सृजनात्मक प्रयत्न के लिये अनिवार्य है।

योग का पहला भाग मलों को दूर करने के लिये होता है। इसका नाम 'चित्त-परिकर्म' है। मैत्री, करुणा, प्रसन्नता, और उपेक्षा आदि की भावना से हृदय के द्रोह आदि कालुष्य दूर हो जाते हैं। इसके अनन्तर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अष्टांग योग प्रारम्भ होता है। ये आठों अंग क्रमशः मन में अधिकाधिक स्थिरता, प्रसन्नता और लाघव उत्पन्न करते हैं। प्राणायम के स्तर पहुँचते-पहुँचते चित्त के द्वन्द्वों का अभिघात शान्त हो जाता है। उस समय चित्त-प्रकाश के आवरक मलों के हट जाने से हमारा ज्ञान केवल शाब्दिक न रह कर प्रत्यक्ष होने लगता है। इसे 'ज्ञान-दीप्ति' कहा जाता है [ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्—'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य]। समाधि की अवस्था तक पहुँचने पर सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ मानो पिण्डीभूत होकर केवल 'ध्येय' का आकार धारण कर लेती हैं। उस समय चित्त इतना निर्मल हो जाता है कि उत्तम मणि की भाँति उसमें पदार्थों का प्रतिबिम्ब अत्यन्त स्पष्ट होकर पड़ता है। उस समय हृदय में प्रज्ञा का आलोक फैलता है, [तज्जजायात् प्रज्ञालोकः], ज्ञान की प्रकृष्ट दीप्ति होती है [दीप्तिश्च ज्ञानस्य], भावनाएँ स्वयं शोक रहित और आत्म-ज्योति से उद्भासित हो उठती हैं। उस अवस्था में नैतिक बन्धनों से भी ऊपर शुद्ध

और सत्य 'धर्म' का प्रत्यक्ष होता है। वह जीवन की मधुमयी भूमि है जहाँ से कला अपना माधुर्य और सत्य का वैभव पाती है।

कला की दृष्टि से 'समाधि' मन की वह अवस्था है जहाँ कला का, उसके प्रसाद, माधुर्य, सत्य और सौन्दर्य का, उदय होता है। यह अवस्था 'तप' से प्राप्त होती है। वास्तविक कला का जन्म 'तप' से होता है। हमारे लिये यह विचार दूर का नहीं है क्योंकि अनेक स्थानों पर काव्यों और कलाओं की रचना के लिये कवियों और कलाकारों की तपश्चर्या के कथानक हमारे ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। तप से सृष्टि होती है। कला का जन्म भी तपश्चर्या से होता है। तप के द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न एक चतुर्थ अवस्था का उदय होता है जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर सौन्दर्य का सृजन करता है। वहाँ 'ध्यान' और 'ध्येय', कला और कलाकार, चित्र और चित्रकार, कवि और उसका काव्य, एकाकार हो जाते हैं। कलाकार के व्यक्तित्व का मूर्त्त-रूप कला उसी अवस्था में धारण करती है। वहाँ कलाकार और उसका माध्यम रहते हैं, किन्तु एकात्म होने के कारण माध्यम स्वयं कलाकार की आत्मा के चैतन्य से जग उठता है। समाधि के प्रदेश में संगति, लय, एकता आदि में विघ्न उपस्थित करने वाले सम्पूर्ण विकार दूर हो जाते हैं। अतएव कलाकार के व्यक्तित्व से दीप्त कला का माध्यम, स्वर, वर्ण, शब्द आदि, सूक्ष्म रूप में, वहीं सौन्दर्य के गुणों के सज्जित होकर 'सकिरीट कुण्डलं' कला के रूप में जन्म लेता है।

(७)

यहाँ यह आक्षेप सम्भव है कि प्रत्येक कलाकार समाधि को सृजनात्मक चेतना का अनुभव नहीं करता। हम मानते हैं कि कला के कई रूप हैं। एक वह भी कला है जो मनुष्य अपनी 'जाग्रत' अवस्था में रचता है। यद्यपि चित्त-स्थिरता नामक योग की उसमें भी आवश्यकता होती है, तथापि इसके सृजन और आस्वादन के क्षण में कलाकार और रसिक अपनी इन्द्रियों का पर्याप्त प्रयोग करते हैं। किन्तु स्मरण रहे यह कला केवल चित्रण-प्रधान वर्णनात्मक

कला होती है। इसमें गम्भीर वेदनाओं का सर्वथा अभाव रहता है। इस 'जाग्रत' अवस्था की कला के अनन्तर हमें 'स्वप्न' के लोक में सृष्ट कला भी मिलती है। यह कला कल्पना-प्रधान होती है। इसका आस्वादन भी हम स्वप्न की सी अवस्था में करते हैं। बहुत से उपन्यास, कथानक और कहानियाँ जो मनोरञ्जन के लिये पढ़ी जाती हैं हमें स्वप्न के कल्पना-लोक में ले जाती हैं। कथानक अथवा घटना-प्रधान गीरि, पर्वत, समुद्र, मैदान आदि के बृहत्-चित्र, रास-लीला आदि के नृत्य भी इसी श्रेणी की कला है जिसका मुख्य लक्ष्य श्रोता और दर्शक को 'जाग्रत' से 'स्वप्न' के प्रदेश में ले जाना है। इन कलाओं में मनोविनोद होता है; सौन्दर्य के थोड़े स्पर्श से हम जीवन की इन अवस्थाओं को भी सुन्दर और रमणीय बना देते हैं। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी हम इन्हें शुद्ध कला और परम सौन्दर्य की अनुभूति नहीं मानते।

'सुषुप्ति' की कला जिसके पोषक यूँग आदि दार्शनिक हैं, सौन्दर्य की प्रकृष्ट अनुभूति के लिये समर्थ है। संगीत का लय (जिसमें कथानक का स्पर्श न हो), दुःखान्त नाटकों का आनन्द, कभी-कभी जीवन में 'मृत्यु' अथवा 'शून्यता' की परम वेदना को उत्पन्न कर ऐसे अद्भुत 'रस' का सृजन करते हैं कि इसके आस्वादन के लिये स्वप्न से भी गम्भीर मन के अचेतन तल में रसिक चला जाता है। अनेक सुन्दर चित्र, मूर्ति, राग आदि मन के गूढ़ स्तरों को आलोकित करते हैं; उनमें सुप्त वेदनाओं को जगा कर जीवन का विस्तार करते हैं। उनके देखने और सुनने से मन के सीमा बद्ध क्षितिज विस्फारित होते प्रतीत होते हैं और हमारा चित्त अनन्त अवकाश में मग्न होने का अनुभव करता है। यह 'जीवन' में 'मृत्यु' की अनुभूति है, जो हमारे साधारण सुख-दुःख से भिन्न होते हुए भो अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है।

हमें शुद्ध सौन्दर्य का आनन्द 'समाधि' अवस्था में सृजन की गई कला से प्राप्त होता है; क्योंकि जो कला जिस अवस्था में रची जाती है वह रसिक में भी उसी अवस्था को जाग्रत करती है। अतः समाधि की कला का आस्वादन चित्त में लय, प्रकाश और माधुर्य उत्पन्न करके उसे समाधि के आनन्द के समीप ही ले जाता है। हम जिस 'रूप' का प्रत्यक्ष नेत्र खोल कर नहीं, नेत्र निमीलन

करके ही करते हैं, जिस राग का आनन्द हमें दूर से आती हुए ध्वनियों के प्रवाह के रूप में अपने ही अन्तर से आता हुआ प्रतीत होता है, जिस नृत्य की गति प्राणों में विश्राम की अनुभूति उत्पन्न करती है; जिस काव्य का अर्थ जीवन में आलोक, शान्ति और माधुर्य भरता है, जिस दिव्य निर्माण, मन्दिर, स्तूप, गिर्जा और मस्जिद, की झाँकी हृदय में उदात्त भावना लाता है, वस्तुतः ये कला के वे आदर्श हैं जिन्हें हम 'सुन्दर' कहते हैं। इन सुन्दर वस्तुओं के रसास्वादन में, उन्माद नहीं, आह्लाद होता है, व्यक्तित्त्व का ह्रास नहीं, विकास होता है, इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाला विकार नहीं, उन्हें अद्‌भुत रूप, रस, स्पर्श के अनुभव से परम आनन्द होता है। यह कला अपने सौन्दर्य के आकर्षण से मानवता के रसमय अनन्त आलोक-लोक में रसिक को ले जाकर उसे ठगती नहीं, किन्तु रसास्वादन द्वारा उसके जीवन में नवीन स्फूर्त्ति, उसके प्राणों में नवीन वेदना, उसकी बुद्धि में नवीन जाग्रति, उसके नेत्रों में नवीन ज्योति, उसके चरणों में नवोन गति भरती है। यह कला कलाकार की मानवता से मर्म पाकर रसिक में मर्म का संचार करती है। मार्मिक होकर ही कलाकार की कला प्रकृति की दिव्य कला से ऊँची उठ जाती है।

विविध कलाएं

'सुन्दर' की पूर्ण अनुभूति में तीन तत्त्वों का समावेश रहता है : १. व्यक्त *मूर्ति* जैसे चित्र, संगीत, काव्य, भवन आदि जिसे हम इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं; २. *आनन्द* अथवा रस जिसका व्यक्त रूप प्रत्यक्ष मूर्ति धारण करता है अथवा जिसका उद्रेक मूर्ति के साक्षात्कार से होता है; ३. *माध्यम*—स्वर, रंग, शब्द आदि जिनके विशेष विन्यास से मूर्ति का उदय होता है। इनमें से मूर्ति के रूपादि और आनन्द के स्वरूप का विवेचन पिछले अध्यायों में सामान्य रूप से हो चुका है। किन्तु हम 'मूर्ति' को जिसे सुन्दर कहते हैं जिस प्रकार उसके 'रस' से पृथक् नहीं कर सकते, उसी प्रकार जिस माध्यम से उसका जन्म हुआ है हम उसे नहीं हटा सकते। मूर्ति में माध्यम के गुणों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहता है कि इसके सौन्दर्य के अनुभव में इन गुणों के गम्भीर प्रभावों का निराकरण असम्भव है। एक राग को लीजिये। यह स्वरों के विशेष विन्यास में उदित हुआ मन का भाव है। राग स्वरों की भाव से प्राणित मूर्ति है। राग के सौन्दर्य में जहाँ 'भाव' विद्यमान है, वहाँ हमारे अनुभव में स्वरों का वैभव, उनका उन्माद, गति, स्पन्दन आदि गुण भी अपने द्रावक प्रभावों के साथ विद्यमान हैं। हम 'राग' के सौन्दर्य में से स्वरों के प्रभाव का निराकरण करके कुछ भी नहीं पा सकते। वह 'भाव' जो राग द्वारा व्यक्त होना चाहता है बिना स्वरों के वैभव और प्रभाव के हमारे साक्षात् अनुभव के लोक में आ ही नहीं सकता। यदि ऐसा है तो हमें सौन्दर्य के विवेचन में माध्यम के विशेष गुणों और प्रभावों का अध्ययन करना चाहिए। कला का प्रत्येक माध्यम—स्वर, शब्द, रंग आदि—अपने विशिष्ट गुण और प्रभाव के कारण, सौन्दर्य की अनुभूति में भी एक निरालापन उत्पन्न करता है जिससे हम काव्य के सौन्दर्य और चित्र के सौन्दर्य को भिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार 'संगीत' का सौन्दर्य भवन के सौन्दर्य का केवल स्वरानुवाद नहीं है। प्रत्येक माध्यम अपनी विशेषता

के कारण एक निराले ही सौन्दर्य को जन्म देता है। हम इस अध्याय में सौन्दर्य के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन करेंगे।

अपने विशिष्ट गुण और प्रभावों के अतिरिक्त जिनका विवेचन इस अध्याय में है, कला के सारे माध्यम कुछ सामान्य गुण भी रखते हैं। वह पदार्थ जो कला के लिये उचित और उपयुक्त माध्यम हो सकता है 'लोच' गुण से युक्त होना चाहिए अर्थात् वह इस योग्य हो कि कलाकार अपने साधारण मानसिक और शारीरिक प्रयत्न से उसे अभीष्ट 'रूप' अथवा मूर्त्ति दे सके। लोच के अनुसार माध्यम 'कठिन' और 'कोमल' होते हैं। प्रस्तर-खण्ड, काठ, मिट्टी आदि कठिन माध्यम हैं, रंग, स्वर और शब्द आदि कोमल माध्यम हैं। कठिन माध्यम में रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियों के लिये अधिक स्पष्ट होता है। किन्तु वह भावों की गम्भीरता को इतनी सरलता के साथ वहन नहीं कर सकता जितनी कोमल माध्यम का प्रयोग करने वाली कला। कोमल माध्यम के द्वारा—संगीत और साहित्य द्वारा—भावों की गहन छाया, उनका विलास और उल्लास जितना व्यक्त हो सकते हैं उतना ही वे इन्द्रियों के स्तर से उठ कर बुद्धि और ज्ञान के स्तर पर चले जाते हैं। इससे इन कलाओं में भाव की अधिकता के साथ अस्पष्टता और अस्थिरता आ जाती है।

कुछ माध्यम दृश्य और कुछ श्रव्य होते हैं। सौन्दर्य के आस्वादन में हम केवल दो ही इन्द्रियों चक्षु और श्रवण का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि सौन्दर्य के आस्वादन में प्रेरणा तथा इन्द्रिय और मन की उत्तेजना न होनी चाहिए। चक्षु और श्रवण द्वारा रसिक सुन्दर वस्तु का आनन्द, बिना शरीर की गति के भी, ले सकता है; स्पर्श, गन्ध आदि के अनुभव में यह सम्भव नहीं। इसका अर्थ यह नहीं की सौन्दर्य के आस्वादन में गन्धादि का उपयोग नहीं। वस्तुतः कुशल कलाकार अनेक इंगितों और संकेतों द्वारा सुन्दर गन्ध, सुखद स्पर्श और दिव्य रसों की अनुभूति को रसिक में जाग्रत करता है। सफल कला-कृति में दृश्य अथवा श्रव्य माध्यम के द्वारा ही हमारे समस्त इन्द्रिय-भोगों को प्रभावित करने की सामर्थ्य होती है। कला में इसी कारण 'संकेतित' अर्थों

का प्रयोग किया जाता है जिससे रसिक में रस-चर्वणा भी अधिकाधिक उद्दीप्त होती है और चमत्कार उत्पन्न होता है।

दृश्य और श्रव्य माध्यमों के प्रयोग का एक कारण यह भी है कि ये माध्यम पर्याप्त रूप से विकसित हैं जिससे हम इन्हें रूप का विन्यास प्रदान कर सकते हैं। इन्हें 'पूर्वापर' अथवा, 'तारतम्य' के अनुसार स्वेच्छा से संयोजित कर सकते हैं। स्पर्श, गन्ध आदि में विन्यास की सम्भावना नहीं है।

इसी प्रकार कुछ माध्यम 'चल' और कुछ 'अचल' होते हैं। चल माध्यम का प्रयोग करने वाली कला में गति, लय, आरोह और अवरोह आदि स्पष्ट होते हैं, यद्यपि इसमें भी रूप का विन्यास होता है जिसको ग्रहण करने के लिये रसिक को कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। चल-कला में रूप को ग्रहण करने के लिये रसिक कुछ 'अचल' हो जाता है, जैसे संगति आदि में स्वरों के विन्यास को समझने के लिये। अचल-कला में रूप-विन्यास स्पष्ट होता है, किन्तु गति, लय और आरोह-अवरोह इतने स्पष्ट नहीं होते, यद्यपि होते अवश्य हैं। इनको ग्रहण करने के लिये 'रसिक' को स्वयं 'चल' बनने का प्रयत्न करना होता है। जैसे, मूर्ति को देखने में अनेक रेखा और अवयवों के सम्बन्ध को हृदयंगम करने के लिये रसिक नेत्र आदि के चालन से मूर्ति में 'गति' की खोज करता है।

प्रत्येक कला अपने माध्यम के विशिष्ट गुणों के कारण न केवल विशेष 'कौशल' की अपेक्षा रखती है, साथ ही, एक विशिष्ट सौन्दर्य को जन्म देती है। संगीत का सौन्दर्य, चित्र का सौन्दर्य, साहित्य का सौन्दर्य, आदि ये सब इतने विशिष्ट हैं कि हम एक का अक्षरशः अनुवाद दूसरे में नहीं कर सकते। इनके आस्वादन में भी विशेषता है। सत्य यो यह है कि 'सामान्य सौन्दर्य' नामक वस्तु केवल दार्शनिक और विचारक के मस्तिष्क की उपज है। सौन्दर्य अपने माध्यम के गुण और प्रभावों के कारण जिनमें उसे दूर नहीं किया जा सकता वस्तुतः विशिष्ट ही होता है।

साहित्य

साहित्य में सौन्दर्य का क्या स्वरूप है? इसमें 'रूप', 'भोग', 'अभिव्यक्ति' के क्या नियम हैं? इत्यादि प्रश्न हैं जिनका उत्तर पाना प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है।

साहित्य का व्यक्त माध्यम 'शब्द' है। हम इसे कानों से सुनते अथवा लिखित संकेतों द्वारा पढ़ते हैं। पढ़ने में भी 'सुनने' की क्रिया चलती रहती है। यह माध्यम अतीव 'कोमल' है अर्थात् इसे कला का अपनी प्रतिभा द्वारा अनेक रूप दे सकता है। यह दृश्य से भी अधिक 'श्रव्य' है और इसी कारण यह 'चल' और गतिशील है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि 'शब्द' 'कालिक' माध्यम है 'स्थानिक' नहीं अर्थात् शब्द में काल का उत्तरोत्तर प्रवाह रहता है। हम पीछे नहीं लौटते, न दायें, बायें, ऊपर, नीचे जा सकते हैं। अनेक शब्दों और संकेतों को एक स्थान में पुस्तक के आकार में रखने का प्रयत्न सतत गतिशील चेतना के प्रवाह को 'स्थान' की स्थिरता देने के लिये किया जाता है। किन्तु जिस समय हम अध्ययन करते हैं शब्दों का प्रवाह पुनः बहने लगता है। हम शब्दों को मूर्ति अथवा चित्र जैसा 'स्थान' नहीं दे सकते। प्रवाह और गति को निकाल देने से शब्द निरर्थक चिह्न रह जायेंगे। इस दृष्टि से साहित्य और संगति में भारी समानता है।

शब्द में जो साहित्य का मूर्त्त माध्यम है एक और विशेषता है जो अन्य माध्यमों में नहीं है। वह यह कि शब्द अपनी ध्वन्यात्मक मूर्ति द्वारा अर्थ को व्यक्त करता है। शब्द का अर्थ उसकी आत्मा है जो शब्द को चेतना, स्फूर्त्ति, प्रकाश, गति, गाम्भीर्य और जीवन प्रदान करता है, और, शब्द मानो विनिमय में उसे शरीर, रूप, और जगत् में पार्थिव सत्ता प्रदान करता है। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध अविच्छेद्य है। इनके साहचर्य से 'साहित्य' का उदय होता है। अर्थ-शून्य ध्वनियों में साहित्य नहीं होता, और, अर्थ शब्द-शरीर के बिना

व्यक्त सत्ता नहीं रख सकता। शब्द और अर्थ के 'सहित' होने के कारण हम इसे 'साहित्य' कहते हैं।

'अर्थ' जिसके जीवन से शब्द जीवन पाता है, जिसकी चेतना से प्रकाशित होता है, अध्यात्म-लोक का पदार्थ है। वह कलाकार, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि मनुष्यों के चेतना-लोक में, न जाने कैसे, कहाँ से और क्यों, उदय होता है, ठीक एक स्फुलिङ्ग की भाँति और उसके अन्तर्जगत् में प्रकाश फैला देता है। विचारक उस चेतना की चिनगारी को, प्रकाश के सजीव कण को, व्यक्त करने के लिये वाणी के माध्यम का प्रयोग करता है : इस प्रकार एक सार्थक, श्रुत शब्द का आविष्कार होता है। अव्यक्त चेतना का कण किस प्रकार, किन कारणों से व्यक्त शब्द का रूप धारण करता है, यह रहस्य भारतीय विचारकों को दिव्य जान पड़ा और उन्होंने इस सम्पूर्ण क्रिया को 'देवी' कह कर सम्मानित किया।

श्रुत शब्द का सम्बन्ध चेतना-लोक से होने के कारण इसका मूल, अव्यक्त रूप भी चेतना की भाँति ही अनन्त प्रकाशमय, मन और इन्द्रियों के लिये अगम्य, ब्रह्म-तत्त्व है। मनुष्य स्वयं अखण्ड जीवन का एक छुद्र प्रवाह है, अनन्त चेतना का एक छोटा स्फुलिङ्ग है; उसी प्रकार शब्द भी वहीं से उत्पन्न होता है जहाँ से मानव का आविर्भाव हुआ है। यह अनन्त चेतना जहाँ से शब्द का उदय होता है 'वाणी' का 'परा' रूप है। किन्तु सृष्टि की प्रवृत्ति असीम से ससीम, अव्यक्त से व्यक्त, की ओर होती है। अतएव वाणी के 'परा' रूप में स्फुरण होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पृथ्वी में बोये हुए बीज में उगने के लिये जीवन का जागरण होता है। 'परा' वाणी में व्यक्त होने की यह स्फूर्त्ति इसी दिशा को निश्चित करती है। यह वाणी का दूसरा क्रम है जिसे 'पश्यन्ती' कहा जाता है। विचारक के मानस-लोक में जब अव्यक्त प्रकाश की भाँति अर्थ का उदय होता है, तब उसे 'पश्यन्ती' वाग्-देवी का साक्षात्कार होता है। शनैः-शनैः वह ज्ञानालोक 'रूप' की ओर प्रवृत्त होता है। उसमें अङ्कुर स्पष्ट होने लगते हैं और 'क्रम' का आविर्भाव होता है। यह वह समय है जब विचारक अपने विचारों में स्थिरता और मूर्ति का अनुभव करता है। यह वाणी का

'मध्यमा' रूप है। इसके अनन्तर वाणी श्रुत शब्दों का रूप धारण करके 'वैखरी' कहलाने लगती है।

शब्द का यह विकास, परा से लेकर वैखरी तक, असाधारण-सा प्रतीत होते हुए भी साधारण है। आधुनिक मनोविज्ञान ने अर्थ की अभिव्यक्ति का अध्ययन किया है और उन्होंने 'अर्थ' का उदय हमारे चेतन मन के अतिरिक्त किसी अज्ञात लोक में माना है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जो अर्थाभिव्यक्ति पर मनन करता है यही अनुभव करता है कि अकस्मात् उसका अन्तर्लोक किसी शब्द के प्रकाश से जगमगा उठा है। किन्तु यह अकस्मात् होता नहीं है। विचारक का अज्ञात मानसिक प्रयत्न चलता रहता है जिसके फलस्वरूप उसे शब्दों में अभिव्यक्त अर्थ मिल जाता है। भारतीय दार्शनिकों ने 'अर्थाभिव्यक्ति' नामक मानसिक जगत् की घटना का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और शब्द को ब्रह्म कह कर उन्होंने एक दार्शनिक तथ्य का प्रतिपादन किया है।

हमारे लिये सौन्दर्य-शास्त्र में वाणी के दिव्य रूप का महत्त्व है। कवियों के लिये वाणी साक्षात् दिव्य धेनु है जिसे कवि-गण रात दिन दुहते हैं; जिससे 'सूक्तियों' की दुग्ध-धारा न जाने कब से बह रही है, किन्तु जो दुही जाने पर भी आज तक नहीं दुही गई। वस्तुतः वाणी कामधेनु है। यह सरस्वती भी है, क्योंकि यह चेतना का अनन्त और अविरत प्रवाह है जिससे सम्पूर्ण साहित्य संस्कृति और सभ्यता का उदय होता है, किन्तु जिसमें न जाने अभी कितने साहित्य और छिपे पड़े हैं।

(२)

शब्द का यह रूप हमें साहित्य में सौन्दर्य के स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है। हमारे देश में शब्द-शक्ति के ऊपर दार्शनिक वैज्ञानिक प्रकार से विचार किया है। वस्तुतः शब्द की शक्ति अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति है। हमें बहुत पुरानी परिपाटी का तो पता नहीं, किन्तु यास्क मुनि के निरुक्त नामक ग्रन्थ में 'शब्द' में 'अर्थ' की खोज करने की एक प्राचीन प्रणाली का प्रतिपादन है जिसे वह 'निरुक्त' की प्रणाली कहते हैं। संक्षेप में यह इस प्रकार

है : किसी शब्द को लीजिये। इसका एक अर्थ तो वह है जिससे हम व्यवहार चलाते हैं, दूसरों का निर्देश अथवा संकेत करते हैं। यह व्यावहारिक अर्थ स्पष्ट, निश्चित होने के कारण संकुचित होता है। हमें यह आवश्यक नहीं कि हम ज्ञान अथवा रसास्वादन के अवसर पर भी शब्द के सीमित और व्यवहार द्वारा निश्चित अर्थ का प्रयोग करें। शब्द चैतन्य का अंश है और इस कारण शब्द से अनन्त अर्थ निकल सकता है। ज्यों-ज्यों हमारी अर्थ का अवगाहन करने वाली बुद्धि शब्द के आध्यात्मिक अन्तराल में प्रवेश करती है, उसमें अनेक अनोखे अर्थों की प्रतीति होती है। प्रत्येक शब्द इस दृष्टि से चेतना के अनन्त आलोक-लोक की झाँकी देने के लिये मानो एक झरोखा है। शब्द में अपनी दृष्टि लगाकर हम इसी चेतना-लोक का साक्षात्कार करते हैं। उदाहरण के लिये 'इन्द्र' शब्द को लीजिए। इसका व्यावहारिक अर्थ 'स्वर्ग का राजा' होता है। किन्तु 'इन्द्र' के अर्थ को हम इतने ही में सीमित नहीं कर सकते, क्योंकि 'इन्द्र' का अर्थ 'स्वर्ग' और 'राजा' इन अर्थों से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। यदि यह सत्य है तो 'इन्द्र' के वैज्ञानिक अर्थ में 'स्वर्ग' और 'राजा' के अर्थ भी अभिव्यक्त होते हैं। 'इन्द्र' शब्द के अर्थ का साक्षात्कार करने वाली बुद्धि 'स्वर्ग' और 'राजा' शब्दों के अर्थों का भी अवगाहन करती है। न केवल इतना ही, 'स्वर्ग' शब्द के अर्थ का अवगाहन करने के लिये बुद्धि वहाँ के अमर जीवन, अनन्त सुख, असीम वैभव आदि या अवगाहन करती है। इधर 'राजा' शब्द भी 'ऐश्वर्य' 'तेज' 'प्रभाव' आदि के अर्थों का उत्थान करता है। तब तो 'इन्द्र' शब्द एक अखण्ड और अखण्डनीय अर्थ के आलोक का प्रसार करता है। 'इन्द्र' शब्द का वाचिक स्वरूप लघु होते हुए भी इसकी अर्थ-दीप्ति की नाप असम्भव है, क्योंकि जब हम इसके अर्थ का बुद्धि द्वारा साक्षात्कार करने चलते हैं तो अनन्त चेतना के प्रकाश में अपने आप को पाते हैं। यज्ञादि में 'इन्द्र' इस शब्द के अर्थ का साक्षात्कार करते समय जिस दिव्य आलोक की प्रतीति होती है, हम उसी की उपासना करते हैं। शब्द के अतिरिक्त कोई देवता नहीं। शब्द की साक्षात् प्रतीति ही देवता के रूप का अनुभव है। यह प्रतीति इतनी मनोहारिणी होती है कि उपासक अपने आपको उसी के लिये समर्पित कर देता

है। तब उसे न केवल उपासना का फल मिलता है उसे उपासना का आनन्द भी प्राप्त होता है।

हम निरुक्त की प्रणालियों में प्रवेश न करके इसका साहित्य-सौन्दर्य के समझने में उपयोग करेंगे। साहित्य में शब्दों के वाचिक, वैखरी, व्यावहारिक रूप से ऊँचे उठ कर हम इनके अर्थों के चेतन और प्रकाश के लोक का अवगाहन करते हैं। हम शब्द की आत्मा, उसके अर्थ, का साक्षात्कार करते हैं जहाँ 'इन्द्र' शब्द का पूर्ण रूप हमें प्रकट होता है। तब हमें 'इन्द्र' यह शब्द अखण्ड चेतना का एक व्यक्त अणु प्रतीत होता है। उसी अवस्था में हम साहित्य में रसास्वादन करते हैं। साहित्यकार शब्दों का प्रयोग केवल संकेत, निर्देश अथवा केवल कुछ जानने के लिये ही नहीं करता। काव्य के विषय में तो अभिनवगुप्त का सूत्रमय आदेश है: 'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्,' अर्थात् काव्य में तो रसिक का अधिकार होता है, जानने की इच्छा अथवा विधि-निषेध की मीमांसा काव्य के क्षेत्र से बाहर है। अतएव कवि शब्दों का विशेष रूप से चयन करता है जिससे वे अपनी शक्ति से रसिक को शब्द के व्यक्त ध्वनिमय लोक से ऊपर अर्थ के प्रकाशित लोक में ले जायें। काव्य जितना शब्दों के ऊपर प्रकाशमान अर्थ के लोक को जीवित, जाग्रत और रोचिष्णु बनाने में सफल होता है, जितना वह अर्थालोक में आनन्द की तरङ्गें उत्पन्न कर पाता है, उतना ही रसिक को तन्मय कर पाता है। जहाँ शब्दों का चयन और गठन इस प्रकार का है कि अर्थ अस्पष्ट, संकुचित और निर्जीव है वहाँ वह अर्थ का आलोक-जगत् व्यक्त ही नहीं होता; तब शब्दों में रोचकता कहाँ और इसके बिना शब्दों में साहित्य का सौन्दर्य भी कहाँ? शब्द के उपर्युक्त अध्ययन से हम 'सुन्दर' साहित्य के विषय में दो माप-दण्डों की कल्पना कर सकते हैं: (क) शब्द बैखरी रूप अनन्त चेतना का इन्द्रिय-ग्राह्य रूप है। हम शब्द को श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, किन्तु इन्द्रिय-अनुभूति के स्तर पर शब्द को नहीं रहने देते; हम उसे मानसिक स्तर पर ले जाते हैं जहाँ इसके चेतन-रूप का प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् हम बैखरी से पश्यन्ती और परा रूप का अनुभव करने में प्रवृत्त होते हैं, जिससे शब्द के द्वारा अधिकाधिक

प्रकाश और आनन्द का विस्तार होता है। कहीं-कहीं शब्दों का चयन और प्रयोग इस कौशल से किया जाता है कि एक छोटा पद, वाक्य अथवा वाक्यांश श्रोता को अनायास ही अर्थ के प्रकाश-लोक में ले जाता है। हमें बैखरी के द्वारा 'परा' वाणी के अनन्त और अनादि रूप की झाँकी मिलने लगती है, श्रुत से अश्रुत अर्थों का अवगम होने लगता है। यही साहित्य में सौन्दर्य की एक कसौटी है कि शब्द हमें अपने श्रुत रूप के द्वारा ही श्रुत अनुभूति से कितना ऊपर उठा कर अर्थ के किस लोक में ले जा सकता है।

(ख) साहित्य में रस के अवगाहन के लिये शब्द का ही नहीं अर्थ का भी साक्षात्कार होना चाहिए। अर्थ एक मानसिक जगत् का तत्त्व है जो हमें बिना प्रयत्न साधारण वस्तु की भाँति स्पष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त, हम एक शब्द को दूसरे से पृथक् कर सकते हैं, किन्तु एक शब्द का अर्थ दूसरे अर्थों से इतना घनिष्ट सम्बन्ध रखता है कि एक के जाग्रत होने से उससे सम्बद्ध अनेक अर्थ भी जग जाते हैं। हमने 'इन्द्र' शब्द के अर्थ का साक्षात्कार करने के प्रयत्न में देखा था कि एक अर्थ के साथ दूसरे अनेक अर्थ किस प्रकार उलझे रहते हैं। तब तो सुन्दर साहित्य वह है जो पाठक को अपनी शक्ति द्वारा अर्थों के अखण्ड आलोक का हमें प्रत्यक्ष दर्शन करा सके। जब तक शब्द केवल झंकार मात्र रह कर कान में बजते हैं तब तक उनमें साहित्य नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य की अनुभूति शब्द में उसी समय होती है जब हम शब्द के द्वारा अर्थ का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। वेद में आदर्श काव्यत्व का कारण यही है कि हम वेद के शब्दों में अर्थों का प्रत्यक्ष करते हैं, जैसा कि सुन्दर साहित्य में ही सम्भव होता है। वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, सूर्य आदि केवल शब्द-कोश के सामान्य अर्थ वाले शब्द नहीं है, किन्तु अनन्त अर्थालोक के विधान हैं। शब्द में अर्थ को साक्षात्कार कराने की शक्ति ही साहित्य का सौन्दर्य है। प्रत्येक शब्द अनन्त अर्थ को प्रगट कर सकता है। अर्थ का विच्छेद और सीमा सम्भव नहीं। अतएव जितना भी एक शब्द विस्फोट की भाँति चेतना को अधिक जाग्रत करता है, उतना ही वह साहित्य में अधिक सौन्दर्यशाली हो जाता है।

(३)

निरुक्त और व्याकरण के सिद्धान्त को आधार मानकर साहित्यिकों ने भी ध्वनि के आविष्कार द्वारा साहित्य में सौन्दर्य को समझने का प्रयत्न किया है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने मुख्यतया दो प्रश्न साहित्य में सौन्दर्य के सम्बन्ध में लिये हैं जिनका उत्तर उन्होंने अपूर्व सफलता के साथ दिया है। उत्तर को समझने के लिये हम पहले प्रश्नों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

पहला प्रश्न यह है कि काव्य में आत्मा के रूप में व्यवस्थित वह कौन-सा अर्थ है जिसका सहृदय रसिक आस्वादन करता है? महाकवियों की वाणी में वह कौन-सी वस्तु है जो उनके शब्दों के अतिरिक्त सुन्दरी के अवयव और उनकी योजना के ऊपर लावण्य की भाँति तरङ्गायमान पृथक् ही दिखाई पड़ती है। वह अर्थ कौन-सा है जिसे शब्द अपनी साधारण शक्ति से व्यक्त नहीं कर सकता, किन्तु जो रसिक के हृदय में उदय होकर हृदय-संवाद और आह्लादमयी वेदना उत्पन्न करता है, जिससे अपनी ही आत्मा में नवीन आलोक और आनन्द जाग्रत हो उठने से रस-चर्वणा का प्रारम्भ होता है? महाकवि की 'सरस्वती' वह कौन-सी स्वादु अर्थ-वस्तु का निष्पन्द करती है जिससे सामान्य से अद्भुत प्रतिभा की दीप्ति होती है? वह कौन-सा माधुर्य है जिसके पाने से पूर्व-परिचित सारे पदार्थ फिर से नूतन-से प्रतीत होने लगते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मधु-मास आ जाने पर वे ही द्रुमादि नवीन हो जाते हैं? अन्त में, सुकवि की वाणी में वह कौन-सी अपूर्वता है जिसके कारण प्रियतमा के विलास की भाँति उसमें रस-चमत्कार का अवधि ही नहीं प्रतीत होती?

दूसरा प्रश्न यह है कि कवि प्रियतमा के नित्य नूतन विभ्रम की भाँति अनन्त और अखण्ड रस का संचार करने वाले 'सहृदयश्लाघ्य' अर्थ का साक्षात् वर्णन क्यों नहीं करता? वह उसे अपने कौशल से शब्दों में इस प्रकार गूढ़ रूप से भरता है कि विज्ञान अथवा व्यवहार की भाँति हमें सरलता से ऊपर ही नहीं मिलता। इस प्रकार साक्षात्कार और अगूढ़ रूप में रस के वर्णन से क्या अचारुता उत्पन्न होती है, अथवा गूढ़ रूप में व्यक्त करने में चारुता में कौन-सी

वृद्धि होती है ? जिस प्रकार अलंकारों से सजी हुई, शृङ्गार-रस तरङ्गिणी युवती का सौन्दर्य उस सौन्दर्य का गोपन करने के लज्जा-रूप प्रयत्न से और भी उद्दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार महाकवि की गिरा में अर्थ भी गूढ़ होकर क्यों और भी *'विकट'* हो जाता है ?

ऊपर के दोनों प्रश्न साहित्य के सौन्दर्य को समझने के लिए आवश्यक है। यहाँ हमें स्मरण रहे कि कवि की वाणी का सौन्दर्य सुन्दरी के सौन्दर्य से उपमित किया गया है। जिस प्रकार उसका लावण्य उसके प्रत्येक अवयव से भिन्न कोई अन्य ही तत्त्व है जिसका आँखें आस्वादन तो करती हैं किन्तु थाह नहीं पातीं, और, जिस प्रकार वह निरवधिक लावण्य उसकी लज्जा के कारण तिरोहित न होकर उसके गोपन के प्रयत्नों से ही और भी अधिक विकट हो उठता है, उसी प्रकार महाकवि की वाणी का लावण्य जो शब्दों से भिन्न है और जो कवि के गोपन के प्रयत्नों से और भी अधिक रस का संचार करता है। इन प्रश्नों का उत्तर आनन्द वर्द्धक ने 'ध्वनि' के आविष्कार द्वारा दिया है।

'शब्द में 'ध्वनित' अर्थ कौन-सा होता है ?' इस प्रश्न के लिए हम संक्षेप में शब्द-शक्ति पर विचार करते हैं। किसी शब्द का प्रथम, सरल और स्पष्ट किन्तु संकुचित अर्थ उसका 'वाच्य' अर्थ कहलाता है। यह शब्द का कोश-गत अर्थ होता है और अपने संकुचित स्वभाव के कारण जहाँ यह लौकिक व्यवहार के योग्य होता है, वहाँ यह कवि के व्यापार के अयोग्य होता है। शब्द की जिस शक्ति से इसका वाच्यार्थ प्रकट होता है उसे 'अभिधा' कहा जाता है। 'कमल' का वाच्यार्थ 'पानी में उगने वाला एक पुष्प विशेष' है। इस अर्थ में कोई चमत्कार नहीं। किन्तु जब कवि 'कमल-मुखी' का प्रयोग करता है तो कमल का वाच्यार्थ यहाँ संगत नहीं प्रतीत होता। कमल से मुख का क्या सम्बन्ध हो सकता हैं ? यह प्रश्न अभिधा के स्तर पर उठता ही नहीं, क्योंकि दोनों के अभिधेयार्थ भिन्न हैं। जब हम 'कमल' और 'मुख' इन दोनों के भिन्न वाच्यार्थों के ऊपर उठ कर इनके गुणों का मानसिक प्रत्यक्ष करते हैं तो कमल की कोमल, स्वच्छ सुरभि और मुख के आकार और कोमलता का आभास होने लगता है। जब उनमें 'समानता' का उदय होता है जिससे हम एक को

उपमा और दूसरे को उपमेय समझने लगते हैं। जब किसी पद का अर्थ अभिधा से स्पष्ट नहीं होता, किन्तु व्याहत होता है तो हमारी बुद्धि दूसरे अर्थ का अवगाहन करने के लिए ऊँची उठती है और उस शब्द से सम्बद्ध अर्थों का उद्घाटन करती है। यह नवीन अर्थ नवीन आलोक उत्पन्न करता है। साहित्यिक इस अर्थ को 'लक्ष्य' और शब्द की लक्ष्यार्थ की ओर ले जाने वाली शक्ति को 'लक्षणा' कहते हैं। स्पष्ट हो गया होगा कि 'कमल-मुखी' का अर्थ अभिधा के साक्षात् अर्थ से कितना दूर है, किन्तु इसका उपमोपमेय सम्बन्ध लक्षणा से स्पष्ट हो जाता है।

शब्द का अर्थ वाक्य में प्रगट होता है। शब्दों की योजना से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह अर्थ प्रति शब्द में पृथक्-पृथक् नहीं होता, यद्यपि इन्हीं शब्दों से प्रकट होता है। इसका अवगम करने के लिए बुद्धि एक अखंड अर्थात् जो शब्दों की भाँति विभक्त नहीं है अर्थ का आविष्कार करती है। यह शब्दों का पिण्डार्थ है जिसे तात्पर्य कहा जाता है। इससे अनेक शब्दों में एकार्थता और एक-सूत्रता का उदय होता है। शब्दों की 'तात्पर्य' शक्ति को बुद्धि में पिण्डार्थ अथवा समूढ अर्थ को अवगम करने की शक्ति माना जाता है।

काव्य के लिए अभिधा अनुपयुक्त है। वह थोड़ा-सा साक्षात् अर्थ बता कर रुक जाती है। लक्षणा हमें अलंकार तक पहुँचाती है और तात्पर्य से हम समग्र अर्थ की अवगति करते हैं। किन्तु काव्य का 'सहृदय-श्लाघ्य' अर्थ इन अर्थों से भिन्न है। शब्दों से रसास्वादन के लिए प्रत्येक शब्द में रसोद्रेक करने वाले अर्थों की जाग्रति होनी चाहिये। 'कमल-मुखी' पद का काव्यात्मक अर्थ कमल के साथ अनेक सम्बद्ध आनन्दमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति है जिनके उद्बोधन से प्रियतमा का मुख भी कमल जैसा आस्वादन योग्य हो जाता है। कवि का 'कमल' शब्द-कोश का कमल नहीं है। वह उसके भावना-जगत् का पदार्थ है जहाँ इसमें दिव्य मादक गन्ध है जो मधुपों को मत्त बनाती है, जिसका स्पर्श पाकर पवन भी विकल हो उठता है, जिसके दिव्य वर्ण से सरोवर की वैभव-वृद्धि होती है। इस भावना के आलोक में पहुँच कर 'कमल' अनेक तीव्र वेदनाओं को जाग्रत करता है। वह हमें सुदूर सरोवर के तट पर ले जाता है

जहाँ वृक्षों की हरियाली है और निर्मल आकाश में प्रभा का विस्तार है। वहाँ 'कमल' को देखकर कितनी कल्पनाएँ, कितनी कामनाएँ और स्मृतियाँ जगती हैं। इस प्रकार कवि का 'कमल' कल्पना के रसमय लोक में हमें ले जाता है, जहाँ 'कमल-मुखी' इस पद के काव्यात्मक अर्थ का हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कवि के शब्द की वह शक्ति जिससे वह हमें प्रत्यक्ष से ऊँचा उठा कर कल्पना के असीम, सरस आलोक-लोक में ले जाता है, आनन्द वर्द्धन के लिये 'ध्वनि' है।

(४)

निश्चय है कि शब्द का साहित्यिक सौन्दर्य और गौरव ध्वन्यार्थ है। जिस अभागे पुरुष की बुद्धि शब्दों के वाच्यार्थ तक ही सीमित है वह साहित्य में रसानुभूति के लिए असमर्थ है। वह शब्दों के द्वारा कल्पना-लोक में नहीं पहुँचता। कवि अपने शब्दों का चयन, गठन और सृजन भी इस कौशल के साथ करता है कि रसिक पाठक इनके ध्वन्यार्थ का अवगाहन कर सके। वह छन्द अलङ्कार, गुण, कथानक आदि अनेक उपायों का प्रयोग करता है जिससे पाठक के सम्मुख एक भाव-लोक का उदय हो। वहाँ भाव-लोक में कवि के शब्दों का भावनात्मक अर्थ वाचक हृदयंगम करता है और उन शब्दों की शक्ति से उनके पीछे गूढ़ अनेक अर्थों का आस्वादन करता है। ध्वन्यार्थ ही कवि की 'विकट' वाणी का लावण्य है। वह शब्दों के वाच्यार्थ से ऊपर, भावनाओं से तरङ्गित, रस के प्रवाहों से आप्लावित कल्पना का लोक है जहाँ पहुँच कर शब्द का वैभव अनन्त और उसका माधुर्य निरवधिक हो उठता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रेम के उद्रेक से प्रियतमा का सौन्दर्य निस्सीम हो उठता है।

सच पूछा जाये तो 'ध्वनि' शब्द की शक्ति इतनी नहीं है जितनी वह रसिक के रसास्वादन की शक्ति है। रसिक अपनी भावना और कल्पना के बल से शब्द के ध्वनार्थ का अवगाहन करता है। उसी की रस-चर्वणा से उसे आनन्द भी होता है। तब फिर कवि का क्या महत्त्व है? *प्रथमतः*, कवि प्रत्येक अनुभूति को चाहे वह बौद्धिक सिद्धान्त या गूढ़ शास्त्रीय-तत्त्व हो या नैतिक मीमांसा हो या कोई पीड़ा, उत्ताप, स्मृति हो अथवा कोई दार्शनिक सत्य हो, अपने 'कवि-

व्यापार' से उसे 'रसनीय' बना देता है। इसे अंग्रेज़ विचारकों ने Emotionalization कहा है। किस प्रकार इसका उत्तर हम आगे देंगे। *द्वितीयतः*, कवि साक्षात् रस का बखान न करके उसके उद्रेक के लिए पर्याप्त सामग्री का संकलन करता है और इसको इस कौशल से रूप और भोग प्रदान करता है कि वाचक इसका स्पर्श पाकर भाव-लोक में चला जाता है। वस्तुतः यह मानना अनुचित है कि प्रत्येक शब्द का पृथक् कोई ध्वन्यार्थ होता है। यदि ऐसा होता तो हम शब्द-कोश में प्रत्येक शब्द का ध्वन्यार्थ लिख सकते। किसी शब्द का विशेष अर्थ रस के सन्दर्भ में ही लगाया जाता है। कवि अपनी मौलिक प्रतिभा से इस रस-सन्दर्भ को कथा-वस्तु छन्द आदि के द्वारा उत्पन्न करके रसिक को जाग्रत करता है। उस रस-सन्दर्भ में पड़ कर शब्दों का सौन्दर्य अथवा उनका ध्वन्यार्थ प्रगट होता है, जिसे रसिक अपने ही चित्त की चर्वण-क्रिया से आस्वादन करता है।

यहाँ हमें दूसरे प्रश्न का उत्तर भी मिलता है। यदि कवि अपने शब्दों से रस का साक्षात् वर्णन करे तो, एक तो, शब्दों में रस साक्षात् होता भी नहीं है, क्योंकि शब्दों में रस का उदय रसिक अपनी भावना के बल से करता है। कवि भावना को जाग्रत करके शब्दों को सरस बनाता है, न कि शब्दों में कोई स्वभाव-जन्य सरसता है। दूसरे, रस का स्व शब्द से वर्णन करने से, जैसे ,शृङ्गार' रस शब्द से, शृङ्गार रस का अनुभव नहीं होता। अतएव कवि का सम्पूर्ण प्रयत्न रस के साक्षात् वर्णन को छोड़कर भावुक के मन में रसनीयता (Emotionalization) लाने के लिये होता है। वह अनेक उपायों से अपनी सामग्री का चयन और गठन करता है जिससे रसिक में भावोद्रेक हो। वह अपने छन्द को संगीत का 'लय' प्रदान करता है, कथानक की कल्पना करता है, अलंकारों के नवीन आविष्कार करता है, केवल इस दृष्टि से कि रसिक जाग्रत-लोक से अपनी सहृदयता का सहारा लेकर भाव-लोक में पहुँच जाये। वहाँ पहुँच कर वह सम्पूर्ण काव्य-सामग्री स्वयं रस के आलोक से उद्भासित हो उठती है। आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि आलोक की इच्छा वाला मनुष्य दीपक और उसकी शिखा को ठीक करने में दत्तचित होता है। दीपक प्रज्वलित होकर अपने आपको और सब

पदार्थों को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार कवि का प्रयत्न अपनी कारयित्री प्रतिभा से काव्य की सामग्री जुटाने के लिये होता है। काव्य स्वयं उस सामग्री को—शब्द और उसके चयन को—अपने रस से चमका देता है। काव्य का रस उसका सौन्दर्य है, किन्तु जिस प्रवृत्ति ने स्त्री में अपने सौन्दर्य को लज्जा से गोपन करके उसे और भी विकट बनाने का स्वाभाविक कौशल दिया है, उसी प्रवृत्ति ने कवि को भी काव्य के सौन्दर्य को सामग्री, छन्द, कथानक, अलंकार आदि में गोपन करके उसको और भी उद्दीप्त करने का कौशल सिखाया है। कारण यह कि बालिका की सरल दृष्टि निर्दोष होने के कारण लज्जा का अर्थ नहीं समझती। लज्जा का प्रथम उदय काम की वासना के प्रथम स्फुरण के साथ ही होता है। शनैः-शनैः यौवन के साथ यह मनोविकार सारे शरीर और मन में व्याप्त हो जाता है। इस विकार को छिपाने का प्रयत्न उसको और भी अधिक प्रकट कर देता है। इसी से लज्जा स्त्री के लिये और भी श्री-वृद्धि करने के कारण उसकी भूषा हो जाती है। इसी प्रकार काव्य का संवृत सौन्दर्य सामग्री के अणु-अणु में व्याप्त होता है। किन्तु कवि इस रस के छलकते हुए कलश को अलंकार, छन्द, कथानक आदि से ढक कर वाचक के हृदय में और भी अधिक कौतूहल और चमत्कार का संचार करता है। काव्य का रस इस गोपन-विधि से अर्थात् अर्थ के वाच्य, लक्ष्य न होकर व्यंग्य अथवा 'प्रतीयमान' होने से और भी मधुर हो जाता है।

साहित्य में सौन्दर्य का सार शब्दों में रस की गोपन-विधि है। इस गोपन से, चर्वणा के और भी उद्दीप्त होने के कारण, रस अधिकाधिक मधुर होता है। शब्दों में ध्वन्यार्थ ही रस है जो शब्दों में गुप्त रहता है। रसिक चर्वणा द्वारा इस रस का अपने अन्तर्लोक में उद्घाटन करता है। रस के उघड़े हुए रूप से चर्वणा नहीं उत्पन्न होती, ठीक वैसे ही जैसे निर्लज्ज सुन्दरी के रूप को देखकर रस उत्पन्न नहीं होता। अभिनवगुप्त रस के साक्षात् वर्णन को 'वमन' कहते हैं।

क्या हमारे युवक और *युवती* सौन्दर्य के गोपन-स्वरूप सार को जानते हैं?

(५)

ध्वनिकार ने साहित्यिक सौन्दर्य का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, वह शब्द की शक्ति द्वारा अर्थ के ज्योतिर्जगत् में रसास्वादन का आदर्श है। हम शब्द तक ही नहीं रुकते, अर्थ तक पहुँच कर उसका आस्वादन करते हैं, तभी तो हम इसे शब्दार्थ-रूप साहित्य कहते हैं। अर्थ की अनुभूति का आनन्द शब्द, इसके चयन और गठन, के माध्यम द्वारा प्राप्त करना साहित्य का आनन्द है। इस परिभाषा द्वारा हम वैज्ञानिक साहित्य तथा साहित्य के अन्य भेदों को उस साहित्य से पृथक् कर सकते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य का सृजन और आस्वादन है, जैसे काव्य, उपन्यास आदि। 'सुन्दर' साहित्य का आदर्श 'रस' की अभिव्यक्ति है। यह रस अर्थ की चर्वणा से उत्पन्न होता है। जहाँ हमें शब्दार्थ के साहित्य से आनन्द प्राप्त होता है वहीं साहित्यिक सौन्दर्य मानना चाहिए। जिस साहित्य का प्रधानतया रसास्वादन उद्देश्य है, हम उसे ललित साहित्य भी कह सकते हैं।

अर्थ का आस्वादन ललित साहित्य में एक विशेष विधि से होता है। यह विशेष विधि ही ललित साहित्य को अन्य साहित्य से भिन्न करती है। यह विधि है कि सुन्दर साहित्य में अर्थ की अभिव्यक्ति का एक मात्र उपाय 'अलंकार' है जब कि वैज्ञानिक साहित्य में अलंकार का प्रयोग दोष माना जाता है। कारण यह है कि अर्थ की अभिव्यक्ति के केवल दो उपाय सम्भव हैं, या, यह कहिये कि केवल दो उपायों द्वारा हम अर्थ के आलोक-लोक का अवगाहन करके उसको व्यक्त करते हैं। उपाय है *'सामान्य प्रत्यय'* का आविष्कार जिससे हम किसी वस्तु के सामान्य और यथार्थ रूप को बुद्धि द्वारा समझ पाते हैं। मानवता, सत्य, सौन्दर्य, घनत्व, उष्णता, वृद्धि, ऊर्वरता आदि अनेक 'प्रत्यय' हैं जिनसे विभिन्न विज्ञानों में अर्थ की प्रतीति उत्पन्न होती है। विज्ञान का उद्देश्य ही अर्थ-ज्ञान के लिये उपयुक्त स्पष्ट प्रत्ययों का आविष्कार करना होता है जिनसे हम वस्तुओं और प्राकृतिक घटनाओं के यथार्थ रूप और क्रम-नियम को समझ पाते हैं। अर्थ-लोक के अवगाहन का दूसरा उपाय *'साधर्म्य'* है जिसके द्वारा हम वस्तुओं के वैज्ञानिक रूप का ज्ञान नहीं प्राप्त करते, किन्तु उनके सौन्दर्य की

अभिव्यक्ति करते हैं। साधर्म्य अथवा सादृश्य के द्वारा वस्तु अथवा अर्थ के सौन्दर्य का उद्घाटन 'अलंकार' कहलाता है। साहित्य-कला अलंकारों के साधन से, न कि प्रत्ययों के द्वारा, अर्थ की अभिव्यक्ति करती है। उदाहरण के लिये, मनुष्य के जीवन को लीजिये। हम कई बार अन्तर्मुख होकर 'जीवन' का अनुभव करते हैं। यह क्या है ? इसको वैज्ञानिकों ने समझने का प्रयत्न किया है : यह एक क्षण-क्षण में परिवर्त्तन होने वाला अनन्त अनुभूतियों का क्रम है। एक अनुभव न जाने कहाँ से आता है और क्षण भर को चेतना में आकर न जाने कहाँ विस्मृति में विलीन हो जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता है। वैज्ञानिकों ने इस परिवर्त्तन को समझने के लिये कई 'प्रत्ययों' का आविष्कार किया है, जैसे बुद्ध का 'विज्ञान-सन्तान' और बर्गसों नामक फ्रेंच दार्शनिक का Etan Vital, स्पेंसर का Adjustment of the inner to the outer environment अर्थात् आन्तरिक प्रवृत्तियों का बाह्य परिमण्डल के साथ आनुकूल्य स्थापित करने का प्रयत्न, इत्यादि। इसी जीवन की अनुभूति को कलाकारों ने 'साधर्म्य' के आविष्कार द्वारा व्यक्त किया है, जैसे, 'जीवन-प्रवाह' अर्थात् जिस प्रकार जल-प्रवाह सतत रूप से बहता है उसी प्रकार जीवन भी गतिशील है। हम जल-प्रवाह और जीवन में सादृश्य पाते हैं। अथवा 'जीवन-दीप' अर्थात् दीपक की भाँति जीवन भी क्षण-क्षण में परिवर्त्तित होता, प्रकाश करता, अपने ही स्नेह में जलता हुआ वेदना से प्रकाश और आनन्द पाता है। इस प्रकार हम एक ही अनुभूति को प्रत्यय और साधर्म्य द्वारा अभिव्यक्त करके क्रमशः विज्ञान और साहित्य-कला का सृजन करते हैं।

अर्थ अथवा अनुभूति का लोक कितना विस्तृत और गम्भीर है, यह हमें मालूम है। यह आध्यात्मिक चेतना का अनन्त लोक है जहाँ 'अर्थ' रहता है। प्रत्येक अर्थ प्रकाश-लोक का एक कण है। कलाकार उस अर्थ-लोक, अनुभूति-लोक अथवा चेतना-लोक में प्रवेश करता है विहार के लिये, न कि ज्ञान-सम्पादन के लिये। वह अपनी भावना से भावित होकर कल्पना की पंखों पर चढ़ कर उस अर्थ-लोक का अवगाहन करता है और उसके हृदय की सरसता उस प्रकाश के लोक को रसमय बना देती है। जिस समय उसकी सम्पूर्ण चेतना भावमय,

रसमय हो जाती है उस समय कल्पना उस लोक में जाग्रत अर्थों को जीवन की तरलता, प्राणों की वेदना और आत्मा का प्रकाश प्रदान करती है। तब वे 'अर्थ' ज्ञान के अस्फुट कण नहीं रहते, किन्तु रस-वर्षी बादल बन कर जीवन की विद्युत् से चमचमाते हुए, कवि की वाणी के रूप में बरस पड़ते हैं। ये अर्थ अपनी स्फुट अभिव्यक्ति के लिये कल्पना का माध्यम ढूँढ़ते हैं, और कल्पना इन अर्थों को अपनी व्यक्त, स्पष्ट अनुभूति का—हमारे प्रत्यक्ष जगत् के दिव्य और मनोहर रूपों का—वरदान देकर इन्हें सजीव बना देती हैं। कवि के मानस के सरस अर्थ कल्पना से स्पष्ट अभिव्यक्ति पाकर अलंकारों के द्वारा प्रकट होते हैं।

साधारण भ्रम के कारण, हम अलंकारों को काव्य आदि पर बाहर से लादा गया आभूषण मात्र समझकर इनको उचित महत्त्व नहीं देते। सत्य तो यह है कि अलंकार ही कवि के अर्थों के शरीरीकरण का उपाय है। अतः हम काव्य को अलंकारों से पृथक् नहीं कर सकते। हाँ, जिस काव्य में काव्यता नहीं केवल 'कवन' अथवा चित्रण है, वहाँ अलंकारों का उच्छिष्ट ऊपर से कविता पर थोपा जाता है। सुन्दर काव्य तो अलंकृत सरस अर्थों की अभिव्यक्ति है। अलंकारों के लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना अनुचित है। अभिनव गुप्त ने तो 'अलंकार' सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन ही इस आधार पर किया है : जो अलंकार 'अपृथक् प्रयत्न निर्वर्त्य' हो वही साहित्य का अंग है, उसे ही रसाङ्गता प्राप्त होती है। यहाँ हम इस बात पर बल देते हैं कि अलंकार का उदय उन्हीं शक्तियों से होता है जिनसे काव्य में रसों का उद्रेक होता है।

अलंकार की जननी कल्पना है। कल्पना अर्थों के सादृश्य का अवगाहन करती है। यदि कल्पना स्वयं ऊर्वर और रस के आवेश से संचारित होती है तो वह सादृश्य, दण्डी के शब्दों में, प्रीति-उत्पादन के योग्य, अप्पय के अनुसार, हृद्य और जगन्नाथ के अनुसार 'सुन्दर' हो उठता है। 'सुन्दर' से जगन्नाथ का तात्पर्य 'चमत्कृति' उत्पन्न करने की योग्यता है और चमत्कार एक आनन्द-विशेष है जिसका अनुभव सहृदय रसिक करता है। चमत्कार के बिना सादृश्य सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यह चमत्कार की अनुभूति ही जिसका रसिक हृदय आस्वादन करता है अलंकार के सारभूत कल्पित सादृश्य को सत्यता का प्रमाण-

पत्र प्रदान करता है। अतएव अलंकार का सौन्दर्य रसवती, चमत्कार को उत्पन्न करने वाली कल्पना से उत्पन्न होने के कारण सत्य होता है। असत्य नहीं।

सुन्दर अलंकार कल्पना का अद्भुत का आविष्कार है, जिससे मानस-लोक का, उसकी गहन अनुभूतियों और वेदनाओं का, परम प्रत्यक्ष होता है। चेतना के असीम, अछोर जगत् के सुदूर कोने जहाँ हमारी मूक चेतनाएँ अर्द्ध निद्रित अवस्था में पड़ी रहती हैं कल्पना के आलोक से एक अलंकार के आविष्कार द्वारा जगमगा उठती हैं। कल्पना के द्वारा कवि अनजाने लोकों का अवगाहन करता है और अलंकार के द्वारा उन्हें व्यक्त करता है। अलंकार काव्य का अभिन्न अंग और केवल साधन है। अरस्तु नामक यूनानी दार्शनिक तो महाकवि की पहचान ही उसके 'रूपक' और 'उपमा' के आविष्कारों से करता है। कालि-दास, व्यास आदि का महत्त्व इनकी सजीव और सरस उपमाओं की सृष्टि के कारण है। कवि की उत्पादक प्रतिभा और काव्य में मौलिकता की परख उनके अलंकारों से होती है। मिडिल्टन मरे नामक 'शेक्सपीयर' के विद्वान ने रूपक को सत्य को अवगम करने और अनुभूति को व्यवस्था देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है। वस्तुतः जहाँ कहीं हम अर्थ का साक्षात्कार करना चाहते हैं, न केवल उसका वाचिक आभास, वहाँ स्वभावतः अलंकार का प्रयोग होता है। विज्ञान भी अनेक स्थलों पर अर्थ की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के लिये रूपकों के प्रयोग के लिये बाध्य होता है। साहित्य में—वैज्ञानिक, धार्मिक और ललित साहित्य में अलंकार व्यापक तत्त्व है, क्योंकि जहाँ कल्पना है वहाँ अलंकार है।

हमने अलंकार के सामान्य रूप का विवेचन किया है। कवि अपने कौशल से अनेकों अलंकारों का प्रयोग करता है। इन सबका उद्देश्य और मूल समान है—उद्देश्य-अर्थ की परम अनुभूति और मूल रसावेश से प्राणित हुई कल्पना। अप्पय तो सारे अलंकारों की समष्टि 'उपमा' को मानता है। सच भी यह है कि 'साधर्म्य' अलंकारों की आधार-भूमि है और साधर्म्य उपमा का प्राण है। हम अलंकारों की विशेषताओं में न जाकर केवल एक प्रश्न पर विचार करेंगे: अलंकार किस प्रकार सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं और रसास्वादन के साधन हो जाते हैं?

ऊपर के उदाहरण में 'जीवन' और 'दीपक' में सादृश्य की खोज करके कल्पना हमारे जीवन की अनुभूति को दीपक की जलन, स्नेह, वेदना, क्षण-क्षण में परिवर्त्तनशील प्रकाश का निरन्तर क्रम आदि प्रदान करती है। इससे जीवन की अनुभूति इतनी प्रकृष्ट होती है कि इसका अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है और तब हमारा रसिक हृदय दीपक-रूप जीवन के तदाकार होकर दीपक की वेदना और निरन्तर कणों में बहती हुई ज्योति का रूप धारण कर लेता है, और तन्मय होकर जीवन-दीप होकर—जीवन की जलन और ज्योति का अनुभव करता है। प्रत्येक अलंकार सादृश्य की खोज के द्वारा अस्पष्ट अनुभूति को प्रत्यक्ष करके रसिक के हृदय में तन्मयता का सुख उत्पन्न करता है। अलंकार का मनोवैज्ञानिक आधार 'अन्तर्भावनात्मक' प्रवृत्ति है। 'मुख—कमल' के अनुभव में प्रेयसी के मुख का माधुर्य और कमल की सुकुमारता और सौरभ सम्मिलित है जिससे यह अनुभव इतना प्रकृष्ट, मनोहर और रसास्वादन के योग्य हो जाता है। कालिदास की वल्कल पहने हुए वनवासिनी शकुन्तला के सौन्दर्य का अनुभव 'शैवल से अनुविद्ध सरसिज' और 'कलङ्क से अङ्कित हिमांशु' के सादृश्य से कितना प्रकृष्ट हो जाती* है, इसे सहृदय रसिक समझता है।

(६)

एक दृष्टि से हम साहित्यिक सौन्दर्य के दो माध्यम स्वीकार कर सकते हैं; पहला श्रुत शब्द और दूसरा अश्रुत अर्थ। यह सौन्दर्य दोनों माध्यमों के 'साहित्य' से मूर्तिमान् होता है। अतः हम यहाँ सौन्दर्य की शब्द-मूर्ति और अर्थ-मूर्ति दोनों मानते हैं। उत्तम साहित्य में इन दोनों मूर्तियों में विलक्षण सामञ्जस्य होता है: अर्थ-मूर्ति का सौन्दर्य और रूप शब्द-मूर्ति को अधिक मनोहर बना देता है और शब्द-मूर्ति अर्थ के लिये उचित आकार प्रदान कर उसे और भी प्रकृष्ट बना देती है। हम साहित्य में 'रूप' का अध्ययन करने के

---

* सरसिजमनुविद्धं शैवलेनपि रम्यं—मलिनमपि हिमांशो लंक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

लिये इन दोनों को पृथक्-पृथक् और सहित भी लेंगे, यद्यपि शब्द का अर्थ से पृथक्करण वस्तुतः सम्भव नहीं होता। इस प्रकार हम शब्द के रूप, अर्थ के रूप और शब्दार्थ साहित्य के रूप का अध्ययन करेंगे।

शब्द को विशेष योजना से शब्द-मूर्ति का आविर्भाव होता है। शब्द अक्षरों के विन्यास से बनते हैं। अक्षर कोमल अथवा कठोर, मधुर अथवा कटु, अल्प-प्रयत्न-साध्य अथवा महा-प्रयत्न-साध्य, द्रव अथवा कठिन, ध्वनि वाले होते हैं। अक्षरों के इन गुणों से शब्दों में भी कोमलता, माधुर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं। सम्भव है शब्द के माधुर्य आदि गुणों का प्रभाव उसकी अर्थानुभूति पर पड़ता हो। किन्तु शब्दों के विन्यास से जिस मूर्ति का जन्म होता है, उसमें इन ध्वनियों का प्रभाव अवश्य रहता है। इससे वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली आदि शैलियों का जन्म होता है। हम इन पर विचार न करके केवल शब्द-मूर्तियों के उन भेदों पर ध्यान देंगे जिनके साथ अर्थ का भी सामञ्जस्य हो जाता है। इस प्रकार की शब्द-मूर्तियाँ तीन हो सकती हैः एक मधुर, दूसरी प्रसन्न और तीसरी ओजस्विनी। शब्दार्थ की इन मूर्तियों में हम माधुर्य, प्रसाद और ओज गुण मानते हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी, वामन आदि कवि-पण्डितों ने शब्द-बन्धों के अनेक गुणों का उल्लेख किया है।

शब्दमूर्ति के भेदों में गद्य और पद्य दो व्यापक भेद है। गद्य में शब्द-विन्यास भावना अथवा विचार की लय के आधीन रहता है अर्थात् विचार का प्रवाह, स्फूर्त्ति, गति और गुण शब्द की गति, वाक्य के आकार, विस्तार को अपने अनुसार बना लेते हैं। इसी कारण गद्य में वाक्य स्वच्छन्द होता है। किन्तु पद्य में छन्द का प्रयोग होता है, क्योंकि वहाँ भावना अथवा विचार शब्द-विन्यास के आधीन होता है। गद्य और पद्य के भेद को हम यों भी कह सकते हैं कि गद्य में अर्थ-मूर्ति का प्राधान्य शब्द-विन्यास के ऊपर होता है और पद्य में शब्द-मूर्ति अर्थात् छन्द का अधिकार और गौरव रहता है। साहित्य के गद्य-रूप में विचार अथवा भावना के गौरव का कारण उसका सौन्दर्य शब्दों की गति और लय के विचाराधीन होने को है। यदि गद्य विचारों के ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि का अनुसरण करता है और उनके आधीन रहकर उनकी दीप्ति को

बढ़ाता है, अर्थात् मधुर विचारों के अनुसार भाषा भी मधुर, कोमल, अल्प-प्रयास-साध्य हो जाती है तो वह गद्य सुन्दर कहलाता है। पद्य में छन्द का प्रयोग विचार के प्रवाह को अपने आधीन रखता है। छन्द में संगीत का रूप निहित है। अतएव साहित्य की छन्दोमयी मूर्ति जिसे हम पद्य कहते हैं अपने 'संगीत' के कारण विचारों को और भी मार्मिक बना देती है। अथवा, यह कहा जाये कि पद्य अपने छन्दोमय रूप के बल से 'अर्थ' को पिघला कर उसे भी संगीत-सा प्रिय बना देता है। यह मानना होगा कि छन्द में शक्ति है और इसका प्रयोग विश्व-व्यापी है। इसका कारण यह है छन्द शब्द का संगीतमय रूप है जिसमें हमारे समझने योग्य विचारों और भावों को रसीकरण (Emotionalization) करने की विलक्षण सामर्थ्य होती है।

साहित्य में अर्थ भी रूपवान् होता है। नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास, आख्यान, निबन्ध, चरित्र-चित्रण, पत्र आदि अनेक साहित्यिक मूर्तियाँ हैं अर्थात् अर्थ के अनेक व्यक्त रूप हैं। साहित्यकार कल्पना के बल से अपने मनोगत अर्थों की संगति, सन्तुलित और सापेक्ष आदि नियमों को स्वीकार करने वाली योजना करता है। इस विन्यास से 'रूप' का उदय होता है। 'रूप' की गई परिभाषा के अनुसार इसमें अनेक की एकता होनी चाहिये। साहित्य के अर्थ से गठित मूर्ति में जिसे नाटक, उपन्यास आदि कहा जाता है अनेक भावनाएँ, विचार, समाज की रूढ़ियाँ, रुचि और सामूहिक जीवन की प्रेरणा, उपेक्षा और आकांक्षा, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियाँ, जन-जीवन के तल में तरङ्गित वासनाएँ निराशाएँ और अवसाद तथा उल्लास आदि अनगिन अनुभूतियाँ रहती हैं। इनको मूर्त्त रूप देने के लिये साहित्यकार कल्पना के बल से चरित्रों का सृजन करता है। प्रत्येक चरित्र काल्पनिक होते हुए भी कलाकार की सत्य अनुभूति को वहन करने के कारण सत्य और साथ ही सुन्दर भी होता है। ये चरित्र कलाकार के जीवन से जीवन और प्राणों से प्राणों की संवेदना लेकर अपने स्वरूप के अनुसार व्यवहार करते हैं, बोलते हैं, प्रेम, द्वेष करते हैं, संघर्ष और आन्दोलन में भाग लेते हैं। उस समय घटनाएँ घटती हैं, भाग्य के विधान पूरे होते हैं, कभी हर्ष, कभी विषाद, कभी विनाश और कभी विकास होता है। इस प्रकार कलाकार

अपनी कल्पना के संचार की सृष्टि करता है और इसमें हमारे वास्तविक संसार से भी अधिक स्वाभाविक सत्य का उद्घाटन होता है। यह कलाकार की कल्पना-मय सृष्टि 'कथावस्तु' कहलाती है। यह दुःखान्त और सुखान्त हो सकती है; इसमें किसी एक रस अथवा सिद्धान्त अथवा विचार-शैली की प्रधानता हो सकती है। इस कथावस्तु द्वारा साहित्य की अर्थमयी मूर्ति को अनेक की एकता स्वरूप 'रूप' प्राप्त होता है।

कथावस्तु साहित्य की अर्थमयी मूर्ति है जिसमें अनेक अर्थों का विन्यास होता है, जैसे घटना, चँरित्र, भावना, दार्शनिक अथवा नैतिक विचार आदि। किन्तु लेखक के मन्तव्य के अनुसार यह कथावस्तु स्वयं नाटक, आख्यान, उपन्यास आदि का विशेष रूप धारण करती है। हम इनमें से प्रत्येक 'रूप' का अलग-अलग विश्लेषण न करेंगे। इनके रूपों में साधारणतया 'विकास' का पालन किया जाता है अर्थात् इनका प्रारम्भ एक विशेष वातावरण में 'बीज' से होता है। यह 'बीज' कोई चरित्र, घटना अथवा परिस्थिति होती है और वातावरण समाज, किसी का व्यक्तिगत जीवन अथवा काल्पनिक लोक होता है। अनुकूल वातावरण में बीज उगता है और शनैः-शनैः अन्य घटनाओं के रूप में यह बीज पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। प्रारम्भ से अन्त तक अथवा बीज-प्ररोह से इसके पूर्ण विकास तक इसमें एक ही भावना, विचार अथवा सिद्धान्त की ध्वनि ओत-प्रोत रहती है, जैसे, सम्पूर्ण रामायण में आदर्श मानवता का परस्पर और दानवता के साथ संघर्ष की व्यापक भावना है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक, उपन्यास आदि में *वातावरण*, *विकास* और *व्यापक भावना* द्वारा एकता प्राप्त होती है। निम्न कोटि के साहित्य में इस एकता का अभाव रहता है। अर्थात् इसमें 'रूप' विरूप होता है। स्मरण रहे कि सभी कलाओं की भाँति साहित्य में भी 'रूप' का आस्वादन किया जाता है।

साहित्य में तीसरे प्रकार का 'रूप' शब्द और अर्थ दोनों के साहचर्य से उत्पन्न होता है। वस्तुतः साहित्य का सौन्दर्य शब्दार्थ के 'रूप' में निहित रहता है। इसमें सबसे उत्कृष्ट 'रूप' काव्यात्मक (Lyrical) कहलाता है। इसमें साहित्यकार अपने हृदय के भावों और आर्द्र अनुभूतियों को जैसे प्रेम, उत्ताप,

पश्चात्ताप, निर्वेदन, यहाँ तक कि दार्शनिक विचारों को जो भावना से भावित हो गये हों, कथावस्तु के आधार पर और इसके बिना भी, साधारणतया छन्दोबद्ध किन्तु कभी गद्यमयी मूर्ति, प्रदान करता है। इस परिभाषा के द्वारा हम मेघदूत, भर्तृहरि के शतक, गीतगोविन्द, विनय-पत्रिका, उद्धवशतक, वर्तमान युग के पन्त, निराला, महादेवी वर्मा तथा अंग्रेज कवियों में वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन आदि की कृतियों को समझ सकते हैं। संसार के साहित्य में गीति-काव्य में काव्यात्मकता सबसे अधिक होती है। इसके आस्वादन में हृदय भाव-प्रवण होता है और अपने हृदय के भावोद्रेक से सर्वाधिक प्रभावित होता है। गीति-काव्य के अतिरिक्त काव्यात्मकता साहित्य के अन्य रूपों में भी होती है। सत्य तो यह है यह साहित्य का व्यापक गुण है, और, अधिक या कम, काव्यात्मकता सभी स्थलों पर विद्यमान रहती हैं, क्योंकि इसमें चित्त को द्रवित और हृदय को भाव-प्रवण बनाने की शक्ति होती है।

साहित्य में दूसरा रूप महा-काव्य (Epic) कहलाता है। इसमें नायक की प्रधानता रहती है। वह नायक एक दिव्य, लोकोत्तर लोक का निवासी होता है, अपने चारों ओर लोकोत्तरता का वातावरण रखता है, उसकी शक्ति, सौन्दर्य, बुद्धि और भावना इतने उत्कृष्ट और उदात्त होते हैं कि साधारण-जन उन पर मुग्ध होता है, आकर्षित होता है, लुभा जाता है, किन्तु पा नहीं सकता, और इसीलिये वह श्रद्धा, भक्ति और भय के साथ उनके लिये झुकता है। महाकाव्य के इस रूप को सामने रख कर हम रामायण, महाभारत, पैरेडाईज लौस्ट आदि महाकाव्यों के रूप को समझ सकते हैं। लोकोत्तरता, चरित्र की उत्कृष्टता और घटनाओं की आश्चर्य उत्पन्न करने की शक्ति, इसके मुख्य गुण होते हैं, जिनके कारण वाचक अपने लौकिक स्तर से उठकर अलौकिक लोक का प्राणी हो जाता है। वह स्वयं वीर का उपासक हो जाता है, परन्तु वीर नहीं बनने पाता।

साहित्य-सौन्दर्य का तीसरा रूप 'रहस्य' कहलाता है। इसमें आध्यात्म तत्त्वों की कल्पनामय, भावनामय प्रकृष्ट अनुभूति होती है। इसमें साहित्यकार योगी होता है और हमारे साधारण लोक से विलक्षण, वैराग्य के वैभव से सम्पन्न, प्रेम की दिव्य-ज्योति से प्रकाशमान्, उपासक और उपास्य, जीव और

ब्रह्म के मिलन की अनुभूति से दीप्त तथा इस मिलन की आशा और निराशा, मिलन-वेला का आह्लाद प्रीति की मधुर वेदना से तरङ्गित, ऐसे दिव्य-लोक की वह सृष्टि करता है। यह रहस्य (Mysticism) उपनिषद्, कबीर, ठाकुर और सूफ़ी कवियों के साहित्य-सौन्दर्य का रूप है। इस साहित्य में शब्द बहुत सरल, छन्द स्वाभाविक और अर्थ हमारे लौकिक जीवन की घटनाओं को प्रकट करते हैं; किन्तु इन शब्दों और अर्थों की पृष्ठ-भूमि में आध्यात्म-लोक का आलोक, आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार, आध्यात्मिक घटनाओं का क्रम और संगीत का वह मर्म-भेदी स्पर्श होता है कि सहृदय पाठक अपने आपको स्वयं रूपान्तरित पाता है; उसे अपने ही अन्तर में आध्यात्मलोक की चेतना, उसकी अनन्तता, दिव्यता, असीम आनन्द की अनुभूति होती है। यह वह आनन्द है जिसे अमेरिकन विद्वान् विलियम जेम्स Music of the Vedanta अर्थात् वेदान्त के संगीत से उत्पन्न हुआ मानता है। यह सौन्दर्य का वह रूप है जिसे शोपेनहावर आदि दार्शनिक कला का सच्चा सौन्दर्य स्वीकार करते हैं, जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'प्रेम का सौन्दर्य' कहते हैं, जिसे सूफ़ी 'कन्त-मिलन' और कबीर वैराग्य का वैभव मानते हैं। रहस्य के रूप को बिना समझे हम साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग को न समझ सकेंगे।

(७)

ऊपर हमने साहित्य में शब्द, अर्थ और शब्दार्थ की विभिन्न मूर्तियों अथवा रूपों का विचार किया है। किन्तु इतने से हम 'रूप' की सीमा नहीं कर सकते। कवि अपनी सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा नवीन रूपों की सृष्टि करता है। शब्द को मूर्तियों में नवीन छन्द रचे जाते हैं और शब्द में संगीत की लय और तन्मयता का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। अर्थ की अनन्त मूर्तियों में सामग्री के चयन, संकलन और गठन द्वारा, वातावरण की नवीनता, विकास की सरलता और व्यापक भावना की उदारता आदि के द्वारा नित्य नवीन नाटक, उपन्यास, गल्प आदि की सृष्टि होती है। साहित्य अथवा शब्दार्थ के साहचर्य से उत्पन्न रूप के भी अनेक रूप होते हैं, यद्यपि इन रूपों में मूल-तत्त्व तीन ही हो सकते

हैं जिनको हमने काव्यात्मकता (Lyricism), महाकाव्यत्व (Epic) और रहस्य (Mysticism) कहा है । ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के कारण दो और सुन्दर रूपों का उदय होता है जिन्हें रिरिंसात्मक काव्य (Romantic) और सम्पुष्ट काव्य (Classical) कहा जाता है । रिरिंसात्मक काव्य अथवा रमणीय काव्य में काव्यात्मकता बहुत अधिक रहती है और महाकाव्यत्व बहुत थोड़ा। रमणीय कला में सौन्दर्य का रोचक और भावना-प्रवण रूप रहता है, क्योंकि यह कला इतिहास के उस काल में उदय होती है जब एक ओर 'पुरातन' के प्रति घोर विद्रोह-भावना और नवीन तथा बहुधा आदर्श भविष्य की कल्पना उद्दीप्त होती हैं । रमणीय कला का ऐतिहासिक काल ही जन-जीवन में भावना की उद्दीप्ति का काल होता है, और समाज अन्तर्मुखी होकर अपने आधारों, विश्वासों, रूढ़ियों, संस्था और व्यवस्थाओं की समालोचना करता है। उस समय नवीनता के लिये प्रवृत्ति जाग्रत होती है और साहित्य, कला और समाज के सभी क्षेत्रों में नवीन रूपों और व्यवस्थाओं का आविर्भाव होता है । इतिहास का साहित्य से यही सम्बन्ध है कि उद्दीप्त भावना का इतिहास-काल साहित्य में नवीन रूपों की सृष्टि करता है । ये रूप भावना-प्रवण होते हुए भी अपरिपक्व होते हैं । जब समाज में नवीन व्यवस्थाओं का निर्माण हो चुकता है और इतिहास में शान्ति-युग का प्रसार होता है तो साहित्य के नवीन रूपों को परिष्कृत और परिपुष्ट किया जाता है । इससे रमणीय सौन्दर्य में भावना का परिपाक और रूपों में परिष्कार होने के कारण एक नवीन साहित्य जिसे हम सम्पुष्ट काव्य (Classical) कहते हैं उदित होता है । पर कला का और जिस समाज की सृजनात्मक प्रतिभा से कला का जन्म होता है सुवर्ण-युग होता है । इस युग का अवसान उस समय होता है जब राष्ट्रीय शक्ति क्षीण होती है; संस्थाएँ और सामाजिक व्यवस्था रूढ़ हो जाती हैं, कलाकार और साहित्यकारों की कल्पना, नवीन रूपों को उत्पादन करने की शक्ति शिथिल हो जाती है । नियम और अनुशासन के कठोर बन्धन ही उस कला को नष्ट कर देते हैं जिस कला से इन नियमों का उदय हुआ था। इस समय शास्त्रीय साहित्य और कला (Canonical या conventionatized art) की रचना होती है । कला-

कार पण्डितों के आदेश का दास की भाँति पालन करता है। यह ह्रास का युग होता है जब भावना का स्थान वासना, रूप का स्थान अलंकार, सृजन का स्थान अनुकरण, ले लेते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य में तीन रूप देखने को मिलते हैं। रमणीय, सम्पुष्ट और शास्त्रीय जिन्हें अंग्रेज विचारक क्रमशः Romantic, classical और canonical कहते हैं।

संगीत

संगीत में सौन्दर्य का आधार स्वर है। स्वर का मूल नाद या ध्वनि है। कुछ ध्वनियाँ स्वभावतः मधुर होती हैं और उनका चित्त-द्रावक प्रभाव होता है। इसका वैज्ञानिक कारण जो भी हो, ध्वनियों का माधुर्य और चित्त-द्रावक प्रभाव जीवन में व्यापक रूप से विद्यमान है, यह हमें मान्य है। मधुर ध्वनियों में क्रमिक उतार-चढ़ाव या आरोह-अवरोह का तारतम्य रहता है, यह भी हमें मान्य है। इस तारतम्य के कारण ये ध्वनि नीचे से ऊपर तक एक सीमा के भीतर ही रहती हैं। गायकों ने नीची सीमा से लेकर ऊपरी सीमा तक के तारतम्ययुक्त ध्वनि-प्रवाह को खण्डों में विभाजित किया है। हमारे देश में ये खण्ड 'श्रुति' कहलाते हैं और इनकी संख्या २२ मानी जाती है। अन्य देशों में भी प्राचीन काल से लेकर अब तक मधुर नाद-प्रवाह को खण्डशः समझने का प्रयत्न होता रहा है और इन खण्डों की संख्या भी पायथोगोरस के अनुसार ५५ और आधुनिक विश्लेषण प्रधान विज्ञान के अनुसार सैकड़ों हैं। इस गणित से हमारा विशेष प्रयोजन नहीं है। साधारण मनुष्य इन श्रुतियों (Microtonal intervals) को नाद के आरोह और अवरोह में स्पष्ट समझ भी नहीं सकता, यद्यपि भारतीय कलाकारों ने प्रत्येक ध्वनि-खण्ड अथवा श्रुति को एक पृथक् नाम दिया है। इन २२ श्रुतियों के आरोह में कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ एक श्रुति अपनी पिछली और अगली श्रुति से स्पष्ट सुनाई देने लगती है, इतनी स्पष्ट कि हम इनके भेद को कान से पृथक् समझ सकते हैं। इन स्पष्ट श्रुतियों को शुद्ध स्वर कहा जाता है जिनकी संख्या ७ है। इनमें पहला स्वर षडज और अन्तिम स्वर निषाद कहलाता है। इन सातों शुद्ध स्वरों के प्रथमाक्षर सा, री, ग, म, प, ध, नि हैं जिनसे इनका नाम निर्देश किया जाता है। इसमें सा और प स्वर अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत नहीं होते, किन्तु री, ग, ध, नि, ये कोमल हो जाते हैं और प अपने शुद्ध स्वर से तीव्र हो जाता है। ये पांच विकृत स्वर कहलाते हैं जिन्हें भी

सात शुद्ध स्वरों की भाँति पृथक् सुना जा सकता है। कुल मिला कर १२ स्वरों से संगीत की योजना होती है। ये बारह स्वर मन्द्र, मध्यम और तार ध्वनि में गाये या बजाये जा सकते हैं। बारह स्वरों के आरोहयुक्त ध्वनि-समुदाय को एक सप्तक माना जाता है। भारतीय संगीत में ये सप्तक मन्द्र, मध्यम और तार, ये तीन स्थान रखते हैं। मनुष्य अपने कण्ठ से इन्हीं ध्वनियों को उत्पन्न कर सकता है। किन्तु योरोप में कई वाद्य ऐसे हैं जिनसे नौ या दस सप्तक तक भी आरोह किया जा सकता है। ११ सप्तकों की सम्भावना अभी तक की जा सकी है।

ये स्वर संगीत की वर्णमाला हैं जिनके विविध विन्यास से 'जन-चित्त का रञ्जक' राग उत्पन्न होता है। इन विन्यासों के अनेक शास्त्रीय नियम हैं जिनसे 'संगीत के व्याकरण' का उदय होता है। संगीत जितना ही सरल और मधुर है यह व्याकरण उतना ही जटिल और कष्ट-साध्य है। गायक इसके लिये कठोर साधना करता है। रसिक के लिये इसका बोध अनिवार्य नहीं, लाभ-प्रद अवश्य है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी भाषा का व्याकरण उसके साहित्य के सौन्दर्य का आस्वादन करने के लिये अनिवार्य नहीं होता। हम अपने ग्रन्थ में संगीत के व्याकरण का अधिक उल्लेख न करके, इसके सौन्दर्य के सम्बन्ध में कई प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयत्न करेंगे। पहला प्रश्न है: संगीत में सौन्दर्य का क्या स्वरूप है?

(२)

सौन्दर्य में *भोग*, *रूप* और *अभिव्यक्ति* तीन तत्त्वों का समावेश होता है। संगीत में हम ध्वनि या नाद का भोग करते हैं। नाद में भी भोक्ता मधुर और चित्त-द्रावक नाद को ग्रहण करता है। नाद संगीत का 'कालिक' माध्यम है: यह काल-प्रवाह की भाँति क्रमशः अर्थात् एक के उपरान्त एक आता और जाता हुआ, बहता हुआ ग्रहण किया जाता है। कालिक माध्यम वाली कला में प्रवाह के कारण भोक्ता भी 'तन्मय' होने से प्रवाह का रूप धारण करता है। अतएव संगीत का सर्व-प्रथम प्रभाव श्रोता के ऊपर यह होता है कि वह अपनी स्थिर, जड़ वृत्तियों को प्रवाहशील ध्वनि के बल से छोड़ने को बाध्य होता है।

इसमें शरीर का भान सर्वाधिक स्थिर वृत्ति लाता है; इसी प्रकार स्मृतियाँ, चिन्ता, उद्वेग तथा अन्य मानसिक तनाव उत्पन्न करने वाले आवेग, जटिल भावना-ग्रन्थियाँ, ये सब चित्त में जड़ता उत्पन्न करते हैं। कुछ जड़ता कार्य के लिये उपयोगी होती है, किन्तु संगीत के आस्वादन में 'कार्य' की प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है। इस प्रवृत्ति के स्थगित होने से जीवन का विरोध करने वाली जड़ता का स्वरों के प्रवाह से निराकरण होता है। संगीत के प्रभाव से जीवन अपने स्वाभाविक 'प्रवाह' के रूप में फिर से लौट आता है। जीवन को जड़, कठोर, और स्थिर बनाने वाले सम्पूर्ण आवेग और वृत्तियाँ स्थगित हो जाने से जीवन में स्वर का प्रवाह, इसका नादमय सौन्दर्य, इसकी तरलता और लय आदि गुण रसिक की आत्मा को रसमय बना देते हैं।

संगीत में स्वरमय माध्यम कालिक होने के कारण इसके दो प्रभाव हमें स्पष्ट हो जाते हैं : क. निषेधात्मक फल है कि जीवन के सभी स्तरों में से अर्थात् शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, भावनात्मक स्तरों में से जड़ता और कठोरता का निराकरण। ख. विधानात्मक फल है कि जीवन में स्वर-प्रवाह का आरोप और आविर्भाव। इन दोनों प्रभावों को प्रवाहशील संगीत का नाद उत्पन्न करता है। यदि संगीत किसी समय इसे उत्पन्न नहीं कर पाता तो या तो संगीत स्वयं निर्बल और असुन्दर होता है या श्रोता की मानसिक अवस्था में अत्यधिक जड़ता है जिसे वह त्यागने को प्रस्तुत अथवा समर्थ नहीं है। संगीत के इन प्रभावों में इसकी शक्ति का रहस्य है।

नाद अत्यन्त कोमल और मधुर माध्यम है जिससे इसमें असंख्य प्रकार के विन्यास किया जाना सम्भव है। स्वरों के विन्यास से संगीत में 'रूप' का उदय होता है। यह रूप दृश्य नहीं, श्रव्य होता है, किन्तु इसमें रूप के सम्पूर्ण गुण विद्यमान होते हैं; जैसे स्वरों का सन्तुलन जिसके कारण एक स्वर दूसरे स्वर की उपेक्षा नहीं करता, बल्कि अपेक्षा रखता है। सम्पूर्ण स्वर-विन्यास में कोई भाग अधिक या न्यून न होकर एकता का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार स्वर-सामञ्जस्य तो संगीत का प्राण है। इसका अर्थ है कि एक स्वर अपने प्रभाव से दूसरे के प्रभाव को निर्बल न करके उसे और भी तीव्र बनाता है। वह स्वर-

सन्दोह जिसमें स्वरों का न केवल परस्पर समानुपात हो, प्रत्युत उनमें अनेक की एकता और एकता भी इस प्रकार की कि प्रत्येक स्वर अपने वैभव और माधुर्य से सम्पूर्ण सन्दोह को वैभव सम्पन्न और मधुर बनाये, संगीत में रूप कहलाता है। रूप के इन गुणों को ही हम सापेक्ष, सन्तुलन और संगति के नाम से पुकारते हैं। ये गुण संगीत में 'रूप' का निर्माण करते हैं।

(३)

रूप के गुणों में 'संगति' का विशेष महत्त्व है। किसी स्वर का प्रभाव हृदय को द्रवित करना, उसकी जड़ता को मिटा कर अपने स्वरूप का आरोप करना होता है। इसी प्रकार दूसरे स्वरों का भी प्रभाव होता है। किन्तु प्रत्येक स्वर अपना अलग व्यक्तित्त्व रखता है जिसके कारण इसका प्रभाव भी भिन्न रहता है। संगीत में 'रूप' के उदय के लिये स्वरों का विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि इनका सम्मिलित प्रभाव एक हो सके, जिसके लिये आवश्यक है प्रत्येक स्वर अपने प्रभाव से, अपनी मधुरता और द्रावक शक्ति से, 'सम्पूर्ण' के प्रभाव को और भी अधिक प्रखर बना सके। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि हम विरोधी प्रभाव को उत्पन्न करने वाले स्वरों का एक 'रूप' के निर्माण में उपयोग न करें। स्वरों की इस योजना से संगीत के रूप में 'संगति' (Harmony) का उदय होता है।

संगति के रूप में एक विशेषता है जो अन्य 'रूपों' में इतनी स्पष्ट नहीं होती। वह यह कि इसमें 'लयात्मक गति' तीव्र होती है। नाद में गति तो होती ही है, किन्तु यह गति नियमित होती है, इसमें आरोह और अवरोह का क्रम, विस्तार आदि विशेष विधानों से नियत किया जाता है। स्वरों को स्वच्छन्द गति को छन्द में बाँधकर इसके उत्थान और पतन में 'लय' उत्पन्न किया जाता है। नाद के प्रभाव से चित्त तो द्रवित पहले ही हो जाता है, जीवन को जड़ बनाने वाले बन्धन तो पहले ही दूर हो जाते हैं, अब 'रूप' के सन्तुलित, संगतियुक्त गति के आविर्भाव से जीवन के बहाव में 'लय' उत्पन्न होता है। श्रोता स्वयं संगीत बन कर संगति का रसास्वादन करता है। तब तो उसके जीवन में संगीत का

लय, उसका उन्मुक्त प्रवाह, नाद का माधुर्य और द्रावकता, आदि उदय होकर 'संगीत' के सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करते हैं।

संगीत में सौन्दर्य के लिये 'संगति' पर्याप्त है। पाश्चात्य संगीत ने इसके विकास के लिये विशेष प्रयत्न किया है और 'संगति' को परिष्कृत, पुष्ट और सूक्ष्म बना दिया है। संगति में यदि हम 'लय' अथवा स्वरों के उत्थान-पतन पर विशेष ध्यान न दें तो केवल प्रत्येक स्वर और उसके अन्य स्वरों से सम्बन्ध के प्रश्न को महत्त्व दिया जा सकता है। शुद्ध संगति के लिये 'लय' अनावश्यक सिद्ध हो सकता है। यही पाश्चात्य संगीत ने किया है। हम स्वरों का संगतिमय विन्यास इस प्रकार करते हैं कि एक स्वर अपने प्रभाव से सम्पूर्ण स्वर-सन्दोह के वैभव और प्रभाव की वृद्धि करे। यदि प्रत्येक स्वर का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाये तो इसमें कुछ वायु-तरंग की प्रति सैकिण्ड गणना और प्रति तरङ्ग की लम्बाई होती है जिन्हें विज्ञान क्रमशः Pitch और amplitude कहता है। यदि स्वरों का क्रम गणित के नियमों के अनुसार अर्थात् वायु-तरंगों की गणना और विस्तार के आधार पर, निश्चित किया जाये तो संगति का गणित-प्रधान रूप प्राप्त होता है। इस संगति के लिये यदि हम गणित के नियमों का पालन करते रहें अर्थात् एक स्वर का दूसरे से सम्बन्ध उनकी वायु-तरङ्गों की गणना के अनुसार समझते रहें तो यह भी आवश्यक नहीं कि यह संगति हमें 'रोचक' ही लगे। इस प्रकार लय और रोचकता का निराकरण करके शुद्ध संगति का विकास पाश्चात्य संगति की संसार के लिये देन है। यह संगीत शुद्ध गणित की भाँति है।

यदि हम संगीत में संगति पर ध्यान दें किन्तु उस संगति पर जितना निश्चय गणित नहीं, हमारी संगीत-रुचि स्वयं करे और साथ ही 'लय' पर विशेष ध्यान दें, उसकी गति में प्रत्येक स्वर के माधुर्य और द्रावकता को उद्दीप्त करें जिससे वह वैज्ञानिक नियमों की खोज करने वाली बुद्धि को चकित करे, साथ ही रस-ग्राही हृदय को अद्भुत शान्ति दे और जीवन को संगीत की लयात्मक गति और स्वर का वैभव प्रदान करे, तो उस समय संगीत में एक और गुण का उदय होता है जिसे भारतीय पण्डितों ने 'राग' अथवा melody कहा है। भारतीय संगीत ने 'राग' प्रधान रूप का विकास किया है राग में स्वरों के गणित

प्रधान-रूप अथवा संगति पर इतना बल नहीं दिया जाता जितना उसके जीवन में 'लय' उत्पन्न करने की शक्ति पर दिया जाता है। प्रत्येक राग में चित्त-रञ्जकता उसका प्राण है। राग में चित्त-रञ्जन चित्त-लय से होता है। यह चित्त-लय स्वरों की गति से उत्पन्न किया जाता है। यदि संगीत बन कर ही संगीत का आस्वादन किया जाता है तो राग रसिक को दृश्य और स्थूल जगत् से दूर ले जाकर स्वरों के संगतियुक्त चेतन, सूक्ष्म और श्रव्य जगत् में ले जाता है। जड़ को चेतन में, स्थूल को सूक्ष्म में, दृश्य को श्रव्य में अपने रूप के प्रभाव से परिवर्त्तन करके, राग चित्त-रञ्जना उत्पन्न करता है। इस प्रकार की चित्त-रञ्जना प्रधान स्वर-विन्यास राग कहलाता है। राग संगीत का परम रूप है।

(४)

संगीत की रागात्मकता पर और भी बल देने के लिये भारतीय पण्डितों ने संगीत की परिभाषा में नृत्य, वादित्य और गायन का समावेश किया है। संगीत की रञ्जना-शक्ति नृत्य, वादन और गायन के सम्मिलित प्रयोग में और भी प्रखर होती है। इनमें नृत्य के रागात्मक प्रभाव को मनुष्य और स्त्री अपने शरीर की गति से उत्पन्न करते हैं। मनुष्य की गति में शक्ति और ओज का प्राधान्य रहता है। इसलिये इसके नृत्य से उत्पन्न हुए प्रभाव को 'ताण्डव' कहा जाता है: हम इस नृत्य को ही ताण्डव कहते हैं। स्त्री की गति में सुकुमारता का विशेष प्रभाव रहता है। उसे 'लास' कहा जाता है। ताण्डव और लास के भेदों में प्रभावों की भिन्नता पर ध्यान अवश्य दिया गया है। किन्तु इनमें गति के रूप और विन्यास के नियम और प्रभाव समान ही हैं। हम पहले संक्षेप में नाट्याचार्य भरत के नृत्य-दर्शन का अध्ययन करेंगे।

भरत ने स्पष्ट ही कला के दो रूपों को लिया है: एक वह रूप जिसमें गति अथवा स्वर अपने प्रभाव से सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करते हैं, दूसरा वह जिसमें गति और स्वर विशेष मानसिक अवस्थाओं और भावों की अभिव्यञ्जना द्वारा सौन्दर्यास्वादन कराने में समर्थ होते हैं। हम दूसरे प्रकार की कला को अगले प्रकरण में लेंगे। नृत्य और गायन आदि का शुद्ध रूप वह है जिसमें

स्वर अपने अतिरिक्त कोई अर्थ का द्योतन नहीं करते। नृत्य का माध्यम गति है जो मनुष्य अपने शरीर के द्वारा व्यक्त करता है। गति में 'लय' होता है, क्योंकि 'गति' स्वर की भाँति कालिक माध्यम है। दार्शनिकों ने 'गति' के अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि गति स्थिरता की अपेक्षा सदा अधिक आकर्षक होती है। स्थिर जल की अपेक्षा जल-प्रवाह हमें अधिक रुचता है। इसकी रोचकता का कारण यह प्रतीत होता है कि गति का अनुभव करने में मानव-जीवन में गति का उदय होता है, जिसके कारण इसकी जड़ता का निराकरण होता है। यदि गति में लय भी विद्यमान हो, उसमें संगति सापेक्ष और सन्तुलन भी हों तो गति द्वारा एक 'रूप' का अनुभव भी उत्पन्न किया जा सकता है। यह रूप संगीत की भाँति ही सुन्दर होगा। 'गति' हमारे साधारण अनुभव में सूक्ष्म रहती है। इसमें 'रूप' का प्रादुर्भाव तो होता है, परन्तु इतना स्पष्ट नहीं कि हम साधारणतया उसको हृदयंगम कर सकें। अतएव गति के द्वारा उत्पन्न 'रूप' में गायन और वादन के अनुकूल 'स्वरों द्वारा मूर्त्त' ध्वनिमय रूप भी उत्पन्न किया जाता है। स्वरों के नादमय रूप से गति का सूक्ष्म रूप स्पष्ट हो जाता है, और गति के रूप से स्वरों के रूप में गति तीव्र हो जाती है। इस प्रकार दोनों के योग से सौन्दर्य का लयात्मक, मूर्त्त रूप प्रकट होता है, जिसे हम 'संगीत' कहते हैं।

संगीत में गायन, वादन और नृत्य के सम्मिलित प्रभाव को स्वीकार करके भारतीय विचारकों ने सौन्दर्य की अनुभूति में 'लय' को विशेष महत्त्व दिया है। शुद्ध नृत्य केवल गति का प्रवाह है। इस गति का शुद्धतम रूप भी हम नदियों के प्रवाह में पाते हैं। मनुष्य के शरीर में जब गति मूर्तिमती होती है तो उसके आध्यात्मिक जगत् की अभिव्यक्ति स्वयं ही होने लगती है। तब भी यदि रसिक केवल गति और इसकी तरलता, संगति और सन्तुलन का अनुभव करना चाहता है तो वह केवल इसी पर ध्यान दे। यह कठिन होगा, इसलिये राग द्वारा वह गति की शून्यता में लय की ओर स्पष्ट करता है। इस प्रकार राग का नृत्य के साथ अन्योन्य सम्बन्ध हो जाता है, जिससे सौन्दर्य का पूर्ण और शुद्ध लयात्मक रूप उत्पन्न होता है। कई दार्शनिकों ने इसी कारण से

संगीत को शुद्ध कला माना है। इसके अतिरिक्त सभी कलाएं अपने माध्यम के द्वारा अनेक अभिप्रायों और भावों को व्यक्त करने के कारण 'साहित्य' हो जाती हैं, जिसमें शब्द और अर्थ की द्विविधता आ जाती है।

(५)

संगीत के शुद्ध रूप को हृदयंगम करना कठिन होता है, क्योंकि उसमें हम किसी अर्थ, अभिप्राय, भाव या कथानक का लेश मात्र भी नहीं पा सकते हमारी बुद्धि कोई स्थूल वस्तु वहाँ न पाकर कुंठित हो जाती है। अतएव संगीत के विकास में शुद्ध रूप से पहले उसका मिश्रित रूप उदय हुआ, और, आज भी संगीत की 'लय' में हम अनेक भावों तथा मन्तव्यों को गीत आदि के रूप में मिलाकर दूसरों को प्रभावित करते हैं। भरत ने इस लौकिक और साधारण संगीत के रूप पर भी ध्यान दिया। उसने कला का आदर्श-रूप साहित्य को माना जिसमें शब्द अथवा मूर्त्त माध्यम किसी विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। संगीत में ध्वनि के मूर्त्त माध्यम द्वारा भावों की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार साहित्य में शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रसों का आस्वादन हम अर्थों की शक्ति से विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार स्वरों की भाषा से भी रसों की अभिव्यक्ति और आस्वादन सम्भव है। उदाहरणार्थ, शृङ्गार रस के उत्पादन के लिए मध्यम और पंचम स्वर-प्रधान गीत होना चाहिये। करुण रस गन्धार-प्रधान जाति से होता है। वीभत्स और भयानक रसों के लिए धैवत का प्रयोग बाहुल्य से होता है। संक्षेप में, इसका अर्थ है कि प्रत्येक स्वर का अर्थ होना चाहिये, जैसे प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। यह अर्थ 'रस' होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए विभाव, अनुभाव आदि को जाग्रत करने वाली भाषा भी उपयोग किया जाता है।

भरत की नृत्य-शैली में शरीर की गति से भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। उसके अनुसार शरीर का प्रत्येक भाग और प्रत्येक गति किसी न किसी मानसिक अवस्था का द्योतन करती है। यदि नर्तक अथवा नर्तकी का संपूर्ण शरीर—उसकी हस्त-मुद्रा, मण्डल, चारी, करण, खण्ड, अङ्गहार तथा नासिका,

चिबुक अधर और चक्षु—एक ही भाव से संगतियुक्त, सन्तुलित गति उत्पन्न करें तो प्रेक्षक के हृदय में उसी भाव का संचार हो जाता है। नृत्य से भावाभिव्यक्ति को और भी तीव्र बनाने के लिए 'सार्वभाण्डिक' अर्थात् सभी बाजे जिसमें सम्मिलित हों ऐसा वादन होना चाहिये। यह वादन "समं, रक्तं, विभक्तं च स्फुटं, शुद्धप्रहारजम्, तंत्रीगान समन्वितं, और यथालय स्तथा वाद्यं कर्त्तव्यमिह वादकैः" होना चाहिये। भरत के अनुसार रस की सबसे अधिक अभिव्यञ्जना दृष्टि से होती है। "इहभावा रसाश्चैव दृष्टयामेव प्रतिष्ठिताः। दृष्टया हि सूचितो भावः पश्चादंगैर्विभाव्यते।" भरत अपने अनुसार कला का उद्देश्य विश्रान्ती और सुख मानते हैं, क्योंकि सभी लोग सुख की कामना करते हैं। [सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा] इस सुख का मूल स्त्री है [सुखस्य च स्त्रियो मूलं, नानाशीलधराश्चताः]। अतएव नृत्य की सुन्दरतम अनुभूति स्त्री की सुकुमार गति से उत्पन्न होती है। नाटक का प्रारम्भ ही 'दुःखार्त्तानां, श्रमार्त्तानां, शोकार्त्तानां, तपस्विनाम्। विश्रान्ति जननं काले नाट्य येतन्मया कृतम्' अर्थात् दुःखी, श्रमार्त्त और शोकार्त्त लोगों की विश्रान्ति के लिए हुआ है।

संगीत के विषय में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि इसमें अभिव्यक्ति के लिये क्या स्थान होना चाहिये?

शुद्ध संगीत में अभिव्यक्ति का कोई स्थान न मानने वाले विचारक भी इस बात को स्वीकार करेंगे कि स्वर और गति आदि इतने प्रभावशाली, कोमल और मधुर माध्यम हैं कि मानव-जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव, उदात्त कल्पनाएं, चेतना के सभी रूप, इनके द्वारा अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। संगीत का विस्तार और विकास भी इसीके अनुसार हुआ है। नृत्य के द्वारा सम्पूर्ण कथानक जिसमें अनेक भाव, रस, और घटनाएं होती हैं व्यक्त किये जाते हैं। संगीत इस दशा में स्वरों और अङ्गहारों की व्यक्त भाषा बन जाती है जिसका अर्थ हम साहित्य की भाँति ही समझने लगते हैं। नृत्य की गति में दृश्य-कला की सरलता और श्रव्य-कला का लय दोनों सम्मिलित होने से वह कथानक जो संगीत द्वारा व्यक्त किया जाता है प्रखर प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इस समय तो कलाकार की अनूठी कल्पनाएं भी नृत्य की भाषा से मूर्त्त होती हैं।

वेष, अलंकार, गायन, गीत, वादन तथा पृष्ठ-भूमि की सजावट और बनावट से भाव के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करके, नृत्य अपनी गति से, संगीत की स्वरलहरी के साथ सहयोग पाकर, दर्शक के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व को द्रवित बना देता है। उदाहरणार्थ : एक सरिता हिमगिरि के स्वच्छ शिखरों से उतर कर आती है। उसमें दो अन्य स्रोत आकर मिलते हैं। यह मैदान में बहती है और इसमें ग्राम-वधूटियाँ जल भरती हैं, कृषक इससे खेतों को सींचते हैं, वणिक-जन नावों से व्यापार करते हैं। अन्त में यह तरङ्गिणी नील-लहरों से लहराते हुये समुद्र के भुज-पाश में अपने आपको समर्पित करके कृतार्थ हो जाती है। यहाँ नदी का यह भावमय, रसमय आध्यात्मिक जीवन अनेक प्रकार से कविता, चित्र और संगीत-द्वारा-अभिव्यक्त किया जा सकता है। इनमें संगीत अपने सम्पूर्ण नृत्य, वादन आदि अंगों और उपकरणों को लेकर इस कल्पना की मधुर, स्पष्ट और दृश्य-श्रव्य अनुभूति उत्पन्न कर सकता है। हमारे लोक जीवन में संगीत का विकास भावाभिव्यक्ति को उद्देश्य मान कर ही हुआ है। हम स्वीकार करते हैं कि संगीत में स्वर या गति का भावमय अर्थ उसका कोशगत अर्थ नहीं है, किन्तु इसी प्रकार ध्वन्यार्थ भी तो शब्द का सामान्य अर्थ नहीं होता। स्वरादि का भावमय अर्थ निकालने के पीछे एक दार्शनिक सिद्धान्त भी है। वह यह कि हमारा साधारण प्रत्यक्ष इतना उज्वल नहीं होता, यदि हम केवल प्रत्यक्ष के सामान्य रूप पर ही ध्यान दें। हमारे मन के भाव ही प्रत्यक्ष के शून्य अन्तराल में जीवन का महत्त्व और तरलता उत्पन्न करते हैं। एक पुष्प का भावमय प्रत्यक्ष उसके सामान्य प्रत्यक्ष से कहीं अधिक सार्थक और प्रखर होगा।

(६)

संगीत में भावाभिव्यक्ति के पोषक इतना ही कह कर सन्तुष्ट नहीं होते कि रसिक अपने मानस के रसों और भावों का आरोप करके स्वरों, और गतियों के विन्यास में 'रस' उत्पन्न करता है। वे तो यह मानते हैं कि स्वर का अर्थ ही 'रस' होता है। प्रत्येक स्वर विन्यास, जिसमें एक स्वर वादी अर्थात् प्रमुख

और अन्य स्वर संवादी अर्थात् वादी के अनुकूल होते हैं, एक रस का उद्रेक अपने प्रभाव से कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भारतीय संगीताचार्यों ने अनेक रसों को अभिव्यक्त करने वाले रागों और रागनियों की, उनके दिव्य स्वरूपों और उन्हीं रसों के अभिव्यञ्जक चित्रों की रचना की है। यह विकास सब प्रकार सराहनीय होते हुए भी एक भ्रान्ति से ग्रस्त है कि स्वरो के विन्यास से निर्मित राग का कोई स्वतन्त्र प्रभाव ही नहीं है जिसमें शृङ्गार, करुण आदि रसों का स्पर्श-लेश भी न हो! इस भ्रान्ति का आधार यह प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने स्थायी भावों की विभावों द्वारा जाग्रति करके रस-भोग करता है। इसके अतिरिक्त—अर्थात् इस 'रस' के अनुभव के अतिरिक्त सौन्दर्य का कोई अन्य आनन्द और रस नहीं है। किन्तु हमने इस ग्रन्थ में इस दृष्टि-कोण को भ्रान्त और संकुचित माना है।

तब फिर संगीत में भावोद्रेक से उत्पन्न रस के अतिरिक्त कौन-सा रस है जो इसके सौन्दर्य को विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।

संगीत का रस नाद के प्रभाव से उत्पन्न होता है। यदि नाद मधुर और मनोहर है तो इसका आस्वादन आँखें बन्द करके किया जाता है। नाद-प्रवाह काल की भाँति अथवा जीवन की भाँति ही प्रवाह है। अतएव इसमें 'तन्मय' होने का अर्थ है कि रसिक दृश्य, स्थूल और स्थिर जगत् को छोड़ कर श्रव्य, सूक्ष्म और तरल जगत् में चला जाता है। वैसे तो 'तन्मयता' रसास्वादन का प्राण है, किन्तु चित्र, मूर्ति आदि में 'तन्मय' होने की अपेक्षा जीवन की भाँति तरल नाद के प्रवाह में तन्मय हो जाना सरल और स्वाभाविक है। संगीत बन कर आस्वादन करने वाला रसिक अपने जीवन में संगीत का प्रवाह, इसकी ध्वनियों की तरल ताल और लय, संगति और सन्तुलन के उदय से इतना प्रभावित हो जाता है कि मानो वह जीवन की मूल-दशा को लौट जाता है। जीवन की मूल-दशा वह है जहाँ हमारे व्यक्तित्व के स्थूल, मानसिक और भावनात्मक बन्धन नहीं हैं, जहाँ अव्यक्त, अनन्त चेतना का दिव्य आलोक है, जहाँ स्थायी भाव भी मानो विलय की अवस्था में ही रहते हैं, जहाँ जीवन और मृत्यु, लाभ और हानि, पुण्य और पाप, सत्य और असत्य के द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं,

और, रहता है केवल जीवन का चिदानन्दमय तरल प्रवाह। संगीत का सुख इसी अवस्था का उदय है। इसके सुख को हम 'निमज्जन' भी कह सकते हैं। अत्यन्त निमज्जन तो ध्यान अथवा मोक्ष की अवस्था में होता है संगीत में यह 'निमज्जन' की अवस्था स्वरों के प्रभाव से उत्पन्न होती है, इसलिये रसिक बारम्बार स्वरों को हृदयंगम करने के लिये ''उन्मज्जन' भी करता है। निमज्जन की अवस्था में उसे ध्यान और मोक्ष के अलौकिक सुख का अनुभव होता है, उन्मजन की अवस्था में वह फिर स्वरों का स्पन्दन सुनता है। इस प्रकार वह संगीत के द्वारा ऐसे 'रस' का अनुभव करता है जो भावोद्रेक के रस से कहीं दूर और ऊँचा होता है। कुछ संगीतज्ञ इस 'रस' को 'शम' अथवा 'शान्ति' के के नाम से पुकारते हैं।

तब संगीत में सौन्दर्य का रूप क्या है? साहित्य-सौन्दर्य के विषय में हमने कहा है कि यह शब्द की विशेष योजना द्वारा ध्वन्यार्थ का आस्वादन है। शब्द की ध्वनि उसका विशेष अर्थ है जिसका आस्वादन रसिक कल्पना के बल से अर्थ के आनन्दमय प्रकाश-लोक में पहुँच कर करता है। संगीत का सौन्दर्य स्वरों की विशेष योजना से उत्पन्न होता है, जिस योजना में ध्वनि-प्रवाह, ताल, लय और सन्तुलन आदि के प्रभाव से जीवन में भी इसी प्रभाव का उदय होता है। इस दृष्टि से संगीत का सौन्दर्य साहित्यिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक सरल और स्वाभाविक है। इसके आस्वादन के लिये 'शब्दार्थ' के साहित्य की आवश्यकता नहीं होती। इतना ही केवल संगीत-सौन्दर्य से आस्वादन के लिये वाञ्छनीय है कि श्रोता अपने जीवन की जड़ता से, जड़ बनाने वाले आवेगों, इच्छाओं, और द्वन्द्वों से मुक्त होकर अपने आपको स्वर-प्रवाह के लिये समर्पित कर दे। स्वर अपने प्रभाव से भी स्वयं 'जीवन्मुक्त' की अवस्था उत्पन्न करते हैं। किन्तु वह अवस्था 'शून्य' नहीं होती। इसमें स्वरों का सुन्दर जीवन, उनका प्रसाद और वैभव, उनकी लहरी और मादकता, उन्मुक्त विलास और स्वच्छन्द गति, का उदय होता है।

चित्र-कला

चित्र-कला में सौन्दर्य दृश्य माध्यम द्वारा मूर्तिमान् होता है। 'मूर्ति' अथवा 'रूप' का सम्बन्ध चाक्षुप-अनुभव से इतना स्वाभाविक है कि हम साधारणतया अदृश्य वस्तु जैसे 'अर्थ' अथवा 'नाद' की मूर्ति को स्वीकार ही नहीं करते। यह प्रवृति यहाँ तक विद्यमान है कि हमारे देश में प्रत्येक राग और रागिनी के भाव-लोक को रंग के माध्यम द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न राजस्थानी चित्रकला 'राग-माला' में हुआ है। योरोप में तो एक संगीत पद्धति का जन्म हुआ है जिसमें प्रत्येक श्रुत ध्वनियों के रूप से दृश्य चित्र का अनुभव होता है। यह संगीतज्ञ बीठोविन था जिसने Symphony अथवा ध्वनि-धारा का आविष्कार किया। एक ध्वनि-धारा नाद के प्रभाव से एक चित्र उपस्थिति करने का प्रयत्न है, जैसे 'सूर्योदय' (Sunrise) नाम की सिम्फनी के बजाने से समुद्र-तट पर प्रातः-कालीन दृश्य—सूर्य की अरुण कोमल प्रभा, मन्द, शीतल समीर, पक्षियों का कलरव आदि—उपस्थित होता है। इसी प्रकार वसन्त ऋतु का दृश्य, तूफान का दृश्य आदि अनेकानेक दृश्य उपस्थित करने वाली ध्वनि-धाराएँ हैं जिनका माध्यम स्वर है किन्तु आस्वादन का रूप श्रव्य से अधिक दृश्य है।

दृश्य-जगत् का ध्वनि की भाषा में अनुवाद जैसा कि राग-माला अथवा सिम्फनी में हुआ है चित्र-कला के सौन्दर्य का रहस्य है। यदि किसी चित्र में इतनी शक्ति नहीं है कि वह अपने सीमित, दृश्यमान् रूप से ऊपर उठा कर किसी असीम, और अमेय कल्पना के लोक में ले जा सके, तो वह अवश्य ही सुन्दर नहीं है। सैलोज मुकर्जी के 'पनघट' नामक चित्र को लीजिए। यदि यह केवल रंग और रेखाओं का निरर्थक विन्यास है तो हमारी दृष्टि क्षण भर चित्र पर ठहर फिर वहाँ लौट कर न जायगी। किन्तु अब चित्र पर प्रथम दृष्टि ही हमें अपने लोक से हटा कर चित्र-लोक में ले जाती है जहाँ विस्तृत मैदान है, दूरी पर धुँधला क्षितिज है, प्रातः काल की कोमल-प्रभा से तरु-पल्लव झिल-

मिला उठे हैं और झिलमिला उठी हैं ग्राम-वधूटियों के तरुण मुख पर अरुण-हास की रेखाएँ। समीप ही ग्राम है, छोटा, स्वच्छ और झोपड़ी वाला दीन। पनघट इन ग्राम-वधुओं का केवल पानी ले जाने का साधन ही नहीं है, यह उनका 'क्लब' है जहाँ इनका चुटकीला हास-विलास होता है, किन्तु काम चलता रहता है, क्योंकि घर पर अपने प्रेमियों और पुत्रों की अनेक आवश्यकताएं हैं जिनके लिये उन्हें तैयारी करनी है। इसलिये हाथों में स्फूर्त्ति है, पैरों में गति है, हृदय में सरसता और सौहार्द है और घड़ों में लबलबाता जल है। यह है 'पनघट' का भावलोक जहाँ चित्रकार हमें ले जाता है। एक दम नहीं, किन्तु प्रथम हमारी दृष्टि एक भाग पर पड़ती है, ध्यान का 'आवर्तन' होता है और हम सावधान होकर रंगों और रेखाओं को भाषा में भावों का अनुवाद पढ़ते हैं। तदनन्तर कल्पना के लोक में ध्यान जाकर उन भावों और कल्पना-चित्रों को स्पष्ट करता है। किन्तु चित्र के दूसरे भाग में दृष्टि फिर से 'प्रत्यावर्त्तन' करती है और फिर भी ध्यान वहाँ से हटकर भाव-लोक में पहुँचता है। चित्र के सौन्दर्य-आस्वादन में इसके बाह्य रूप और इसके भाव-लोक के मध्य में ध्यान का यह आकर्षण-प्रत्याकर्षण अथवा अवधान का पुनः-पुनः होने वाला आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन हमें सौन्दर्य के चित्रमय रूप का रहस्य उपस्थित करता है। संगीत में हम 'उन्मज्जन-निमज्जन' के द्वारा रसास्वादन करते हैं क्योंकि वहाँ नाद का प्रभाव 'द्रावक' है और 'आत्म-विस्मृति' उत्पन्न करता है, यहाँ तक कि मूर्च्छा और समाधि की अवस्था भी उत्पन्न कर सकता है। चित्र के सौन्दर्य में रंगों और रेखाओं का प्रभाव हमें दूर भावलोक के प्रति आकर्षित करता है और ध्यान फिर चित्र की ओर प्रत्याकर्षित होता है। यह आकर्षण-प्रत्याकर्षण ही चित्र में रसास्वादन की क्रिया और सौन्दर्य की विशिष्टता है।

(२)

ध्यान का यह 'आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन, इस कारण से चित्र-सौन्दर्य का रहस्य है क्योंकि चित्र का माध्यम 'कालिक' नहीं, स्थानिक होता है। यह हमारे नेत्रों के सम्मुख रेखा और रंगों की विशेष योजना प्रस्तुत करता है जिसमें हमारी

दृष्टि ऊपर-नीचे, दायें-बायें जा सकती है। प्रत्येक रेखा अपना प्रभाव डालती है। रेखा की सरलता अथवा कुटिलता, उसकी मन्द-वेगता अथवा तरलता, उसका घनापन और विरलता, इसी प्रकार रेखा-गत वंक, गोलाइयाँ और वृत्त आदि प्रत्येक गुण हमें प्रभावित करते हैं और जीवन की अपने-अपने अनुकूल भावनाओं को जाग्रत करते हैं। उदाहरणार्थ, सरल रेखा जीवन में सरल भावों का उत्थान करती है, तरल और वेगवती रेखा जीवन में उत्तेजना लाती है। चित्र में रेखाओं की भाषा का प्रयोग संगीत में स्वरों की भाँति होता है। स्वरों का प्रभाव चित्त-द्रावकता और रेखाओं का प्रभाव चित्ताकर्षण होता है।

रेखा न केवल अपने ही व्यक्तित्व से दर्शक को प्रभावित करती है, किन्तु यह 'रूप' का आविर्भाव करती है। यह रूप मधुर, ओजस्वी, गतिमान् हो सकता है। रेखा द्वारा प्रादुर्भूत रूप से जीवन की अनेक भावनाएं, इसकी गम्भीरता अथवा सरलता, चंचलता अथवा स्थिरता, प्रसाद अथवा अस्पष्टता, आदि व्यक्त की जाती हैं। इस प्रकार रेखा अपने व्यक्तिगत प्रभाव से और रूप का निर्माण करके चित्र में सौन्दर्य की सृष्टि करती है अर्थात् चित्र में आकर्षण-प्रत्याकर्षण की शक्ति उत्पन्न करती है।

रंगों का प्रभाव भी मानव-भावनाओं पर स्वभाव से नियत है। लाल रंग चित्त में उत्तेजना और बल की भावना उत्पन्न करता है। हरा रंग शीतलता, नीला रंग गम्भीरता, पीत वर्ण आश्चर्य, श्वेत वर्ण स्वच्छता, काला रंग भयंकर भावों को उत्पन्न करते हैं। रंगों से रूप के आविष्कार में सहायता होती है। रेखा से जिस 'रूप' का आविर्भाव होता है, रंग उसे 'स्थान' की स्पष्टता प्रदान करता है। यद्यपि चित्र का मूल माध्यम रेखा है जिसके गुणों के प्रभाव से सौन्दर्य का आस्वादन उत्पन्न होता है, तथापि रंगों द्वारा वह प्रभाव स्थिर और प्रखर हो जाता है। सुन्दर चित्र में रंगों और रेखाओं के सामञ्जस्य से प्रभाव अधिक होता है। रंग और रेखा दोनों मिल कर चित्र में 'रूप' को उत्पन्नकरती हैं। चित्र के अनेक भागों में रेखा और रंग के पृथक् प्रभावों के सामञ्जस्य से 'संगीत' का उदय होता है। रेखा की गति के साथ दृष्टि की गति होती है और इसका अनुभव प्रेक्षक के हृदय में 'गति' उत्पन्न करता है। यदि चित्र के एक

भाग में गति और प्रभाव दूसरे भाग के गति और प्रभाव के अनुकूल हैं तो इससे 'सन्तुलन' उत्पन्न होता है। यदि एक रेखा दूसरी रेखा के प्रभाव को, एक रंग दूसरे रंग के प्रभाव को न्यून न करके तीव्र बनाता है तो इससे सजीव संगति का उदय होता है। इस प्रकार रंगों और रेखाओं के विन्यास से चित्र में संगति, गति, सन्तुलन, सामञ्जस्य, सजीवता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे हम चित्र को दृश्य माध्यम द्वारा निर्मित संगीत कह सकते हैं। रंगों और रेखाओं के प्रभाव से कोमलता, सुकुमारता, ओज, शक्ति, सरलता और इनकी विरोधी भावनाओं को जाग्रत कर सकते हैं। चित्र के इन प्रभावों और गुणों से दृश्य माध्यम द्वारा शुद्ध सौन्दर्य का उदय होता है।

(३)

संगीत के शुद्ध सौन्दर्य की भाँति, चित्र का शुद्ध सौन्दर्य भी साधारणतया हमारे लिये कठिन होता है। अतएव हम बहुधा रंगों और रेखाओं से कहानी कहना चाहते हैं। जिस प्रकार स्वरों के माध्यम से 'गाना' गाया जाता है। इसका अर्थ है कि चित्र-सौन्दर्य को हम 'अभिव्यक्ति' का साधन बना देते हैं। आदिम काल की कला में रेखाओं के ओज-प्रभाव की प्रधानता थी, किन्तु आदिम मनुष्य ने रेखाओं के द्वारा अपने जीवन की प्रखर अनुभूतियों को व्यक्त किया था। चित्र-कला के विकास में भी हम "क्या व्यक्त करते हैं?" इस पर अधिक बल रहा है और "किन रेखाओं के द्वारा कैसे व्यक्त करते हैं?" इस प्रश्न पर हमने अधिक ध्यान नहीं दिया है। इसलिये प्रत्येक युग की कला चित्र-सौन्दर्य अर्थात् रंग और रेखा के प्रभाव का प्रयोग उस युग की भावना को व्यक्त करने के लिये करती है। अतएव चित्र-कला में सौन्दर्य में 'भोग' 'रूप' की प्रधानता नहीं रही; यह अभिव्यक्ति-प्रधान कला है।

चित्र-सौन्दर्य क्या अभिव्यक्त करता है?

भरत के रस-सिद्धान्त के अनुसार चित्र द्वारा रसाभिव्यक्ति की जाती है। रसोद्रेक के लिये कलाकार उसके अनुकूल विभावों की कल्पना करता है। ये उद्दीपन विभाव होते हैं। उसमें नायक अथवा नायिका का चित्र उतारा जाता है।

इन चित्रों में 'रूप' 'लावण्य' 'शोभा', 'कान्ति' आदि को समृद्ध करने के लिये चित्रकार प्रकृति में से सौन्दर्य के आदर्शों का संकलन करता है अर्थात् नेत्र की शोभा के लिये कमल, हरिण के नेत्र, मुख की कान्ति के लिये पद्म, चन्द्रमा, हाथों के चित्रण के लिये कमल-नाल, पैरों के लिये हाथी का शुण्डा-दण्ड अथवा कदली-स्तम्भ; इसी प्रकार चित्र की नायिका के चित्रण के लिये सुन्दरी के अवयवों का विन्यास, आरोह-अवरोह, गुरुता-लघुता, वर्ण-विन्यास, सज्जा-अलंकार आदि को आदर्श रूप से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन विभावों की रेखा और रंगों के माध्यम द्वारा सृष्टि से कलाकार शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रसों का संचार करता है। भरत के लिये चित्र-कला और साहित्य में केवल माध्यम का अन्तर है। एक सुन्दर चित्र सुन्दर काव्य है। भरत ने प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के लिये तदनुकूल रंगों का निर्देश भी किया है—श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यो प्रकीर्त्तितः इत्यादि।

रसाभिव्यक्ति चित्र-सौन्दर्य का संकुचित उद्देश्य है। किन्तु यह आदर्श कथानक-प्रधान कला से अधिक संगत प्रतीत होता है। इस कला में तो कथानकों का रंगों के माध्यम द्वारा चित्रण किया जाता है, अनेक सुन्दर घटनाओं और सुखद, स्मरणीय अवसरों की स्मृति को स्थिरता देने के लिये जिस प्रकार फ़ोटोग्राफ़ का प्रयोग होता है, उसी प्रकार कलाकार चित्रण करता है। यह निम्नकोटि की कला है। इससे उच्चतर कला वह है जिसमें कलाकार अपना दृष्टिकोण रख कर चित्रित पदार्थ में 'अतिशय' उत्पन्न करता है जिससे प्राकृतिक वस्तु अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। किन्तु इस स्तर पर भी कला का क्षेत्र चर्म-चक्षु की अनुभूति से बहुत ऊँचा नहीं उठा। यह मानो साहित्य में लक्षणा द्वारा प्राप्त अर्थ है।

चित्र-कला में अर्थ और भाव की 'ध्वनि' उत्तम कला का गुण है। जिस समय चित्र के सौन्दर्य का ध्वनि द्वारा आस्वादन किया जाता है, प्रेक्षक में कल्पना जाग्रत होती है। इसके लिये चित्रकार रेखा और रंगों के संकेतों का प्रयोग करता है। न केवल रेखा और रंगों का साधारण उपयोग, वरन् उनके विन्यास से एक कल्पना-लोक की सृष्टि करता है। पाश्चात्य कलाकार इस कल्पना की जाग्रति के लिये 'प्रकाश और छाया' (Light and Shade) तथा दृष्टि-

क्षेप (Perspective) का प्रयोग करते हैं, जिनके बल से चित्रित पदार्थ का वह रूप प्रेक्षक के सम्मुख स्फुट होता है जिस रूप को कलाकार ने स्वयं देखा था। राजस्थानी 'राग-माला' नाम की चित्रावली को लीजिये। उसमें प्रकाश और छाया के कौशल का प्रयोग नहीं, किन्तु रेखा और रंगों से पृष्ठ-भूमि और अग्रभूमि की योजना इस प्रकार की गई है कि प्रेक्षक अपने लोक से उठ कर उस चित्र के कल्पना-लोक में पहुँच जाता है। इन चित्रों में रेखा का प्रयोग विशेप-रूप से पृष्ठ-भूमि को मार्मिक बनाने के लिये किया गया है जिससे सुदूर सागर की उत्तांल तरङ्गों का अनुभव होता है, कहीं-कहीं विस्तृत क्षितिजहीन लोक की प्रतीति उत्पन्न होती है। इनमें रेखा की सामर्थ्य इतनी अधिक है कि प्रेक्षक में अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति जगने से वह चित्र के रूप में आसक्त हो जाता है। उसकी दृष्टि बारंबार वहाँ पहुँचती है और उनके संकेतों को ग्रहण कर पुनः-पुनः चित्रकार द्वारा कल्पित कल्पना-लोक में पहुँचती है। इसके अतिरिक्त 'रागमाला' में भरत के उद्दीपन और आलम्बन विभावों द्वारा जाग्रत रस की भावना का आस्वादन होता है।

केवल कल्पना को जाग्रत करना चित्र का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, यद्यपि यह परमावश्यक अवश्य है। केवल कल्पना के स्फुरण को चित्र-सौन्दर्य का लक्ष्य मानने वाली चित्र-कला 'भ्रान्ति' को ही आस्वादन का आधार मानती है। उदाहरणार्थ : रंगों, दृष्टिक्षेपों आदि के विन्यास से वस्तुओं के 'ठोस' रूप की भ्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है। चित्र-पट पर केवल लम्बाई और चौड़ाई का विस्तार तो होता है, किन्तु इसमें ठोस पदार्थों का चित्रण इस कौशल के साथ किया जा सकता है कि उनके वास्तविक रूप का अनुभव हो जाये। इस प्रकार की कला 'अनुकरणात्मक' होती है और क्योंकि यह 'वास्तविक की भ्रान्ति' उत्पन्न करती है अतएव सनीमा के चल-चित्रों की भाँति साधारण प्रेक्षक के लिये रञ्जना भी उत्पन्न कर सकती हैं। किन्तु स्मरण रहे कला का आदर्श भ्रान्त अनुभव उत्पन्न करके रञ्जना उत्पन्न करना नहीं है। वह कल्पना को जाग्रत करती है रेखाओं और रंगों के प्रयोग द्वारा, विशेषतः पृष्ठ-भूमि में रेखाओं का संकेत प्रेक्षक की सम्पूर्ण अवधान-क्रिया में आकर्षण-प्रत्याकर्षण उत्पन्न करता है। इस

क्रिया का फल अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति को उद्दीप्त करता है जिसके परिणाम-स्वरूप प्रेक्षक के मानस में रेखाओं की गति, उनकी संगति, उनका उत्थान और अवरोह, उनकी सरलता और तरलता आदि का उदय होता है। यहाँ से चित्र के सौन्दर्य का 'रसास्वादन' प्रारम्भ होता है। प्रेक्षक की दृष्टि 'सुन्दरी' के रूप पर, पुष्प के कोमल-दलों पर, नदी के तरल-जल पर, जाते ही उन रेखाओं की गति और संगति को अपने मानस में अनुभव करने लगती है जिनसे उन 'रूपों' का सृजन हुआ है। इसका अर्थ है कि चित्र-सौन्दर्य का आस्वादन क्रम से कई भूमियों में होकर होता है। ये भूमियाँ एक दूसरे से पृथक् तो नहीं है किन्तु रसास्वादन की क्रिया में इन्हें स्पष्ट समझा जा सकता है। ये भूमियाँ एक के अनन्तर एक इस प्रकार आती हैं कि प्रेक्षक अपने ही अन्तर में 'देखे हुए पदार्थ से अनदेखे' पदार्थों का अनुभव करने लगता है। यह चित्र में 'ध्वनि' है जो इसके सौन्दर्य का सार है।

(४)

चित्र-सौन्दर्य के आस्वादन में प्रथम भूमि रेखा और रंगों तथा इनके द्वारा सृष्ट सन्तुलित रूपों से चित्त का आकर्षण है। यह 'चित्ताकर्षण' कलाकार मधुर रंगों की योजना अथवा भावानुकूल विन्यास और रेखा से रूपों की रचना द्वारा करता है। दूसरी भूमि पर यह चित्र, विशेषतः पृष्ठ-भूमि की रचना द्वारा चित्त में 'कल्पना' को उद्दीप्त करता है। यह प्रेक्षक के अवधान का 'प्रत्याकर्षण' है। वह रेखाओं के बल से अपने मानस में एक क्षितिज का उद्घाटन देखता है जिसमें प्रवाह, प्रपात, वन, समुद्र आदि रमणीक पदार्थों का अलौकिक रूप कल्पना द्वारा होता है। यह आवश्यक नहीं कि ये पदार्थ चित्र में विद्यमान ही हों। रेखाओं की संकेत-शक्ति से कल्पना जाग्रत होकर स्वयं इन रम्य वस्तुओं का सृजन कर लेती है। यह भूमि भी आनन्द की भूमि है और यह चित्र के पार्थिव स्वरूप को मानस-लोक अथवा कल्पना का अनूठापन प्रदान करती है। किन्तु सुन्दर चित्र इस भूमि से ऊपर उठते हैं। तीसरे क्रम पर चित्त में 'आकर्षण' का पुनः उदय होता है और प्रेक्षक की दृष्टि रेखाओं के साथ दौड़ती,

उठती, गिरती और गति करती है, रंगों के विन्यास और सुकुमार वैभव का तीव्र अनुभव करती है। इससे 'अन्त-र्भावना' उद्‌बुद्ध हो उठती है और प्रेक्षक को स्थिर चित्त में गति का अनुभव होता है; सरल रेखाएं और वर्ण-विन्यास इनके मानस की वेदना से प्राणित हो उठते हैं। 'रूप' में जीवन का संचार होता है, वृक्ष के दल चंचल होने लगते हैं, चित्रित सरिता में वेग आ जाता है, समीर का उच्छ्‌वास और जल का कलकल नाद जो चित्र में नहीं है, सुनाई देने लगते हैं। प्रेक्षक अन्तर्भावना के कारण अपने प्राणों से चित्र को प्राणित कर देता है। रसास्वादन की अन्तिम भूमि में पहुँच कर प्रेक्षक उस चित्र में 'भाव-लोक' का अनुभव करता है अर्थात् इसमें हर्ष अथवा अवसाद, आशा अथवा निराशा और कभी-कभी ऐसे भयंकर भाव जैसे एकाकीपन, शून्यता, विरह, वियोग आदि का अनुभव होता है। अन्त में भावों की जाग्रति से चित्र के सौन्दर्य में 'मानवता' का उदय होता है। प्रेक्षक अपनी ही मानवता का प्रत्यक्ष रूप चित्र में देखकर उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करता है। चित्र के सौन्दर्य का रसास्वादन इन पाँच भूमियों में से होता है। जितना उत्कृष्ट सौन्दर्य होता है उतना ही दूर तक वह प्रेक्षक को अपने बल से ले जाता है। अधम चित्रों में पहली और दूसरी भूमि से मनुष्य ऊँचा नहीं उठता।

(५)

हमारे देश में काम-सूत्र के रचयिता वात्सायन के नाम से चित्र-कला के ६ सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। इनमें ऊपर की पाँच भूमियों का संग्रह करने का प्रयत्न है। किन्तु इन सिद्धान्तों में चित्रकार के सृजन का दृष्टि कोण है न कि प्रेक्षक के रसास्वादन का। कलाकार चित्र-सृजन के पूर्व ध्यान-मंत्रों की सहायता से अथवा साधना और तपस्या द्वारा अपने मानस में व्यक्तिगत बन्धनों और भावना-ग्रन्थियों का निराकरण करके अपूर्व रूप का आविर्भाव होने देता है। भारतीय कला-दर्शन के अनुसार 'रूप' का आविर्भाव बाह्य-वस्तुओं की प्रेरणा से नहीं, किन्तु साधना के बल से चित्रकार के अन्तर्लोक में ही उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियों से होता है। वह अनुभूति को तीव्र और स्पष्ट बनाता है; अपने

व्यक्तित्व की सीमाओं का विच्छेद कर उसमें व्यापक वेदना को उदय होने देता है। वह अपने मानस के विस्तृत अन्तराल में 'रूप' के दर्शन की प्रतीक्षा करता है, और, वहाँ उसके तप से प्रसन्न होकर अद्भुत 'रूप' स्वयं उदित होता भी है जिसकी तुलना संसार के किसी 'रूप' से सम्भव नहीं। यही कारण है कि भारतीय कला में कभी-कभी 'समानता' हमें नहीं मिलती। वात्सायन के अनुसार यह 'रूप' का प्रथम उन्मेष प्रकाश और वर्णों के अव्यक्त विस्तार के स्वरूप में होता है। कलाकार इस प्रकाश और वर्णों के उमड़ते हुए घन-पटल में से मानो स्पष्ट और व्यक्त रूप का आविष्कार करता है। यह उसके अनुसार कला-सृजन का प्रथम चरण है जिसे वह 'रूप-भेद' कहता है।

इसके अनन्तर वह 'रूप' की नाप-तोल प्रारम्भ करता है। उसके अनुसार 'रूप' का आविर्भाव भावों के अव्यक्त लोक से होता है; इसलिये भाव से भावित रूप का स्वयं अपना प्रमाण होता है, जैसे, दिव्य-रूप में देवता के शरीर और अवयवों का मान और ताल, मानुष-रूप के शरीर और अवयवों के मान और ताल से भिन्न होंगे। इसी प्रकार प्रत्येक भाव के अनुसार 'रूप' के ताल और मान निश्चित होते हैं। चित्रकार इन मानों में सन्तुलन, सापेक्ष और संगति का अवश्य ध्यान रखता है। यह वात्सायन का 'प्रमाण' है जो 'रूप' की अभिव्यक्ति की दूसरी भूमि है।

रूप-भेद और प्रमाण के द्वारा सौन्दर्य मूर्त होने लगता है, किन्तु इस मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा का प्रयत्न आवश्यक है। यद्यपि रूप का उदय ही चित्रकार के जीवन और प्राण के उद्वेलन से होता है, तथापि उसमें प्रेक्षक की दृष्टि से जीवन का उदय आवश्यक है। कलाकार मूर्त्त रूप में भावना को व्यक्त करता है। वात्सायन इसे 'भाव' कहता है।

इस समय तक रूप स्पष्ट और भावमय हो जाता है, किन्तु अभी इसमें प्रेक्षक के हृदय को उद्वेलित और आकृष्ट करने की शक्ति नहीं है। इसलिये चित्रकार रूप में लावण्य की योजना करता है। लावण्य सौन्दर्य का वह रूप है जिसमें लहरों की तरङ्गायमानता, गति और अवयवों द्वारा निर्मित किन्तु इनमें व्यापक और अविभक्त रस की अनुभूति उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान हो।

'लावण्य-योजनम्' का आधुनिक अर्थ चित्र में अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत करने का प्रयत्न है।

इसके अनन्तर 'सादृश्य' का क्रम है, जिसका अर्थ है कि प्रेक्षक कलाकार के आविष्कृत रूप की पहचान किसी अपने अनुभूत और परिचित 'रूप' का सादृश्य पाकर करता है। अतएव कलाकार उसमें 'मानवता' का संचार करता है। यदि कलाकार उन्मादवश किसी ऐसे रूप की कल्पना कर बैठे जो हमारे अनुभव के एक दम बाहर हो तो हमें ऐसे रूप से आकर्षण नहीं होगा। 'सादृश्य' के द्वारा वह रूप को परिचित बनाता है; उसमें हमारी ही मानवता की प्रतिष्ठा करता है।

अन्त में 'वर्णिका-भंग' है जिसका अर्थ वर्ण-विन्यास है। यहाँ चित्र-सृजन की अन्तिम भूमि है जहाँ कलाकार अपने कौशल से मानसिक 'रूप' को वर्णों की भाषा में व्यक्त करता है।

कला के आस्वादन में यदि हम इस क्रम का विपर्यय कर दें तो पहले प्रेक्षक वर्णों के विन्यास का अवलोकन करता है, तदनन्तर उसे चित्र में सादृश्य की प्रतीति होती है। अपनी मानवता की वर्णों की भाषा में व्यक्त मूर्ति देखकर प्रेक्षक चित्र में आत्मिकता का अनुभव करता है। इससे वह चित्र में और भी अधिक तल्लीन होता है। तन्मयता के कारण वह चित्र में 'तरङ्गों' का अनुभव करता है। अन्तर्भावनात्मक-प्रवृत्ति के जग जाने से चित्र सजग, सजीव हो उठता है। अब भाव-लोक का उदय होता है। वह चित्रगत उल्लास और अवसाद का अपने ही मानस में अनुभव करता है, ठीक वैसे ही जैसे सहृदय प्रेक्षक नाटक के दृश्यों की भावना को अपने में आरोपित करता है। वह भावना अपना सन्तुलित, ताल और मान युक्त, रूप रखकर प्रेक्षक के हृदय में उदित होती है। शनैः-शनैः ताल और मान की सीमा द्रवित होने लगती हैं और चित्रकार के मानस-लोक में जिस 'रूप' का उदय हुआ था वह 'रूप' प्रेक्षक के मानव-लोक में उदित होता है। यह 'रूप' स्पष्ट और व्यक्त होता है, यद्यपि इसका आधार प्रेक्षक की आध्यात्मिक अनुभूति ही है। अन्त में यह स्पष्ट रूप मानस के असीम क्षितिज में प्रकाश और वर्णों के अव्यक्त, असीम घन-पटल के रूप में परिवर्तित

हो जाता है। यह क्षण सौन्दर्य के उदय का प्रथम उन्मेष था जिस समय कलाकार के तपःपूत मानस में साधना के फल-स्वरूप आनन्दमय रूप का स्फुरण हुआ। सौन्दर्य-आस्वादन की इस क्रिया में ध्यान की प्रधानता है। इसमें प्रेक्षक कलाकार के कला-सृजन की सभी भूमियों में से होकर (विपर्यय से अर्थात् चित्र के बाह्य सौन्दर्य से प्रारम्भ करके उसके आध्यात्मिक अन्तरिक्ष तक) रस का आस्वादन करता है। ध्यान-प्रधान कला में जैसा कि भारतीय कला है चित्त के आकर्षण-प्रत्याकर्षण से भी अधिक 'निमग्नता' का अनुभव होता है।

मूर्ति-कला

चित्र की एक विशेष सीमा होती है, वह यह कि इसमें विस्तार और क्षेत्र के बल से 'घन' और 'आयतन' का संकेत किया जाता है। रेखा और रंग भी घनत्व और स्थूल मूर्ति को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। किन्तु क्षेत्र से घन का संकेत भ्रान्त प्रत्यक्ष है, यद्यपि यह भ्रान्ति स्वयं हमारे लिए स्वाभाविक है और चित्र के रसास्वादन में सहायक होती है। मूर्ति-निर्माण में कला की यह सीमा दूर हो जाती है। इसमें माध्यम पत्थर, लकड़ी, पकी हुई मिट्टी, खड़िया आदि पदार्थ होते हैं। जिनमें घन और आयतन दोनों विद्यमान हैं। यहाँ घनत्व आदि का संकेत नहीं किया जाता, किन्तु माध्यम के ये गुण स्वयं अनेक संकेतों के मूल हो जाते हैं। इस प्रकरण में हम घन-माध्यम के उन गुणों पर विचार करेंगे जिनके द्वारा वह कलात्मक सौन्दर्य और रसास्वादन उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

एक शिला-खण्ड को लीजिये। इसमें शब्द की भाँति अर्थ का साहित्य नहीं। हम इसका कोई अर्थ नहीं निकाल सकते। स्वर की भाँति यह कालिक माध्यम अथवा प्रवाह नहीं। यह गति-शून्य, स्थिर स्थानिक पदार्थ है। यह रेखा और रङ्ग की भाँति सुकुमार और सरल नहीं, जिसमें केवल क्षेत्र का प्रयोग हो; यह स्थूल, आयतन युक्त, घन वस्तु है जिसमें रेखा और रंग दोनों विद्यमान तो रहते हैं, किन्तु इनका कोई संकेतित अभिप्राय प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार यह शिला-खण्ड अर्थ-शून्य, स्थिर, स्थूल और अभिप्राय-रहित अचेतन अवस्था में मानो पड़ा है, जिसमें मूर्तिकार अद्भुत चेतना का संचार करता है, अर्थ-शून्य में अर्थ की प्रखर अनुभूति, स्थिर में गति की प्रतीति, स्थूल में सूक्ष्म भावों का विलास, अभिप्राय-रहित पदार्थ में मूर्ति अभिप्राय को उत्पन्न करता है। वह शिला-खण्ड गति, संगत, सन्तुलन आदि रूप के गुणों से भी शून्य है; इससे केवल भार, गुरुता की अभिव्यक्ति होती है। इस रूप-रहित अव्यक्त वस्तु में रूप

का प्रत्यक्ष दर्शन, 'भार' के स्थान पर 'भावों की प्रखर अभिव्यञ्जना' उत्पन्न करना मूर्तिकार की कला है। मानो मूर्तिकार सुषुप्ति में जागृति का तम में आलोक का, मृत्यु में जीवन का, अव्यक्त में व्यक्त और अरूप में सुरूप का, सृजन करता है।

ऐसे माध्यम में कई गुण होते हैं। शब्द, स्वर, रंग, रेखा आदि में स्वयं अपना व्यक्तित्व होता है, इसलिए कलाकार की उत्पादक प्रतिभा, जहाँ इनमें कोमलता पाती है, वहाँ अपने अभिप्राय के अनुकूल इनको मोड़ लेने में कठिनाई का अनुभव करती है। प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ है, इसकी लम्बाई और अक्षर-विन्यास भी नियत है। इसी प्रकार स्वर आदि का स्वभाव नियत है। किंतु प्रस्तर-खण्ड में इस प्रकार की नियतता कुछ भी नहीं है। इसमें केवल अपने गुण हैं भार, गुरुता, आयतन, घन आदि और कुछ रंग, किन्तु जिसका अपने आप कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसमें स्पर्श भी है, किन्तु इसका कोई शब्द और स्वर की भाँति नियत अर्थ नहीं है। सत्य तो यह है कि कला की उत्पादक कल्पना के लिए जो अरूप में रूप का आविर्भाव करती है, एक पत्थर का टुकड़ा ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम है क्योकि इसमें अर्थ की सीमा और संकोच नहीं है। इसमें अत्यधिक लोच है, अतएव कलाकार इसमें अधिक से अधिक आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना करने में समर्थ होता है; इसमें संगीत की गति, साहित्य का अर्थालोक, चित्र की चित्ताकर्षकता उत्पन्न कर सकता है, और, इन सबसे अधिक, यह घन और आयतन का प्रभाव उत्पन्न कर सकता है जो अन्य कलाओं में केवल दूर संकेत से प्राप्त होते हैं। पत्थर के समस्त गुणों की समष्टि यदि हम 'गुरुता' को मानें तो कलाकार केवल गुरुता से कला-सौन्दर्य का सृजन करता है। वह अर्थ, स्वर, रंग आदि के अधीन नहीं रहता। अतएव कलाकार इसमें अपनी सृजन-शक्ति के लिए सर्वाधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

पत्थर की कठोरता के कारण 'स्वतन्त्रता का अनुभव' सम्भवतः विचित्र जान पड़े। किन्तु वास्तव में पत्थर की अव्यक्त, शून्य अवस्था इसे कला के लिये सबसे उपयुक्त माध्यम बनाती है। अव्यक्त में प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का आविर्भाव ही कला-सृजन है। किन्तु हीगेल आदि दार्शनिकों ने माध्यम के इस गुण पर ध्यान न देकर पत्थर आदि को कला का नीची श्रेणी का माध्यम माना है।

इसकी कठोरता यद्यपि मूर्तिकार को लोहे की छेनी और हथौड़ी के प्रयोग के लिए बाध्य करती है तथापि इसी कठोरता के कारण मूर्ति में स्थिरता, चिरंतनता आदि गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तूलिका, वाद्य और लेखनी का कोमल प्रयोग न होने के कारण, सम्भवतः, कोमलताप्रिय कला-रसिकों ने मूर्तिकार को कलाकार का आदरणीय स्थान नहीं दिया। उसे केवल शिल्पकार ही माना गया।

(२)

हमारे देश में 'मूर्ति' का स्थान ऊँचा रहा है। हमने इसे धार्मिक पूजा का अंग माना है। इसके लिये शिल्प-शास्त्रों का निर्माण हुआ और कई पुराणों में मूर्ति-कला के नियमों की विषद विवेचना भी हुई। परन्तु यह समझना भ्रामक होगा कि यहाँ मूर्ति-कला धार्मिक नियंत्रण में ही रही और इसका शुद्ध कला के रूप में विकास नहीं हुआ। सत्य तो यह है कि हमारे देश की धार्मिक भावना भी व्यापक रही है। इसका अन्तराल इतना विशाल रहा है कि अन्य स्थानों में जिसे 'लौकिक कला' (Secular art) कहते हैं वह भी हमारे धर्म के अन्तर्गत ही है। उदाहरणार्थ, पशु, पक्षी, जैसे बन्दर, हाथी, सूअर, शुक, आदि में कितना सौन्दर्य और आध्यात्मिकता है? घोड़ा तो मूर्त सौन्दर्य का आदर्श है। भारतीय धार्मिक व्यापकता में इन और इनके अतिरिक्त अनेक जीवधारियों का समावेश हुआ है जिनको शिल्प-कला द्वारा मूर्तिमान् किया गया है। इतना ही नहीं, धर्म ने कल्पना को शिथिल नहीं, उसे ऊर्वर और उद्दीप्त ही बनाया है जिसके कारण अनेक दिव्य पुरुषों, अप्सराओं, स्वर्ग के सौभाग्यशाली जनों और जीवों का मूर्ति के माध्यम में सृजन हुआ। कल्पना ने यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, शिव, नन्दी, भैरव, शक्ति, गौरी, लक्ष्मी, सरस्वती, प्रलयंकर, शिव इत्यादि असंख्य दिव्य शक्तियों और भव्य लोकों का उत्पादन किया। हमें यहाँ धार्मिक संस्थाओं का मूल्यांकन अभीष्ट नहीं है। किन्तु इसकी विशालता और व्यापक भावना को बिना समझे हम इस देश के पिछले दो सहस्र वर्षों की कला को नहीं समझ सकेंगे। सारे देश में हिमालय के मन्दिरों से लेकर रामेश्वर और

लङ्का तक भी और पूर्व में कम्बोडिया, जावा श्याम से लेकर पश्चिम के सुदूर कोने तक अनेकानेक प्रकार की भव्य मूर्तियां का इतना प्रसार है कि हम इस कल्पना की ऊर्वरता और शक्ति को बिना समझे मूर्ति-कला के रहस्य को स्पष्ट नहीं कर सकते।

मूर्ति-कला के विवेचक शिल्प-शास्त्रों का विधान है कि शिल्पकार मूर्ति-निर्माण के पूर्व तीन दिन तक 'उपवास' करे। 'उपवास' के द्वारा शरीर की धातुओं में शान्ति और प्राणायाम की शक्ति उत्पन्न होती है। धातु-वैषम्य से शरीर में जड़ता और मानसिक चंचलता रहती है। जिससे शिल्पकार को मूर्ति बनाने में बाधा होती है। मूर्ति में लोच और कोमलता उत्पन्न करने के लिये शिल्पकार स्वयं अपने शरीर और इन्द्रियों में लोच और कोमलता उत्पन्न करता है। 'उपवास' का प्रयोजन शरीर और प्राण में 'साम्य' और 'शम' उत्पन्न करने के अतिरिक्त, मन की शुद्धि भी है। वह अपने व्यक्तित्व का, अपने सुख-दुःख, पुण्य-पाप आदि के भावों का, निराकरण करके, अपने माध्यम, शिला-खंड, की भाँति ही अपने आप को 'शून्य' बनाता है, जिससे वह स्वयं दिव्य भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। वह ध्यान में अपने नेत्र निमीलत करता है जिससे वह 'रूप' का दर्शन कर सके; वह अपने कानों से शब्द नहीं सुनता, जिसमें वह दिव्य ध्वनियों को सुन सके। इसी प्रकार वह स्पर्श, गन्ध आदि का अनुभव त्याग देता है जिससे वह दिव्य अनुभूति पा सके। वह अपनी सम्पूर्ण के बहिर्मुखी प्रवाह को संयत करता है, दूर तक, जीवन के गर्भ तक इसे ले जाता है जहाँ 'लय' और 'गति' है, और फिर वहाँ से इस प्रवाह को ऊर्वर बना कर अर्थात् जीवन में 'लय' को भर कर, नेत्रों में रूप-राशि, कानों में दिव्य ध्वनियों को भर कर, प्रखर वेग से बहिर्मुख होकर लौटता है कि उसका सम्पूर्ण जीवन अपने माध्यम में मूर्तिमान् होने के लिए विकल हो उठे। वह 'उपवास' द्वारा चेतना के मूल-स्वरूप तक पहुँचता है और मूर्त होने वाले सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। इस साक्षात्कार करने में वह ध्यान-मन्त्रों के अर्थों का मनन करता है। ध्यान-मन्त्र पुराणों में प्रत्येक देव-मूर्ति के लिए नियत हैं। साहित्यकार मुनियों ने इन देवताओं का 'रूप' शब्दार्थ के साहित्य से स्थिर किया है; उनके मान,

परिमाण, अलङ्कार, भूषा, वस्त्र, वाहन आदि का निश्चय किया है। शिल्पकार इन मन्त्रों के मनन के अनन्तर 'निदिध्यासन' करता है, अर्थात् इनके अर्थों का साक्षात्कार अपने अन्तरालोक में करता है। इस विधि से वह अव्यक्त, अरूप शिला-खण्ड में व्यक्त रूप की सृष्टि करता है। मूर्ति-कला में निर्माण की कठिनता इसलिए है कि उसका माध्यम शून्य है, यही उसका गुण भी है। किन्तु 'शून्य' में रूप के आविर्भाव के लिए शिल्पकार की उत्पादक भावना को अत्यन्त प्रखर, तीव्र और मूर्त होना आवश्यक होता है। इस कला में अर्थ का विचार करने वाली बुद्धि को बहुत अवकाश नहीं है। मूर्ति केवल भावना के प्रबल और ऊर्वर वेग से उत्पन्न होती है, और, इसी प्रकार उसका आस्वादन भी होता है। यही कारण है कि हमारे देश की मूर्ति-कला को बुद्धि से समझने का प्रयत्न करने वाले पाश्चात्य और अन्य लोगों ने इसकी कड़ी समालोचना की है। मूर्ति का आविर्भाव आध्यात्मिक अनुभूति से होने के कारण जहाँ बुद्धि के तर्कों की गति अवरुद्ध होती है, उसका बाह्य जगत् में प्रसिद्ध खोजने वाले व्यक्ति भी इसीलिये इसके सौन्दर्य का आस्वादन करने में असफल होते हैं।

(२)

यदि सौन्दर्य वस्तुतः आस्वादन-क्रिया का नाम है तो मूर्ति-कला में आस्वादन का रूप स्थिर करने से इसके सौन्दर्य का रहस्य समझना पड़ेगा। प्रेक्षक के मानस में होने वाली आस्वादन-क्रिया शिल्पकार के सृजन-प्रयत्न की 'पुनरावृत्ति' अथवा 'पुनर्भव' है, केवल क्रम में विपर्यय होता है। इस नियम के अनुसार एक 'मूर्ति' का दर्शन कीजिये। हम पहले एक 'आकार' का प्रत्यक्ष करते हैं। यह आकार निराकार शिला-खण्ड में से उदय हुआ है। सम्भवतः हमारी सर्व-प्रथम प्रतिक्रिया मूर्ति को देख कर 'आश्चर्य' की होती हैं, और यदि हम इसे 'अद्भुत' रस का उद्रेक कहें तो अनुपयुक्त न होगा। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने कलानुभूति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि रसास्वादन में 'आश्चर्य' (Wonder) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो कला के सौन्दर्य-आस्वादन में आश्चर्य का उद्रेक होता ही है, कारण कि कलाकार मूर्त

माध्यम में जो गति, नियम, भाव, सुकुमारता आदि से या तो शून्य होता है अथवा जिसमें ये गुण स्पष्ट नहीं होते, गति, संगति, नियम भाव और सुकुमारता का संचार करता है। यह स्वयं आश्चर्यजनक बात है। संगीत में ध्वनियों में अद्भुत विन्यास से रूप और मादकता, आरोह-अवरोह का क्रम आदि उदय हो जाते हैं। चित्र में रेखा और रंग में अद्भुत संकेत-शक्ति आ जाती है। इस प्रकार सभी स्थानों पर सौन्दर्य के आस्वादन में 'अद्भुत' का स्थान है। किन्तु इनमें सबसे अधिक इस भावना का उद्रेक मूर्ति के दर्शन में होता है। शिव के 'वृषभ' अथवा पार्वती के वाहन 'सिंह' तथा 'हंस' आदि की मूर्तियों को देखने से निराकार, शून्य शिला-खण्ड में भाव-पूर्ण, जाग्रत, जीवित, सन्तुलित, अनेक रेखाओं के आरोह-अवरोह के द्वारा तीव्र बल और सामर्थ्य के संकेतों की ओर मानस को ले जाने वाले सुन्दर आकार का आविर्भाव वास्तव में किसको 'चमत्कृत' न करेगा ! उस मूर्ति में पत्थर का बोध ही समाप्त होता मालूम होने लगता है; इसके कठोर स्पर्श में कोमलता, भार के स्थाम में भावों का अचूक संकेत होता है। इसके घन और आयतन से जीवन की शक्तियों की ध्वनि, इसके शीतल स्पर्श में जीवन का स्पर्श प्रतीत होने लगते हैं। मूर्ति के आकार में जीवन की प्रतीति स्वयं आश्चर्यकारक होती है।

मूर्तियों में भी भरत का रस-सिद्धान्त लागू होता है। मूर्ति में विभावों, अनुभावों और संचारी भावों के आविर्भाव से श्रृङ्गार, करुण, हास्य, भय आदि रसों का अनुभव होता है। हमारे यहाँ की धार्मिक मूर्तियों में अनेक मूर्तियाँ विभिन्न रसों की प्रतीति के लिये नियत की गई हैं, जैसे विष्णु, कृष्ण आदि की मूर्ति श्रृङ्गार; राम, बुद्ध, तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ करुण; वराह, हनुमान, वृषभ, सूर्य आदि की मूर्तियाँ भयंकर; नन्दी आदि हास्य रसों के लिये बनाई गई हैं, जिससे सम्पूर्ण जीवन की भावनाओं का उद्रेक मूर्ति के दर्शन से हो सके। अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण किसी मूर्ति के प्रत्यक्ष से उसी मूर्ति के स्वरूप का जागरण प्रेक्षक के हृदय में होता है। वह स्वयं मूर्ति का आकार धारण करने लगता है और मूर्ति बन कर उसके द्वारा अभिव्यक्त भावना के उद्रेक से स्वयं भावित हो जाता है। यही कारण है कि 'सिंह' की ओजस्विनी मूर्ति को देख कर

बल और ओज की अनुभूति जाग्रत होती है। इस भाव के जागरण से पत्थर की मूर्ति में उसका जड़-रूप और भी दूर हो जाता है। वह हमारे चेतन-जगत् का पदार्थ बन कर आस्वादन का स्रोत हो जाती है। इस प्रकार प्रेक्षक मूर्ति में रस का अनुभव करता है। किन्तु इस रसानुभूति में प्रबलता 'अद्‌भुत' की रहती है। यह सम्भव भी है, क्योंकि यह व्यापक रस है और इसका किसी 'रस' से विरोध भी नहीं है। मूर्ति के प्रत्यक्ष में तो इसका प्रबल उद्रेक होता है।

'अद्भुत' के उद्रेक का प्रभाव मनुष्य पर क्या होता है? सबसे प्रथम बुद्धि की 'वास्तविकता' की खोज करने वाली शक्ति पराहत होती है। मूर्ति को देख कर उसमें रेखा और भार, घन तथा आयतन द्वारा सकेतित भावों की 'वास्तविकता' खोजने वाले को वहाँ भाव नहीं मिलेंगे। किन्तु रेखा, घन आदि ही मिलेंगे। किन्तु रेखा, घन स्वयं निरर्थक हैं। तब तो 'वास्तविकता' में सीमित सत्य खोजने वाले अभागे मनुष्य को मूर्ति में मूर्ति नहीं, जड़ शिला खण्ड ही दिखाई देगा। मूर्ति का साक्षात्कार 'वास्तविकता' से ऊपर उदात्त 'कल्पना' और वहाँ से आलोकमय 'भावना' के लोक में ले जाता है। यदि मनुष्य वहाँ जाने को समर्थ अथवा इच्छुक नहीं तो इसमें मूर्ति का अधिक दोष नहीं है। मूर्ति के द्वारा कल्पना और भाव में प्रखर स्फूर्त्ति हो सके, इसी अभिप्राय से इसे 'वास्तविक' से दूर 'काल्पनिक' के समीप ले जाया गया है। एक मूर्ति जितनी 'वास्तविक' होगी अथवा किसी प्रत्यक्ष पदार्थ की प्रतिकृति होगी, उतनी है वह 'असुन्दर' होगी, क्योंकि वह प्रतिकृति होने से अपने मूल विम्ब की ओर संकेत करके स्थगित हो जायगी। वह कल्पना को जाग्रत न कर सकेगी। यही कारण है कि भारतीय मूर्ति-कला में 'विचित्र' और 'अ-वास्तविक' का इतना मिश्रण है। पाश्चात्य विचारकों ने पशु-मूर्तियो और पंच-मुख, त्रिनेत्र, दश-शिर, चतुर्भुज आदि मूर्तियों के समझने का भारी प्रयत्न किया है। मूर्ति-कला के इस सिद्धान्त के अनुसार इनकी 'अलौकिकता' का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। यदि हम इस सिद्धान्त को ध्यान में रखें तो हमारे युग की कुछ मूर्तियों के महत्त्व, (जैसे भगत की मूर्ति-कला), को समझ सकेंगे जिसमें 'आकार' (Form) को विकृत बना कर अर्थात् केवल उसे

'प्रतिकृति' न रहने देकर, उनमें अ-रूप (Un-form) के सृजन से शक्ति और ओज की प्रबल अभिव्यक्ति हुई है। हम आकार को उसके लोक-सामान्य रूप से जितना ही इधर-उधर ले जाते हैं, उसमें 'अद्भुत' उद्रेक की शक्ति अधिकाधिक होती है, उतना ही उसमें लोकोत्तर सौन्दर्य का आस्वादन तीव्र होता है। हम कितनी 'विरूपता' आकार में उत्पन्न कर सकते हैं? इसका उत्तर हमें भावना की दीप्ति से मिलता है : क्योंकि हम रसास्वादन में केवल 'कल्पना' के स्तर पर नहीं रहना चाहते; इससे भी उदात्त स्तर पर जहाँ हमारी भावनाओं की सच्ची प्रतीति उत्पन्न होती है, जहाँ 'सत्य का साक्षात्कार' होता है, वहाँ हमें जाना होता है। अतएव हम 'विरूपता' इतनी ही लाते हैं कि वह हमारे सामर्थ्य, प्रेम, शृङ्गार आदि को जाग्रत कर सके। पशु-मूर्तियों का भारतीय कला में प्रयोग, मानव-मूर्तियों में विरूपता का आविष्कार आदि 'अद्भुत' रस की उद्दीप्ति के लिये हुआ है। किन्तु उनमें 'भावना' की सत्यता रहती है, यहाँ तक कि पशु, जैसे, सिंह, हंस, वृषभ आदि की मूर्तियों में मानव-भावना का स्पष्ट आभास रहता है। अशोक-स्तम्भ की सिंह-मूर्तियों में यह मानव-भावना, मनुष्य के बल, ओज आत्म-विश्वास, दृढ़ता आदि की स्पष्ट अनुभूति, ही उनकी इनके कलात्मकता का सार है। पशु में मानवता का आरोप अथवा मानव में पशुता का आरोप Theomorphism अथवा Anthropomorphism नामक दोष नहीं है : ये मूर्ति-कला के सारभूत सिद्धान्त हैं, जिसमें रसास्वादन का स्वरूप 'अद्भुत' का उद्रेक होता है।

'अद्भुत' के उद्रेक से तर्क का अनुसन्धान करने वाली बुद्धि पराहत होकर कल्पना की ओर चलती है। कल्पना के वेग और उसके आलोक में वह मूर्ति अपनी जड़ता को त्याग कर 'चेतन' होना प्रारम्भ करती है, और, प्रेक्षक अब भाव-लोक में प्रवेश करता है। यद्यपि इस भाव-लोक में शृङ्गार, करुण, भय आदि रसों के अन्तःस्रोत बहते हैं, तथापि यहाँ प्रेक्षक के मानस में उस अवस्था की प्रबलता रहती है जिस अवस्था में पहुँच कर, उपवास के अनन्तर, शिल्पकार ने मूर्ति का आविष्कार किया था। यह वह अवस्था है जिसमें शिल्पकार के साधारण व्यक्तित्व और उसको सीमित बनाने वाले बन्धन पाप-पुण्य की मीमांसा

आदि क्षण भर के लिये उपराम को प्राप्त हो जाते हैं, और, मनुष्य अपनी मानवता का, उसके वास्तविक उल्लास का, जीवन के तरल प्रवाह का, उसके ओज और सामर्थ्य का, अथवा यों कहिये, आत्मा के असीम आलोक और जीवन में 'स्वतंत्रता' का अनुभव करता है। हमारे देश के दार्शनिकों ने जीवन के विकास की चरम अवस्था का 'दर्शन' करते समय अनुभव किया था कि इसमें सुख-दुःख, इच्छा, भोग, संकल्प-विकल्प आदि मानस-विकार हैं जिनसे इसका शुद्ध, प्राकृत रूप तिरोहित हो जाता है। कवि दार्शनिक कालिदास के लिये तो 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' जीवधारियों का प्राकृतिक, मूल रूप 'मृत्यु' है और "जीवनं विकृतिरुच्यते बुधैः" और जीवन जैसा हम इसे साधारण अनुभव में पाते हैं, क्षणिक विकार है। व्यास ने भी जीवन का प्रारम्भ 'अदर्शन' 'अव्यक्त' और इसका अवसान भी 'अदर्शन' में माना है ['अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः' अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत, अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना।] आधुनिक मनोविज्ञान भी मृत्यु को इच्छा (Death-wish) को जीवन की इच्छा (Will-to live) से भी प्रबल मानता है। कुछ भी हो, मृत्यु की शून्यता में जीवन का परम अवसान और चरम विकास है। मृत्यु ही अनन्त और असीम है, इसमें पहुँच कर जीवन भी अनन्त और असीम हो उठता है। यह जीवन का 'निर्वाण' है। मूर्ति के सौन्दर्यास्वादन का चरम क्षण वह होता है जब प्रेक्षक अपने आत्मा के अनन्त अवकाश में शिला-खण्ड की शून्यता और अव्यक्त चेतना का अनुभव करता है। हमने शिला-खण्ड में जो मूर्ति का माध्यम है इसकी अमूर्त्तता, अव्यक्तता और शून्यता पर बल दिया था। वास्तव में, इस शून्यता का प्रकृष्ट अनुभव मूर्ति के दर्शन में रसानुभूति का परमोत्कृष्ट क्षण होता है।

(४)

मूर्ति में गति का अनुभव कैसे होता है ?

जड़ प्रतीत होने वाली मूर्ति में गति का आविष्कार करना मूर्ति-कला की सफलता है। इसके लिये शिल्पकार एक कौशल का प्रयोग करता है, जिस

प्रकार कवि अलंकारों का प्रयोग भावनाओं को मूर्त बनाने के लिये करता है। वह कौशल पर है कि वह जिस मूर्ति का निर्माण करना चाहता है उसे कल्पना से गति प्रदान करता है और उस वस्तु में 'जीवन का वरदान और प्राणों की स्फूर्ति' देकर स्वयं स्पन्दन करने देता है। एक 'वृषभ' की मूर्ति को लीजिये। यह शिव का वाहन है। शिव त्रिलोक के संहारक, साक्षात् पशुपति हैं। उनका वाहन भी असाधारण वृषभ होगा। उसकी गति विचित्र होगी। उसके ककुद्, सींग, पृष्ठ-भाग, उसका मुख-चालन भी अलौकिक होगा। मानो यह वृषभ चल रहा है। चलते-चलते इस वृषभ की गति में अद्भुत लय और जीवन का सम्पूर्ण उल्लास, ओज और स्वच्छन्द आनन्द का क्षण प्रकट होता है। बस इस गति के क्षण को शिल्पकार 'स्थिर' कर देता है। हम वृषभ की मूर्ति में 'पूर्व' और 'पश्चात्' गति के क्षणों का अनुभव नहीं करते, केवल एक 'क्षण' का अनुभव करते हैं, जिसमें गतिमान् वृषभ सर्वाधिक सजीव हो उठा था। एक 'क्षण' का अनुभव करने के कारण मूर्ति में हमें 'रूप' स्थिर और अचल प्रतीत होता है, यद्यपि यह क्षण स्वयं क्षणों के प्रवाह में एक तरङ्ग की भाँति है। यदि हम मूर्ति के 'क्षण' का साक्षात्कार करें तो इसके पूर्वापर क्षणों का प्रबल संकेत प्राप्त होता है और तब हमारी कल्पना स्वयं गति के सम्पूर्ण प्रवाह की ओर—पीछे और आगे—चलती है। उस समय वह एकाकी, शून्य में खड़ी हुई स्थिर मूर्ति प्रेक्षक को एक अद्भुत कल्पना के लोक में ले जाती है जहाँ उसमें जीवन की तरलता और इसका उत्कृष्ट उल्लास विद्यमान है। मूर्ति के सौन्दर्य-आस्वादन में प्रेक्षक के मानस में मूर्त-वस्तु के सम्पूर्ण जीवन का उदय होता है—उसके अनवरत प्रवाह और स्पन्दन का आविर्भाव होता है, जिसका एक 'क्षण' स्थिर रूप में शिल्पकार ने प्रस्तुत किया है।

गति अथवा जीवन का वह प्रस्तुत 'क्षण' जो हमारे सम्मुख स्थिर मूर्ति के रूप में उपस्थित है विशेष क्षण होता है। इसमें 'पूर्वापर' जीवन की अभि-सन्धि तो होती ही है, साथ ही, इसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति भी होती है। जीवन की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का मूर्त क्षण कलाकार की भाषा में 'मुद्रा' कहलाता है। मूर्तिकला में 'मुद्रा' का महत्त्व है, क्योंकि शिल्पकार और प्रेक्षक दोनों ही 'मुद्रा'

का आविष्कार और प्रेक्षण करते हैं। मुद्रा के द्वारा ही गति का अनुभव स्थिर मूर्ति के द्वारा होता है। मुद्रा जितनी प्रकृष्ट, स्पष्ट, संकेत-शक्ति से युक्त होगी उतना ही इसके द्वारा 'गति' का अनुभव होगा, उतना ही कल्पना को स्फूर्त्ति मिलेगी और इससे रसास्वादन गम्भीर होगा।

भारतीय कला-साहित्य में शिल्प-शास्त्र हैं जिनमें प्रत्येक मूर्ति के मान, माप आदि के नियम दिये गये हैं। इनमें मुद्रा-ग्रन्थों का महत्त्व है। मूर्तियों की अनेक मुद्राओं का उल्लेख है, जैसे ध्यान-मुद्रा, करुण-मुद्रा, वीर-मुद्रा इत्यादि। मूर्तिकार अपनी अभीष्ट मूर्ति के सृजन से पूर्व उचित 'मुद्रा' का ध्यान करता है। इसका अर्थ है कि वह उस मुद्रा के जीवन की गति में, कल्पना और भावना के बल से, उस क्षण का आवेश उत्पन्न करता है जिस क्षण के 'स्थिरीकरण' से वह स्वयं प्रकट हुई है। बुद्ध, शिव, विष्णु, कृष्ण यथा अन्यान्य दिव्य-विभूतियों में मुद्रा भी दिव्य होती हैं; उनके कृपा, कोप, प्रेम, रसिकता, उल्लास, विलास, माधुर्य भी अलौकिक होते हैं। शिल्पकार उनके कृपा, कोप आदि के प्रकृष्ट क्षणों को, जीवन के अनवरत प्रवाह में, स्थिर करके मुद्रा का आविष्कार करता है। नटराज की मूर्ति विश्व की व्यापक शक्ति के स्वयं स्फुरण से जो नृत्य प्रारम्भ हो उठता है उस नृत्य के प्रवाह का एक साकार क्षण है जो हमें उस समय की विकट मुद्रा में उपस्थित होता है। बुद्ध-मूर्तियों में करुण-मुद्रा प्रकृष्ट है। कृष्ण की मूर्तियों में 'विलास' की अभिव्यक्ति है। उनकी मुद्राओं में 'भंगिमा' और सौन्दर्य की सरसता का प्राधान्य रहता है। अनेक भंगिमाओं का आविष्कार इसी सरसता को जाग्रत करने के लिये भारतीय मूर्ति-कला में हुआ है।

(५)

यद्यपि मुद्राओं का उल्लेख आचार्यों ने अपने शिल्प-ग्रन्थों में किया है, तथापि इनकी सीमा इतने से नहीं हो जाती। हम ऊपर के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर भारतीय मूर्ति-कला का रहस्य और सौन्दर्य समझ सकते हैं। किन्तु मूर्ति-कला की इति इतने में ही नहीं। इस लिये मुद्रा का सिद्धान्त मूर्ति-कला का व्यापक सिद्धान्त मानना चाहिए। पाश्चात्य देशों में

ईसाई सन्तों, मेरी, ईसा-मसीह तथा अन्यान्य लौकिक मूर्तियों का निर्माण भी मुद्रा-सिद्धान्त को पुष्ट करता है। प्रत्येक मूर्ति जीवन की गति का उन्मेष मुद्रा के द्वारा ही करती है। यूनान देश की मूर्ति-कला अवश्य ही इस सिद्धान्त का अपवाद है, कारण कि वहाँ 'अचल' (Absolute) का आदर, प्लेटो के दर्शन के अनुसार, चल जीवन से अधिक है। इसलिये उनकी मूर्तियों में जीवन स्वयं अचल हो गया है। उनमें काल के प्रवाह के स्थान पर इसकी 'चिरन्तनता' की अभिव्यक्ति मिलती है। यूनानी-भावना से प्रभावित गान्धार-कला की बुद्ध-मूर्तियाँ मानो काल के सनातन, स्थाणु, अचल तत्त्व के मूर्त्त प्रतीक हैं। अचल, स्थिर माध्यम में जीवन-प्रवाह के एक क्षण को स्थिर करना यूनानी-कला के बुद्धिवाद को स्वीकार नहीं। इसलिये मूर्तियों में 'स्थिरता' का अनुभव होना चाहिए। इस बुद्धिवाद की पराकाष्ठा मुसलमानी कला में पहुँचती है जहाँ 'निर्जीव' में जीवन का उदय व्यर्थ भ्रमोत्पादन है। इसलिये मूर्ति में सौन्दर्य और जीवन का अनुभव शुद्ध भ्रान्ति है, चाहे उसमें जीवन की क्षण-प्रवाह गति का अनुभव हो, जैसा मूर्ति-कला में होता है अथवा जीवन के सनातन तत्त्व की अभिव्यक्ति हो जैसा यूनानी कला में हुआ है। इस भ्रान्ति और 'गुमराही' के कारण मूर्ति में अपने ही उदात्त भावों की पूजा करना, इस दृष्टि-कोण से, अक्षम्य अपराध है!

वास्तु-कला

मनुष्य ने 'काल' का अनुभव दो रूपों में किया है : एक गति, प्रवाह, जीवन अथवा परिवर्त्तन के रूप में, दूसरे स्थिर, अचल, चिरन्तन, अनादि और अनन्त तत्त्व के रूप में। जिन्होंने इसके पहले रूप का साक्षात्कार किया है, उन्होंने जीवन और इसके उल्लास और अवसाद तथा इसकी क्षण-क्षण में परिवर्त्तनशील अभिव्यक्तियों पर अधिक बल दिया है। काल की इस अनुभूति से जिस कला का जन्म हुआ है उसमें 'जीवन की अभिव्यक्ति' की प्रधानता रही है। जहाँ काल का सनातन तत्त्व के रूप में अनुभव हुआ है वहाँ कला के द्वारा 'निरपेक्ष' (Absolute), 'अचल', 'स्थिर', तथा जीवन में 'चिरन्तनता' की अनुभूति को पार्थिव माध्यमों से साकार बनाने का प्रयत्न हुआ है। कला-सृजन की मूल प्रेरणा ही काल के अनवरत प्रवाह को, जीवन की निरन्तर परिवर्त्तनशील अभिव्यक्ति को, पार्थिव और अपेक्षाकृत स्थिर माध्यमों द्वारा साकार और अचल बनाने की कामना है। साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि के निर्माण से कलाकारों के क्षणस्थायी उदात्त अनुभव 'चिर' हो गये, उन्हें मूर्त-स्वरूप और स्थिरता प्राप्त हुई। कला-सृजन का आदिम उद्देश्य 'काल' को 'स्थान' में रूपान्तरित करना, प्रवाह को विस्तार में, अचिर को चिरन्तन, क्षणिक को सनातन में, चल को अचल के रूप में लाना रहा है। मनुष्य अपने आपको इस अनन्त प्रवाह में पाकर घबराता है, और, कला के द्वारा अनियम में नियम की व्यवस्था करके, असीम को ससीम बना कर, निराकार, अव्यक्त वेदनाओं को मूर्ति का व्यक्त आकार प्रदान कर अद्भुत सुख का अनुभव करता है। कलाकार की विकलता और उसके सृजन के सुख का रहस्य इसी प्रेरणा में निहित है।

इस उद्देश्य में कला कहाँ तक सफल हुई है ? साहित्य और संगीत स्वयं कालिक माध्यम द्वारा व्यक्त होते हैं। ये स्वयं प्रवाहरूप हैं अथवा प्रवाह की साकार अनुभूतियाँ हैं। ये जीवन के अधिक समीप हैं, किन्तु इनमें 'क्षणिकता'

और 'गति' की प्रखरता है। दृश्य माध्यमों में चित्र और मूर्ति का उदय जीवन के गतिशील रूप की अभिव्यक्ति के लिये होता है। जीवन और उसकी क्षणिक प्रवाह-रूपता इनमें विद्यमान है। ऐसी यदि कोई कला है जहाँ जीवन के क्षण-स्थायी रूप का एक दम निराश सम्भव हो सका है, जहाँ काल का सनातन, निरपेक्ष, अचल रूप हमें प्रत्यक्ष होता है, जहाँ मानव की आकृति अथवा किसी जीवित पदार्थ की आकृति का प्रतिविम्बन और अनुकरण न होकर निरपेक्ष, सनातन ज्यामितिक रूपों और गणित के अकाट्य सत्यो का मूर्ति में उद्घाटन हुआ है तो वह कला वास्तु-कला अथवा भवन-निर्माण-कला है।

एक देव-मन्दिर को लीजिये, अथवा मस्जिद, गिर्जे, स्मारक आदि किसी भवन को लीजिए। इनको दूर से देखिए जहाँ से इनका सम्पूर्ण रूप प्रकट हो सके। यह एक 'आकार' हैं जिसमें कितना ठोस पदार्थ लगा हुआ है? यह कितना दृढ़ है? इसका गठन इस विचित्र रीति से हुआ हैं कि इसको देखने से स्थिरता और सुरक्षा का अनुभव होता है। हम इसके प्रत्येक अवयव को देखते हैं, एक अवयव की दूसरे के साथ सम्बन्ध की तुलना करते हैं और फिर सब अवयवों को एक साथ देखते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध ऐसा है कि एक का भार, गुरुता और आयतन दूसरे के भार आदि के साथ सन्तुलित है। यदि पतले, निर्बल आधारों पर भार और आयतन अधिक प्रतीत होता है तो हृदय में 'भय' का संचार होता है। इससे इनका सन्तुलन नष्ट होने से यह 'असुन्दर' प्रतीत होती है। प्रत्येक अवयव गणित के अचल नियमों के अनुसार बनाया गया है। सम्पूर्ण भवन में एक केन्द्र-विन्दु अथवा एक या दो मूल-रेखाएँ (Axes of reference) प्रतीत होती हैं। सारे अवयवों की योजना, इनका उतार-चढ़ाव, भार और आयतन, गुरुता अथवा लघुता आदि इन्हीं मूल रेखाओं और केन्द्र-विन्दु के सम्बन्ध से निश्चित होते हैं। दृष्टि इसी केन्द्र से जिसे सन्तुलन-बिन्दु (Punctum Balance) कहा जाता है इधर-उधर, ऊपर-नीचे चलती है और इसमें सम्बन्धों की समानता, सापेक्षता आदि पाकर प्रसन्न होती है। अवयवों के परस्पर सम्बन्ध में गणित के नियमों का पूर्णरूपेण पालन देखकर बुद्धि को अचल सत्यों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार 'भवन' का 'आकार' 'दूर'

सें प्रतीत होता है। यह आकार दर्शक के हृदय में दृढ़ता, सुरक्षा और चिरन्तनता का अनुभव उत्पन्न करता है। यह काल के अनवरत प्रवाह के ऊपर दृढ़ता और स्थिरता का मूर्त रूप प्रतीत होता हैं। यह पूर्ण रूप से कला का वह निर्माण है जिसमें 'काल' का स्पर्श नहीं है। भवन के व्यक्त आकार में 'स्थान' की अनुभूति होती है, स्थान के नियमों का पालन होता है। फलतः 'स्थिरता' की प्रखर अनुभूति इससे उत्पन्न होती है।

वास्तु-कला की शुद्ध अनुभूति में 'स्थान' और 'स्थैर्य' का सापेक्ष, सन्तुलन, अवयवों के परस्पर सामञ्जस्य से उत्पन्न ज्यामितिक आकार का तथा गणित के अडिग सत्यों का, अनुभव सम्मिलित है। हम इस शुद्ध अनुभूति में धर्म के स्पर्श से इसे 'मन्दिर, स्तूप, मस्जिद और गिर्जे आदि का रूप दे सकते हैं। इसमें 'प्रेम' का प्रसाद भर कर 'ताजमहल' बना सकते हैं। किसी महापुरुष के जीवन से सम्बन्ध जोड़ कर इसे उसके जीवन का गौरव प्रदान करने से यह 'सिकन्दरा' का स्मारक अथवा अन्य कोई समाधि बन सकती है। इसी अनुभूति को किसी के वैभव और विलास का वरदान देकर इसे 'राज-महल' बनाया जा सकता है। विजय के हर्ष से इसे रंजित करके 'विजय-स्तम्भ' का रूप दिया जा सकता है। संक्षेप में, वास्तु-कला की सामान्य अनुभूति 'स्थान' और 'स्थिरता' के सन्तुलित आकार में 'सनातन' के साक्षात्कार की अनुभूति है। इसमें गौरव, धर्म, स्मृति, विजय, विलास आदि के सम्पर्क से विशेषता उत्पन्न हो जाती है, जिससे अनगिनत प्रकार के भवनों का सृजन होता है।

(२)

वास्तु-कला की शुद्ध अनुभूति 'दूर' से देखने पर उत्पन्न होती है, क्योंकि वहाँ से भवन के प्रत्येक अवयव पर पृथक् ध्यान न देकर हम इसके सम्पूर्ण अवयवों के विन्यास से उत्पन्न आकार पर ध्यान देते हैं। यह 'सम्पूर्ण का विन्यास' जिसे फ्रेञ्च लोग Le touts ensemble कहते हैं वास्तु-कला में आनन्दानुभूति का मूल-स्रोत है। यद्यपि यह आकार की सम्पूर्णता सभी कलाओं का व्यापक गुण है, तथापि यह 'भवन' में अधिक स्पष्ट होता है। साहित्य और

संगीत में तो रसिक अपनी ही प्रतिभा से चित्र-पट के क्रमशः चित्रों में एकता की भाँति आकार की एकता उत्पन्न करता है। वह गत भागों को अनागत भागों से सम्बद्ध करता जाता है और इस प्रकार क्रमशः 'रूप' स्पष्टतर होता है। अन्त में 'सम्पूर्ण रूप' का उद्घाटन होने से आनन्द का विशेष उद्रेक होता है। साहित्य में तो रसिक थोड़े से अनुभव के अनन्तर 'आगामी' के लिये उत्सुक हो उठता है, जिससे वह 'सम्पूर्ण' का अनुभव कर सके, और, कुशल कलाकार (उपन्यासकार, कहानीकार—लेखक आदि) 'सम्पूर्ण-रूप' के सन्तुलन-विन्दु को इस प्रकार गुप्त करके रखता है कि रसिक की उत्सुकता अन्त तक बनी रहे और चरमान्त में ही इसका उद्घाटन हो जहाँ पहुँच कर वह सम्पूर्ण के रहस्य को समझ सके। इसीलिये उत्तम साहित्य में 'गोपन' (Concealment) और 'आश्चर्य' (Element of Surprise) आदि गुणों को स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण आकार की स्पष्टता सर्वाधिक 'भवन' के निर्माण में रहती है। यदि हम किसी विन्दु से 'सम्पूर्ण' को एक साथ नहीं देख सकते तो निश्चय ही हमने इसके लिये उचित स्थान की छाँट नहीं की।

तब प्रश्न यह है कि दर्शक की दृष्टि में आकर्षण उत्पन्न करने के लिये जिससे वह 'दूर' ही से इसे देखकर न चला जाये, शिल्पी भवन के निर्माण में किस कौशल का प्रयोग करता है? दूसरे शब्दों में, भवन में आकर्षण, रस, आश्चर्य तथा अन्य भावनाओं के उद्रेक का आधार, सम्पूर्ण आकार के अतिरिक्त, क्या है? अथवा, दर्शक भवन के 'समीप' आकर किस प्रकार प्रभावित होता है? इसके लिये कलाकार कई कौशलों का प्रयोग करता है।

(क) वह प्रत्येक अवयव में स्वतंत्र आकार की सम्पूर्णता की प्रतीति उत्पन्न करता है। विशाल भवन का प्रत्येक भाग सम्पूर्ण से पृथक और स्वतंत्र होकर भी, स्वयं एक आकार होता है जिसमें अवयवों का सामञ्जस्य, सन्तुलन और सापेक्षा आदि ओत-प्रोत रहते हैं। 'दूर' से जिस सन्तुलित, सम्पूर्ण आकार के अनुभव से 'स्थान' के माध्यम में 'काल' की 'चिरन्तनता' का अनुभव हुआ था, वह अनुभव समीप में आकार प्रत्येक अवयव में, प्रत्येक भित्ति और इसके भागों में, इसके बाहर और भीतर, ऊपर और नीचे, जहाँ

दृष्टि पड़ जाती है, वहीं और भी अधिक प्रखर होता जाता है। दर्शक अपने आपको आकार की सर्वतोमुखी मूर्त्त अनुभूति से घिरा पाकर क्षण-क्षण में दृष्टि द्वारा मानो सौन्दर्य का पान करता है। वह इस अनुभूति को अपने जीवन की गति और प्राणों का उच्छ्वास देकर इसमें संगीत की संगति उत्पन्न करता है, और, इस प्रकार अन्तरिक्ष के अवकाश में स्थिर भवन भी शुद्ध-संगीत का प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है। एक भवन जिसमें दूर से 'सम्पूर्ण' का अनुभव उत्पन्न होता है, किन्तु जिसका प्रत्येक भाग भी अपनी विशाल भित्ति, मीनार, गुम्बद, शिखर आदि से, समीप में भी, उसी अनुभव को उद्दीप्त करने में सफल होता है, वह अवश्य ही वास्तु-कला का आदर्श है।

(ख) दर्शक की दृष्टि अभी तक भवन के प्रत्येक भाग में आकार के सन्तुलित प्रभाव को पीने में उलझी हुई है। वह कहाँ तक उसे पिये, क्योंकि वह तो प्रत्येक अवयव में और सम्पूर्ण अवयवी में विद्यमान है। किन्तु कलाकार इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। वह तो दर्शक की दृष्टि को प्रत्येक इंच पर रोक कर उसे आनन्द से आल्पावित करना चाहता है। इसके लिये वह 'बारीकी' का प्रयोग करता है। प्रत्येक स्थान में रेखा, बंक, वृत्तों के द्वारा 'डिज़ाइन' बनाता है। उसमें रेखा की गति से गति और ओज; बंकों से बांकापन, सुकुमारता; वृत्तों के प्रयोग से रूप की पूर्णता, उत्पन्न करता है। यद्यपि इनका प्रयोग वास्तु-कला के क्षेत्र से बाहर है, तथापि वह अपने निर्माण में चित्र-कला का सौन्दर्य लाकर उसे और भी आकर्षक बना देता है। फ़ारसी कला में डिज़ाइन की बारीकियाँ, उनका सन्तुलन, कोमलता और संवाद शुद्ध संगीत का आनन्द प्रदान करने में समर्थ है। बहुत से भवनों में शिल्पी ने इसी कला के उपयोग से भवन के सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है। इसके एक पद और आगे चलकर, फूल, पत्तियों और पंखुरियों के आलेखन से भवन के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा उन भवनों में हुई है जहाँ की भित्तियों पर चित्र-कला अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ अवतीर्ण हुई है।

(ग) भवन का निर्माता शिल्पी अपनी कला में 'रूप' के साथ 'भोग' का सौन्दर्य भी उत्पन्न करता है। इसके लिये वह रंग-बिरंगे शिल्प-खण्डों का

प्रयोग करता है। श्वेत, बिल्लौरी, कृष्ण, रक्त पत्थरों के मेल से विभिन्न प्रभाव उत्पन्न होते हैं। कहीं केवल नियमित रूप से एक ही प्रकार के रंग का उपयोग करके वह हमारे अनुभव को बृहत् बनाता है। मूल्यवान् पत्थरों से उसमें आभा उत्पन्न करता है। इस प्रकार भवन का प्रत्येक अवयव और उसका सम्पूर्ण कलेवर रूप का ही अनुभव नहीं रंग का भोग भी प्रदान करता है।

(घ) सुन्दर भवन की विशालता और भव्यता भी वास्तु-कला का व्यापक गुण हैं। मन्दिर, मस्जिद आदि यदि छोटे भवन ही बनाये जायें तो पूजा सम्भव हो सकती है; स्मारक आदि भी विस्तृत, किन्तु ह्रस्व आकार के बनाये जाने सम्भव थे। फिर संसार के सुन्दर भवनों में इनकी विशालता और भव्यता पर क्यों इतना बल दिया गया है? वस्तुतः भवन की विशालता इसके सौन्दर्य का आवश्यक अंग है। प्रथमतः हम भवन के समीप पहुँचकर उससे अपने आपको नापते हैं। ऊपर को दृष्टि डाल कर इसकी गगन-चुम्बी अट्टालिका शिखर आदि के देखने से हमें उदात्त भय अथवा पवित्र आतंक (Holy terror) का अनुभव होता है। यह अनुभव स्वयं अद्भुत सुख का जनक है। इसके विस्तार को देख कर स्थान के विस्तार का अनुभव होता है। द्वितीयतः विशाल और विस्तृत भवन के साक्षात्कार से अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के जग जाने के कारण हमारा लघु व्यक्तित्व भवन की विशालता का अनुभव करने लगता है, जिसे हमारे देश के विचारकों ने 'चित्त-विस्तार' कहा है और पाश्चात्य दार्शनिकों ने 'विशालता की भावना' (Oceanic feeling) कहा है। भवन की ऊँची मीनारों और आकाश-चुम्बी शिखरों को देखने में दर्शक की आँखें जिन रेखाओं का आधार पाकर 'अवरोह' करती हैं, उन रेखाओं में कभी-कभी जीवन की तरलता और भव्यता का इतना स्पष्ट अनुभव उत्पन्न होता है कि जीवन स्वयं भव्य हो उठता है। हम भवन के खर्व आकार में सौन्दर्य के इस अनुभव को नहीं पा सकते।

(ङ) हम सुन्दर भवन के 'अवयव' के सौन्दर्य और 'सम्पूर्ण' की भव्यता का अनुभव करके लौट रहे हैं। पर यदि हम इसको पीछे फिर कर देखने को उत्सुक नहीं, यदि हमारी दृष्टि अब वहाँ टिकने को तैयार नहीं है, तो

शिल्पकार की कला को धिक्कार है। शिल्पकार मानो दर्शक की इस भावना को समझ कर पहले ही से उसकी दृष्टि-प्रसाद के लिये भवन के 'परिमण्डल' की कल्पना करता है। सुन्दर भवन विस्तृत मैदान में अन्तरिक्ष के अन्तराल में एक अकस्मात्, असम्बद्ध, एकाकी किसी विक्षिप्त की सृष्टि नहीं है, वरन् इसका सम्बन्ध, कलात्मक सम्बन्ध—अपने सम्पूर्ण परिमण्डल से है। आकाश, सूर्य-प्रभा, ज्योत्स्ना, बादल, विद्युत् की चमचमाहट, चारों ओर के हरे मैदान, वन समीप में बहते हुए जल-प्रवाह और उसके वर्ण, सरोवर, पर्वत-रेखाओं आदि सभी का प्रभाव भवन के सौन्दर्य के प्रभाव में सम्मिलित रहता है। इन प्रभावों से अर्थात् आकाश आदि के रंग, रूप और समीप के सरित्-सरोवर, विपिन के आकार और वर्ण आदि के प्रभावों से भवन के सौन्दर्य को पृथक् नहीं कर सकते। यदि हमें भवन के सौन्दर्य द्वारा 'ललित' और 'सुकुमार' की ध्वनि उत्पन्न करना अभीष्ट है तो उसके परिमण्डल के प्रभावों में भी सुकुमारता और लालित्य होना चाहिए। यदि उसमें वीर की कठोरता, शासन-प्रियता, दृढ़ता उत्पन्न करनी है तो उसके परिमण्डल में चट्टानों की रूक्षता वृक्षों में वट, पीपल, द्राक्षा आदि की गुरुता आदि की ध्वनि होनी चाहिए। यदि उसमें प्रेम की विकल उत्कण्ठा, उसकी गम्भीरता, स्वच्छता, उदारता और त्याग तथा कोमलता के प्रभाव को स्पष्ट बनाना है तो उसमें चाहिए कोमल, लघु पत्तियों वाले वृक्ष, स्वच्छ कणों की निरन्तर वर्षा करके शीतलता का संचार करने वाले धारा-यंत्रों की श्रेणियाँ, प्रेम का मूल्य समझने वाली चल-शफरी के विलास से उल्लासित लघु-लघु सलिलाशय, जीवन में शान्ति को भर देने वाले हरित दूर्वा के समतल केदार, और, अन्त में, प्रेम के उन्माद से नित्य तरंङ्गित यमुना का रस-सिक्त सिकतामय तट।

प्रेक्षक लौटते समय इसी परिमण्डल के प्रभाव में, हरी पत्तियों में स्पष्ट दिखते हुए पुष्प के रूप की भाँति, भवन के रूप का ध्यान करता है।

(३)

हमने ऊपर सुन्दर भवन के 'सौन्दर्य' को समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु मनुष्य इसके शुद्ध सौन्दर्य अथवा 'रूप' से सन्तुष्ट न होकर इसके द्वारा

आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना भी करना चाहता है। वह इसके बाह्य कलेवर को 'अर्थ' देना चाहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह शब्द में अर्थ का आरोप करता है। उस अवस्था में 'भवन' के सौन्दर्य में 'साहित्य' उत्पन्न होता है; उसके अंग, अत्यंग, अलंकार' चित्र, वर्ण, बंक, आकार आदि से मिलकर काव्य की ध्वनि निकलती है। इनके विशेष विन्यास और सज्जा से कहीं शृङ्गार कहीं वीर, कहीं हास्य आदि रसों की अनुभूति होती है। इस प्रकार रूप के सौन्दर्य में रस के समावेश से उस भवन में काव्यात्मकता स्वयं मूर्तिमतो हो उठती है। इतना ही नहीं, कभी-कभी गम्भीर दार्शनिक विचार और धार्मिक सिद्धान्त, प्रेम, प्रणय, भक्ति आदि की भावना भी, भवन के आकार द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। गोथिक शैली में बने हुए मध्य-कालीन गिर्जे को 'प्रस्तर में व्यक्त अध्यात्म-सिद्धान्त' (Transcendentrlisin in stone) कहा गया है। मस्जिद के चतुरस्त्र विन्यास, उसकी उच्च मीनार और एक बिन्दु की ओर झुकने वाली रेखाओं से निर्मित मेहराब (arch) द्वारा इस्लाम की व्यापकता, उच्चता और 'वहदत' (ईश्वर की एकता) का बोध होता है। भारतवर्ष में शिव, विष्णु, राम और कृष्ण के मन्दिर भक्ति और पवित्रता के भवन की भाषा में लिखे गये मूर्त काव्य हैं।

भवन के आकार में 'अर्थ' का उदय किस प्रकार होता है और क्यों होता है ? किसी भी भवन के निर्माण में तीन भाग होते हैं, एक आधार, दूसरा मध्य-गोल, तीसरा शिखर। बहुधा आधार चतुरस्त्र, वर्गाकार अथवा आयताकार होता है जो अपने सम्पूर्ण शरीर से पृथ्वी का स्पर्श करता है। यदि कोई अन्य आकार भी आधार को दिया जाता है तो वह भी पृथ्वी को पूर्ण रूपेण स्पर्श करता है। इसका फल यह होता है कि इससे भवन में दृढ़ता, स्थिरता और पृथ्वी के सामीप्य की प्रतीति होती है। वर्ग के आकार से स्वच्छता और पूर्णता की भी ध्वनि उत्पन्न होती है, क्योंकि सरल रेखाओं से बने हुए आकारों में 'वर्ग' ही पूर्ण आकार है। यद्यपि आधार में षट्-कोण, अष्ट-कोण या अधिक कोणों का भी प्रयोग किया जाता है, तथापि सरलता और पूर्णता की जो स्पष्ट अभिव्यक्ति 'वर्ग' से होती है वह अन्य किसी आकार से सम्भव नहीं।

पृथ्वी से स्पर्श करने के कारण इससे स्थिरता का बोध इसलिये अधिक होता है क्योंकि गोलाकार का स्पर्श पृथ्वी से केवल एक ही बिन्दु से होता है जिससे वह किसी भी दिशा में चला जा सकता है; नालिका का स्पर्श पृथ्वी से एक रेखा में होता है जिससे वह एक ही दिशा में घूम सकती है केवल वर्ग, आयत अथवा वृत्त ही अपने सम्पूर्ण अंगों से पृथ्वी का स्पर्श करता है। इसीलिये बहुधा भवनों का आधार इन्हीं में से कोई होता है।

मध्य-गोल (Cupola) बहुधा घण्टा, अण्डा आदि के आकार में बनाया जाता है। 'गोल' आकार का सम्बन्ध पृथ्वी से केवल एक बिन्दु में रहता है, किन्तु इसमें 'गति' की सर्वतोमुखी सम्भावना रहती है, इससे इसमें 'व्यापकता' की ध्वनि होती है। साथ ही, बंक रेखाओं से बने आकारों में गोलाकार ही 'पूर्ण' है इसके सभी भाग एक केन्द्र बिन्दु से समान दूरी पर होते हैं, जिससे इसमें 'मर्यादा' की भावना रहती है। सुन्दर भवनों का मध्य-भाग इस गोले के आकार का बनाया जाता है जिससे पूर्णता, विशालता, व्यापक मर्यादा की ध्वनि हो सके।

शिखर-भाग बहुधा वेदिका के रूप में होता है जिस पर कहीं अमृत-कलश, कहीं आमलक और कहीं नुकीला आकाश की ओर संकेत करता हुआ भाग होता है। इस आकार से अतीन्द्रिय, सांसारिक मर्यादा से युक्त, निरीह, स्वच्छन्द, तत्त्व की प्रतीति होती है। बहुधा इस भाग को कई 'भूमियों' में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक भूमि 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की ओर अग्रसर होती दिखाई पड़ती है और अन्तिम भूमि के अनन्तर आकाश की अनन्त शून्यता का प्रारम्भ होता है। यह युक्ति की निबन्ध शून्यता है जहाँ सुख-दुःख, पुण्य-पाप और धर्म-अधर्म की मीमांसा समाप्त होकर 'शून्य' हो जाती है। 'अमृत-कलश' इसी अमृत और अनन्त अवस्था का प्रतीक है जो किन्हीं मन्दिरों के शिखर पर रखा जाता है।

भारतवर्ष में वास्तु-कला का विकास चैत्य से प्रारम्भ मानते हैं। चैत्य की उत्पत्ति स्मशान-भूमि में ध्यान के लिये बनाये गये सरल, गोलाकार छोटे भवन से मानी जाती है। वैराग्य-प्रधान जैनधर्म से चैत्य का प्रारम्भ हुआ।

बौद्ध-धर्म ने चैत्य को स्तूप का रूप दिया। बौद्ध-धर्म का प्रथम रूप सरल और संसार के सुख-दुःख की मीमांसा करने के कारण पृथ्वी के समीप था। अतएव वे स्तूप जो विकास के प्रारम्भिक काल में बनाये गये अतीव सरल है, और इनमें 'आधार' भाग को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध-धर्म का विकास ज्यों-ज्यों व्यापक होता गया इसमें सरलता के स्थान पर जटिलता आई और मर्यादा, नियम, दार्शनिक गम्भीरता आदि का समावेश हुआ। इस विकास के साथ स्तूप के अन्य अंगों का विकास हुआ, इसमें भी जटिलता आई। आधार के स्थान पर मध्य-गोल और शिखर की ओर ध्यान दिया गया। इन भागों की सजावट, सूक्ष्म अवयवों में विभाजन, प्रत्येक अवयव का अलङ्करण आदि किया गया। इस प्रकार एशिया के कोने-कोने में बिखरे हुए स्तूपों का निर्माण हुआ। बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ ही हिन्दू-धर्म का उदय और विकास हुआ। किन्तु स्तूप की भव्यता को यह देश न भुला सका और इन्हें 'मन्दिर' का रूप देकर स्वीकार किया। मन्दिर के तीन भागों में 'आधार' को 'ब्रह्मा' का प्रतीक, मध्य-गोल को 'विष्णु' का प्रतीक और शिखर को 'शिव' का प्रतीक स्वीकार करके उसमें 'त्रिदेव' का आरोप कर लिया गया। इस प्रकार मन्दिर स्वयं हिन्दुत्व का प्रतीक बन गया। इसमें देवी, देवताओं की प्रतिष्ठा की गई और गुप्त-काल की नवीन जाग्रति ने सम्पूर्ण जन-समाज को इसो नवीन प्रेरणा से प्लावित कर दिया।

हम इस विकास-क्रम को स्वीकार करें या न करें, किन्तु हमें यह मानना होगा कि मन्दिर के सौन्दर्य का 'अर्थ' हिन्दू-धर्म की धार्मिक और आध्यात्मिक भावना से अलग करके समझना कठिन है। वास्तु-कला मुख्यतः धार्मिक कला रही है। अतएव चैत्य, स्तूप, मन्दिर, गिर्जा, मस्जिद आदि का अर्थ, यदि अर्थ समझना इनके सौन्दर्य के लिये आवश्यक समझा जाये तो, इनसे सम्बन्ध रखने वाले धर्मों के सिद्धान्तों से अवश्य ही जुड़ा हुआ मानना चाहिए। जिस प्रकार मन्दिर हिन्दू-धर्म की आध्यात्मिक भावना की मूर्त्त अभि-व्यक्ति है, उसी प्रकार मस्जिद इस्लाम धर्म, इसकी उच्चता, व्यापकता, सरलता आदि भावनाओं की व्यक्त मूर्ति है और गिर्जा अपने सरल, आकाश-चुम्बी शिखरों द्वारा ईसाई-धर्म में बलिदान के महत्त्व और प्रेम के पवित्र सिद्धान्त की

घोषणा करते हैं। इन सब निर्माणों में अभिव्यक्ति का आधार वर्ग, आयत, गोल, मेहराब, नलिका, गुम्बद आदि के ज्यामितिक आकार हैं।

प्रत्येक ज्यामितिक आकार जैसे रेखा, वृत्त, गोल, आयत, त्रिकोण आदि केवल रेखाओं का विन्यास मात्र ही नहीं है, किन्तु मनुष्य इन आकारों को अपनी भावना से प्राणित कर देता है, इसलिये ये उसके लिये आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रतीक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, जैसा हमने ऊपर कहा है वर्ग से स्थिरता और पूर्णता, गोल से व्यापकता और मर्यादा, नालिकाकार शिखर से अनन्तता, उन्मुक्तता आदि की प्रतीति उत्पन्न होती है। इन साधारण आकारों को मनुष्य क्यों प्रतीक के रूप में परिणत कर देता है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह अपने साधारण अनुभव को 'महत्त्व' देने के लिये स्वभाव से विवश है। यदि एक पुष्प केवल प्रकृति का साधारण पदार्थ ही मनुष्य के लिये बना रहे तो इसमें उसे आनन्द का अनुभव न होगा। किन्तु इसे निष्पाप सौन्दर्य और आनन्द का प्रतीक मानकर मनुष्य इससे प्रेम करता है। वह अपने साधारण अनुभव को आध्यात्मिक भावनाओं से प्राणित और जाग्रत करके उनको महत्त्व प्रदान करता है और साथ ही अपने संसार को गम्भीर, सुन्दर और रसमय बना लेता है। ह्वाइटहैड नामक अंग्रेज़ दार्शनिक के अनुसार, यदि मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के कारण वस्तुओं को आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान न करे तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव निष्प्राण, क्षीण और अस्पष्ट ही रहेगा। अनुभूति की प्रखरता के लिये साधारण वस्तुओं को गम्भीर अर्थों का प्रतीक बना देना मनुष्य के लिये स्वभाव सिद्ध है। भवन की सौन्दर्यानुभूति प्रखर होती है, इसका कारण यह है कि वह, उसका प्रत्येक अवयव, आधार से लेकर शिखर तक, आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रतीक होता है।

हमारे युग की प्रवृत्तियाँ

इतिहास साक्षी है कि कला कभी स्वतंत्र नहीं रही। कला जिस सौन्दर्य को उत्पन्न करती है, उसमें प्रबल रोचकता और आकर्षण रहते हैं। अतएव प्रत्येक युग की प्रबल भावना ने कला की शक्ति का उपयोग करने के लिये इसे अपने अधीन रखा। आदिम काल में संगीत, चित्र, नृत्य आदि का आयोजन देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किया जाता था। धर्म-प्रधान युग में धर्म ने कला का उपयोग अपनी भावना को दृढ़ बनाने के लिये किया। प्रार्थनाओं में संगीत के स्वर-माधुर्य का समावेश हुआ। मन्दिर, मस्जिद आदि वास्तु-कला के सुन्दरतम निर्माण हुए। इनकी भित्तियों पर चित्रों का वैभव उतारा गया। धर्म ने कला को उचित सामग्री प्रदान की और कला ने धर्म को रोचक बनाया। वीरता के काल में संगीत ने वीर-भावना को पुष्ट किया। मध्य-कालीन विलासिता और वैभव-प्रधान युग में कला का शुद्ध सौन्दर्य कुछ स्पष्ट हुआ, किन्तु शीघ्र ही मनोविनोद और भोग की इच्छा ने इसके रूप को फिर छिपा दिया। नृत्य, संगीत आदि या तो साधारण भोग के साधन बन गये या इनका प्रयोग धनिकों में कामुकता को उद्दीप्त करने के लिये होने लगा। हमारे युग के प्रारम्भ तक कला को स्वत्व प्राप्त न हो सका। अतएव इसके अध्ययन के लिये भी अन्य शास्त्रों की भाँति स्वतंत्र शास्त्र की रचना नहीं हुई। बहुत समय तक इसे साहित्य का अथवा दर्शन शास्त्र का अंग समझा गया। सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति को वैज्ञानिक रीति से समझने का प्रयत्न हमारे युग के उदय के साथ ही प्रारम्भ हुआ है।

पश्चिमी देशों में कलानुभूति का स्वतंत्र रूप से अध्ययन प्रारम्भ करने का श्रेय जर्मन दार्शनिक काण्ट को प्राप्त है। उसने दार्शनिक दृष्टिकोण से 'सौन्दर्य' के प्रश्न पर विचार किया। हीगेल, फिक्टे, शैलिंग, शोपेन हावर, बोसाँके आदि विचारकों ने इसी दृष्टि से सौन्दर्य के स्वरूप का निश्चय किया है। इस

समय क्रोचे नामक इटली के दार्शनिक ने भी इसी शैली का अनुसरण किया है; फ्रेंच दार्शनिक वर्गसों के लिये तो सौन्दर्य-सिद्धान्त उसके दर्शन का अभिन्न अंग है। इस दृष्टिकोण की विशेषता है कि यह विश्व-जीवन में कला को उचित स्थान देता है एवं मनुष्य के सम्पूर्ण अनुभव में कलानुभूति के स्थान का निश्चय करता है। सौन्दर्य का सम्बन्ध 'सत्य' और 'शिव' से भी है। इसका स्पष्टीकरण सौन्दर्य दर्शन द्वारा हुआ है। किन्तु इस विचार-प्रणाली में दोष यह है कि हम सौन्दर्य के सामान्य रूप को समझ कर भी सुन्दर वस्तु—चित्र, नृत्य, संगीत आदि—के वास्तविक अनुभव को यथोचित नहीं समझ पाते। आकाश, समुद्र अथवा किसी कलाकृति में सौन्दर्यानुभूति के अवसर पर मन की क्या अवस्था होती है, इसके रसास्वादन का क्या स्वरूप है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर दार्शनिक दृष्टि-कोण से मिलना कठिन है।

हमारे समय में 'सौन्दर्य' की अनुभूति को समझने के लिये मनोविज्ञान का प्रयत्न सराहनीय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रारम्भ भी जर्मन देश के मनोवैज्ञानिक फैकनार द्वारा हुआ। इसके अनन्तर लिप्स, डैसोइर, वुण्ट, तथा सली आदि ने इस विशेष अनुभूति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया। इस शैली में विश्लेषण की प्रधानता रहती है। हम अपनी ही सौन्दर्यानुभूति को छोटे से छोटे अवयवों में बाँटते हैं और अनेक इसी प्रकार की अनुभूतियां के विश्लेषण के अनन्तर सौन्दर्य के स्वरूप का निश्चय करते हैं। इस शैली के ग्रहण करने से मनुष्य के भावना-जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त गवेषणा हुई है और इसके सम्बन्ध में कई नियमों का निश्चय हुआ है। फैकनार ने हमें किन वस्तुओं के अनुभव से अधिकतम आनन्द प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनमें से कुछ ये हैं: *१. अनुभूति के बलोदय का नियम :* (The Law of Aesthetic Threshold) : इसका अर्थ है कि कोई भी अनुभव सुख अथवा दुःख की वेदना उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त रूप से 'बलवान्' होना चाहिए। चित्र में रेखा और रंगों की, संगीत में स्वर-लय आदि की कमी या अधिकता एक सीमा के अन्दर ही होनी चाहिए। उस सीमा से कम या अधिक होने पर किसी प्रकार की वेदना उदित नहीं हो सकती। २. *अनुभूति का सहयोग*

सिद्धान्त (The Law of Aesthetic Reinforcement) : इसका अर्थ है कि आनन्ददायक स्वर, वर्ण आदि के सहयोग अर्थात् एक साथ मिलने से अधिक आनन्द उत्पन्न होता है जितना आनन्द इनके अलग अलग रहने से उत्पन्न नहीं होता, जैसे कविता में लय, अर्थ, छन्द आदि के सहयोग से अधिक आनन्द प्राप्त होता है जितना केवल एक एक से सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अनुभूति में सम्वाद-सिद्धान्त (The Law of uniform connection within a manifold), स्पष्टता-सिद्धान्त (Clarity); आदि अनेक नियम हैं जिनसे सौन्दर्य के अनुभव को समझने का प्रयत्न हुआ है।

मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा ने प्रायोगिक सौन्दर्य-विज्ञान की नीवँ डाली है। इसका जन्मदाता भी फैकनर है, किन्तु एक्सनर, कल्पे, काल्किन्स, पफ़र, मैक्डूगल, मार्टिन, शूल्ज़े आदि महानुभावों ने विविध प्रकार के प्रयोगों द्वारा सौन्दर्य और इसकी अनुभूति का विश्लेषण किया है। प्रयोग की विधियाँ भी विविध रही हैं। जैसे, *संस्कार-या प्रभाव विधि* (The method of Impression) जिसके अनुसार प्रयोक्ता किसी व्यक्ति के सम्मुख एक साथ अथवा एक के बाद एक अनेक वस्तुएँ, चित्रादि, उपस्थित करता है और वह व्यक्ति अपने ऊपर उस वस्तु के आनन्द-दायक अथवा विपरीत प्रभावों का मानसिक विश्लेषण करके प्रयोक्ता को बताता है। इससे सुन्दर और असुन्दर वस्तुओं का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। *वर्णन-विधि* (The method of Description) एक अन्य प्रयोग है जिसको वर्नोन ली ने अपनाया है। इसके अनुसार रसिक व्यक्ति के सम्मुख कई वस्तुएँ प्रस्तुत की जाती हैं और वह व्यक्ति अपने अनुभवों की तुलना करके उनके आनन्द-दायक प्रभावों का वर्णन करता है। अथवा प्रयोक्ता उस व्यक्ति से सुन्दर वस्तु के विषय में कई प्रश्न पूछता है जिनके उत्तर से उसके प्रभाव का निश्चय किया जा सके। इसी प्रकार अनेक विधियों के द्वारा सौन्दर्य आस्वादन के अवसर पर रसिक के शरीर, हृदय, रुधिर-संचरण, श्वासोच्छ्वास तथा मानसिक प्रभावों का अध्ययन किया गया है। प्रयोग-पद्धति से यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोण की भाँति गम्भीर विचार तो नहीं हो सका है तथापि इसके द्वारा मानसिक विश्लेषण और विश्वसनीय हुआ है।

आधुनिक मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण-सिद्धान्त ने दर्शन की गम्भीरता उत्पन्न की है। फ्रॉयड, यूंग आदि पण्डितों ने जहाँ धर्म, विक्षिप्तता, रहस्य आदि अनेक अनुभवों का विश्लेषण किया है वहाँ कलानुभूति पर भी विशेष प्रकाश डाला है। हमने यथास्थान इनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यद्यपि मनो-विश्लेषण सिद्धान्त कला के दृश्य कलेवर को समझाने में विफल रहा है, तथापि कला की मूल-भावना का स्वरूप, कला-सृजन के पीछे क्रियाशील शक्तियाँ, अभि-व्यक्ति के लिये प्रेरणा आदि को इसने हमारे लिये स्पष्ट किया है सौन्दर्य-शास्त्र इस विचार-धारा का इसलिये भी आभारी है कि इसने 'सौन्दर्य' को मनोविज्ञान के लिये अध्ययन का महत्त्वपूर्ण विषय घोषित किया है।

(२)

जहाँ एक ओर आधुनिक विचार-परम्परा ने सौन्दर्य का अध्ययन दार्श-निक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से आगे बढ़ाया है वहाँ शुद्ध कला की दृष्टि से भी सौन्दर्य के ऊपर पर्याप्त विचार किया गया है। इस धारा में लिप्स, मोमान, फोल्केल्ट तथा वर्नोन ली आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन लोगों ने आस्वादन की क्रिया के विशेष अध्ययन द्वारा यह निश्चय किया है कि वह क्रिया जिसमें प्रत्यक्ष अनुभव बिना किसी प्रवृत्ति को तृप्त किये भी, बिना किसी उप-योगिता के विचार के भी, हमारे मन में अद्भुत आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ है वह कोई असाधारण क्रिया नहीं है, किन्तु अत्यन्त साधारण है। इस क्रिया का नाम 'आइनफ्यूलुंग' अथवा 'अन्तर्भावना' है। हमने इसके स्वरूप की व्याख्या पहले की है। यहाँ इतना कहना और शेष है कि यह हमारे भावना-जीवन की स्वाभाविक प्रवृति है कि हम किसी भी दृश्य अथवा श्रव्य अनुभूति में वस्तु का आकार ग्रहण किये बिना उसे हृदयंगम नहीं कर सकते। बहती हुई तरल जल-धारा, सिहरते हुए फूल और पत्ते, आकाश में दौड़ते हुए घने बादल लय और ताल युक्त संगीत, सूरदास के पद आदि की बात तो दूर रही हमारे अत्यन्त साधारण अनुभव में वस्तु का आकार उसके वर्ण आदि हमें अपने आकर्षण से तदाकार बनाते हैं, जितना भी कोई वस्तु अपने सन्तुलन आदि

गुणों के प्रभाव से दर्शक के व्यक्तित्व को भुलाकर उसको स्वाकार समर्पित करने में समर्थ होती है अर्थात् जितनी अधिक उसमें 'मनोरमता', 'रमणीयता', 'मनोहरिता' अथवा 'आकर्षण' होता है वह वस्तु उतनी ही सुन्दर कहलाती है। न केवल व्यक्तित्व को भुला देकर ही किन्तु साथ ही दर्शक के हृदय में नवीन चेतना की स्फूर्ति के द्वारा भी सौन्दर्य आनन्द का संचार करता है, क्योंकि आत्मा के विषय में भ्रान्ति अथवा विस्मृति तो नशे में भी सम्भव होती है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि सुन्दर वस्तु का आकर्षण दो दिशाओं से होता है : एक तो सुन्दर वस्तु रूप; भोग के प्रकृष्ट गुणों से संयुक्त होती है जिसके कारण वह दर्शक के साधारण अनुभव में भावना के प्रबल उद्रेक द्वारा सजीवता उत्पन्न करती है, दूसरे इसका सम्बन्ध अनेक ऐसी प्रतीतियों से हो जाता है जिनको इसका अनुभव जाग्रत करने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ : चन्द्रमा, गंगा का प्रवाह हिमालय के शिखर, तथा कला-कृतियाँ जैसे देव-मूर्तियाँ, मन्दिर, विशेष नृत्य, संगीत आदि न केवल सुन्दर वर्ण, रेखा, तरलता अथवा ध्वनि के विशेष विन्यास के कारण ही हमें चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, वरन् हमारे व्यक्तिगत, जातीय, राष्ट्रीय अथवा धार्मिक भावनाओं के कारण में ही वस्तुएँ अनेक गम्भीर भावों का उद्रेक भी करने लगती हैं। अतएव अन्तर्भावना दोनों स्तरों पर हममें 'चमत्कार' का आस्वादन उत्पन्न करती है।

हमने माना है कि सौन्दर्य-चेतना हमारी चेतना का एक विशेष रूप है जिसका महत्त्व हमारे लिये धार्मिक, वैज्ञानिक, नैतिक आदि चेतना से कम नहीं है। इससे रस का संचार होता है और जीवन को अधिक स्फूर्ति प्राप्त होती है। जीवन की वे शक्तियाँ जो नित्य की चिन्ता और व्यग्रता के कारण कुंठित और क्षीण होती रहती हैं सौन्दर्यास्वादन के क्षणों में नवीन हो उठती हैं। यह सौन्दर्य चेतना मानसिक जगत् की वास्तविक घटना है जिसमें एक ओर रसास्वादन के लिये उत्सुक और समर्थ प्रेक्षक स्वयं है और दूसरी ओर सुन्दर वस्तु और उसका वैभव रहते हैं। हम केवल प्रेक्षक अथवा वस्तु के गुणों का विश्लेषण करके सौन्दर्य-चेतना के वास्तविक रहस्य को नहीं समझ सकते। अतएव आस्वादन में दोनों का सहयोग रहता है। आस्वादन के लिये प्रेक्षक और वस्तु

की विशेष परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए फोल्केल्ट महाशय चार नियमों का उल्लेख करते हैं।

क. सौन्दर्यास्वादन के लिये आवश्यक है कि रसिक का हृदय रस-चर्वण के लिये प्रस्तुत और भावना-प्रवण (Contemplative attitude saturated by feeling) हो। यदि प्रेक्षक चिन्ता से व्याकुल अथवा किसी प्रवृत्ति की तृप्ति के लिये आतुर अथवा नैतिक, वैज्ञानिक आदि किसी अन्य दृष्टिकोण में इतना तल्लीन हो कि वह अपने संकुचित व्यक्तित्व को भुलाने में असमर्थ है तो वह आस्वादन के लिये भी असमर्थ होगा। सुन्दर वस्तु के लिये नियम है कि उसमें रूप, भोग और अभिव्यक्ति का सामाञ्जस्य हो अर्थात् वह वस्तु रूप अर्थात् अवयवों के सुन्दर विन्यास और भोग के वैभव बिना केवल भावों की अभिव्यक्ति साधन मात्र न हो और वह, साथ ही, बिना आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना के केवल रूप ही न हो।

ख. रसिक में चर्वण की क्रिया का प्रकृष्ट जागरण होना भी आवश्यक है जिससे उसकी दृष्टि सुन्दर वस्तु के भिन्न-भिन्न अवयवों और उनके परस्पर सम्बन्ध, विन्यास, आरोह-अवरोह, गति, सन्तुलन आदि गुणों का भावना-प्रवण होकर अवगाहन कर सके। हमने माना है कि वस्तुतः सौन्दर्य का आध्यात्मिक रूप आनन्द है और आनन्द आस्वादन की क्रिया से भिन्न कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। रसिक में आस्वादन की क्रिया सजग होनी चाहिये। साथ ही, वस्तु में 'रूप' का स्पष्ट आभास होना चाहिए। इसका अर्थ है कि अवयव-विन्यास जिससे 'रूप' का उदय होता है रसानुभूति के लिये आवश्यक है।

ग. इस नियम के अनुसार प्रेक्षक के हृदय में 'वास्तविकता' अथवा 'यथार्थता' की भावना निर्बल और क्षीण हो जानी चाहिए (An attenuation of feeling for reality), दैनिक जीवन की स्वार्थमय प्रवृत्तियों का, अस्थायी ही रूप में, निर्वासन होना चाहिए (A temporary banishment of the egotistical impulses that dominate his everyday life) एवं क्षण भर के लिये वैज्ञानिक, धार्मिक तथा विचारात्मक प्रयत्न स्थगित हो जाने चाहिए (A momentary exile even of his earnest striving

in the sphere of speculative, moral and religious values)। इस दृष्टिकोण के उदय होने पर सम्पूर्ण अनुभव का जगत्, सम्पूर्ण कला और प्रकृति का लोक, सुन्दरता के काल्पनिक लोक में रूपान्तरित हो जाता है (An attitude that suddenly transforms the eternal world, the entire realnes of art and nature, into a world of pure perceptual appearance.)*

घ. चौथे नियम के अनुसार सुन्दर वस्तु अपने रूप द्वारा किसी भी ऐसे तत्त्व का उद्घाटन करती है जिसका मनुष्य के लिये मूल्य हो। वह वस्तु किसी तुच्छ, गौण अथवा आकस्मिक घटना का चित्रण मात्र नहीं है, अपितु ऐसे पदार्थ का भव्य और मनोहर निरूपण है जिसका मानव-जीवन के लिये महत्त्व है, जिसका अंकन दर्शन, विज्ञान, शास्त्रों आदि द्वारा किया जाने योग्य है। तात्पर्य यह है कि कला का विषय भी दर्शन आदि की भाँति ही गम्भीर होता है। केवल कला उस विषय के लिये सौन्दर्य का माध्यम प्रदान करती है।

(३)

कला-चेतना का प्रभाव अपने तक ही सीमित नहीं रहता। आनन्द की अनुभूति जो इस चेतना का केन्द्र है किरणों की भाँति चारों ओर फैलती है और ऐसे अनेक पदार्थों को 'सुन्दर' बना देती है जो वस्तुतः 'सुन्दर' की परिभाषा के बाहर हैं। हमने पिछले अध्यायों में इस 'आनन्दानुभूति' को समझने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम एक अन्य दृष्टिकोण से इसी का विश्लेषण, संक्षेप में, करके उस विधि का अध्ययन करेंगे जिससे यह अन्य पदार्थों को 'सुन्दर' बनाने में समर्थ होती है। अन्य पदार्थों को जो परिभाषा के अनुसार 'सुन्दर' नहीं हैं अपने प्रभाव से 'सुन्दर' बनाने की प्रक्रिया को हम सौन्दर्य-विसरण (Aesthetic irradiation) कहेंगे।

---

*A Critical History of Modern Aesthetics—Earl of Listowel P. 80.

'सौन्दर्य की अनुभूति' एक सम्पूर्ण क्रिया है जिसके दो अन्तिम पक्ष हैं : एक, पार्थिव स्तर पर, सुन्दर वस्तु और दूसरा, आध्यात्मिक स्तर पर, रसिक की आत्मा। इन दोनों पक्षों के बीच में भी कई स्तर हैं। सुन्दर वस्तु से लेकर आत्मा तक आस्वादन की क्रिया होती है, जिसके कारण इसका प्रभाव व्यापक और मार्मिक होता है। इस क्रिया को विच्छिन्न करके किसी एक स्तर पर 'आनन्द' का अध्ययन करना उसे अवास्तविक बना देता है। कला के सम्बन्ध में अनेक मत और दर्शन इस सम्पूर्ण क्रिया का अध्ययन न करके केवल एक ही स्तर पर ध्यान को केन्द्रित करने से उदय हो गये हैं।

पार्थिव स्तर पर आनन्दानुभूति का रूप 'सुन्दर वस्तु' स्वयं है। वस्तु को सौन्दर्य प्रदान करने वाले गुणों का हमने उल्लेख किया है। ये गुण सापेक्ष, सन्तुलन, संगति आदि हैं तथा माध्यम के गुण जैसे रंगों की रोचकता, रेखा की गति, पत्थर आदि की अव्यक्त अवस्था, ध्वनि का माधुर्य आदि हैं जो रसिक के लिये 'चमत्कार' उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। 'सुन्दर वस्तु' अपने इन गुणों से रसिक के शरीर, मन और इससे भी गम्भीर स्तरों पर प्रभाव डालती है जिसके कारण वह केवल पार्थिव पदार्थ ही नहीं रह जाती, किन्तु 'आध्यात्मिक' रूप धारण करती है। केवल वस्तु में ही सौन्दर्य की सत्ता मानने वाले अनेक मत हैं जिन्हें वस्तु-सत्तात्मक मत (Objective theories of beauty) कहा गया है।

शरीर के स्तर पर 'सौन्दर्य' का प्रभाव होता है जिसमें न केवल इन्द्रियाँ ही विशेष 'विश्रान्ति' का अनुभव करती हैं, किन्तु हृदय, रुधिर चक्र, मस्तिष्क, पाचन-यंत्र, श्वासोच्छ्वास क्रिया, तथा अन्य जीवन-ग्रन्थियाँ भी अद्भुत 'आनन्द' में आप्लावित हो जाती हैं। संगीत, चित्र, नृत्य आदि के शारीरिक प्रभावों का अध्ययन रोगों की चिकित्सा के सम्बन्ध में किया जा रहा है। सुन्दर वस्तु के देखने से असुन्दर वस्तु के देखने की अपेक्षा कम श्रम होता है। सुन्दर वस्तु में विन्यास का विधान रहता है; इन्द्रियों की गति इस विन्यास को ग्रहण करने में सन्तुलित रहती है। यह सन्तुलन असुन्दर वस्तु के साक्षात्कार में विच्छिन्न हो जाता है जैसा कि उस संगीत के सुनने में होता है जिसमें ताल, लय, ध्वनि-माधुर्य, आरोह-अवरोह का बन्धन नहीं है। शरीर-विज्ञान के पण्डितों ने प्रयोगों

से सिद्ध किया है कि सुन्दर वस्तु के देखने और सुनने से शारीरिक और स्नायविक शक्ति का अपव्यव नहीं होता और व्यय इस प्रकार होता है कि इससे विशेष स्फूर्त्ति प्राप्त हो, न कि शक्तियों का ह्रास हो जैसा कि आवेगों की अवस्था में हुआ करता है। कामुकता और शृङ्गार रस के अनुभवों में, शारीरिक स्तर पर, वही अन्तर है कि एक में स्नायविक-शक्ति का अपव्यय और ह्रास होता है, दूसरे में इसका संवर्द्धन और स्फुरण। ऐसे भी सौन्दर्य-शास्त्र में अनेक मत हैं जो इस 'शारीरिक-विश्रान्ति' को ही जो सम्पूर्ण सौन्दर्यानुभूति का अंग है सौन्दर्य का रहस्य मानते हैं इन सिद्धान्तों को सौन्दर्य के शारीरिक सिद्धान्त (Physiological theories of beauty) कहा जाता है।

शरीर के अनन्तर सौन्दर्य का प्रभाव मन पर विशेष होता है। सौन्दर्य के मानसिक प्रभावों में मुख्य विधानात्मक प्रभाव (Positive effect) चित्त-स्फूर्त्ति है जिसका तात्पर्य है कि रसिक के मन में अनेक भावनाओं का उद्रेक होता है, नवीन विचारों, कल्पनाओं वेदनाओं आदि का उदय होता है, तथा प्रेक्षक का अवधान वस्तु से अन्तर की ओर (अन्तर्मुखी) और अन्तर से वस्तु की ओर (बहिर्मुखी) द्रुत-गति से बहने लगता है। अवधान यह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवाह (Centripetal and centrifugal flow) अथवा आकर्षण-विकर्षण स्वयं एक आह्लादक चित्त-क्रिया है। इसके साथ ही, एक निषेधात्मक प्रभाव (Negative effect) भी आवश्यक रूप से होता है। वह यह कि सौन्दर्यानुभूति के अवसर पर रसिक में व्यवहारात्मक, क्रियात्मक तथा विज्ञानात्मक प्रवृत्तियाँ स्थगित हो जाती हैं। काम आदि स्वाभाविक प्रवृत्तियों के उपराम ही जाने से आवेग और उद्वेग भी शान्त समुद्र में लहरों की भाँति सो जाते हैं। जीवन की अतृप्तियाँ, वासनाएँ और प्रेरणाएँ विरत हो जाने से अद्भुत मानसिक उल्लास का अनुभव होता है। इस प्रकार सौन्दर्य का सुख इन अनेक मानसिक घटनाओं की समष्टि का सुख है। अनेक मतों के अनुसार यह सुख ही सौन्दर्य है। ये मत सौन्दर्य का अस्तित्व ही मानसिक मानते हैं। इन्हें हम मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक (Psychological or subjective theories of beauty) सिद्धान्त कह सकते हैं।

मानसिक स्तर से भी गम्भीर प्रभाव आध्यात्मिक स्तर पर होता है। इस स्तर पर आत्मा का 'अहम्' और 'मम' भाव नष्ट हो जाता है एवं इसका केन्द्र 'स्व' से हट कर 'वस्तु' हो जाता है। यह आत्म-विस्मृति स्वयं अलौकिक सुख है। भारतीय दर्शन तो सौन्दर्य के अनुभव से 'चिदावरण भंग' अर्थात् चिदानन्दमय आत्मा के परम स्वरूप को तिरोहित करने वाले आवरणों का नष्ट हो जाना रसास्वादन का फल मानता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी अनेक प्रकार से सौन्दर्य-सुख को आत्मानन्द माना है, जिसमें मनुष्य अपनी शुद्ध, मूल मानवता का अनुभव करता है। जीवन और जन्म की आकस्मिक सम्पदा और विपदाओं से दूर इसकी मूल-भावना का अनुभव सौन्दर्य के आस्वादन से होता है। इससे आत्मा में 'विस्तार' अथवा ब्रह्मता की भावना का उदय होता है। केवल इसी को सौन्दर्य का सार मानने वाले सिद्धान्त दार्शनिक (Philosophical theories of beauty) कहे जा सकते हैं।

हमें स्मरण रहना चाहिए कि सौन्दर्य के सम्पूर्ण और वास्तविक अनुभव को हम पृथक्-पृथक् विश्लेषण करके नष्ट नहीं कर सकते। यह सच है कि एक किसी स्थल पर विशेष बल देकर हम किसी 'वाद' का प्रतिपादन कर सकते हैं, किन्तु सत्य के परीक्षक को इन वादों के विवाद से ऊपर उठना चाहिए। सौन्दर्य एक वास्तविक अनुभव है जिसमें वस्तु से लेकर आत्मा के प्रभाव तक एक लम्बी प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया को यथावत् समझना सौन्दर्य-शास्त्र का कर्त्तव्य है।

(४)

जिस प्रकार नमक की खान में पड़ कर सभी वस्तुएँ नमक बन जाती हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य-चेतना स्वयं ही आनन्दमय नहीं होती, वह हमारे अनेक भावों और अन्य अनुभवों को जो स्वयं आनन्ददायक नहीं है आनन्दमय बना देती है। यदि हमें सौन्दर्य-चेतना के ऊपर बताए हुए तत्त्व मान्य हैं तो निश्चय है कि इसके प्रभाव से दुःख, विपत्ति, क्रोध, काम, भय, विषाद आदि भी सुख के स्रोत बन जाते हैं। यही कारण है कि कला के माध्यम में ढल कर हमारा सम्पूर्ण जीवन और जगत्, इसके महान् और तुच्छ, इसके उत्थान और

पतन, सभी पदार्थ रूपान्तरित हो जाते हैं। सौन्दर्य की अनुभूति में शरीर, मन और आत्मा में जो स्फुरण उत्पन्न होता है उसके प्रभाव से अनेक भावों और पदार्थों का 'सुन्दर' बन जाना ही 'सौन्दर्य-निसरण' (Aesthetic eradication) है।

प्रत्येक युग में व्यक्ति और समाज के जीवन का एक केन्द्र-विन्दु अवश्य होता है। जिस प्रकार प्राचीन युगों में धर्म, राज-शक्ति, वैभव आदि जीवन के लये 'सर्वस्व' होकर रहे हैं और कला ने अपने सम्पूर्ण चमत्कार का इसी 'सर्वस्व' को सुन्दर बनाने के लिये उपयोग किया है उसी प्रकार हमारे युग में जीवन का केन्द्र-विन्दु 'क्रान्ति' रहा है और कला ने अनेक प्रकार से इसो को अपने सौन्दर्य का वरदान दिया है। फलतः चित्र, संगीत, मूर्ति तथा साहित्य में 'श्रीमान्' लोगों के जीवन, उनके विलास आदि को त्याग कर दीन, साधारण जीवन को 'सौन्दर्य' का विषय बनाया है। वैसे तो कला और साहित्य के विषयों को लेकर कई वादों का जन्म हुआ है, किन्तु इनमें 'यथार्थवाद' (Realism) आधुनिक युग की प्रेरणा है।

कला में यथार्थवाद का क्या अर्थ है?

'प्राचीन' कहलाने वाली कला में सौन्दर्य का सृजन समाज के 'श्रीमान्' वर्ग को ध्यान में रखकर होता था मानो इसी वर्ग को सौन्दर्य-आस्वादन का अधिकार था। अतएव कला का विषय भी इसी वर्ग का जीवन, इसी की समस्याएँ, इसी के विलास और शोक, आदि होता था। समाज का एक विशाल अंग अर्थात् दीन वर्ग, किसान, मज़दूर, आदि का लोक इस कला में कोई स्थान नहीं पाता था। श्रीमान् लोगों की कला में कलाकार कल्पना के बल से ऐश्वर्य के लोकों का चित्रण करता था जिनका जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस लिये आधुनिक कलाकार को वह कला जिसमें काल्पनिक ऐश्वर्य का चित्रण धनी वर्ग के मनोरञ्जन के लिये किया गया हो 'अ-यथार्थ' प्रतीत हुई। अतएव आधुनिक कला जन-जीवन को अपना विषय बनाती है: उसी के विनोद और उत्ताप, दुःख और सन्तोष आदि का चित्रण करना उसका प्रधान उद्देश्य रहता है। यह यथार्थवाद का उद्गम है।

यथार्थवाद की मूल-भूमि हमारी वैज्ञानिक प्रवृत्ति है। विज्ञान के लिये हमारा साधारणतम अनुभव, जिसमें इन्द्रियों का उपयोग होता है, सत्य का स्रोत है। सत्य कल्पना पर नहीं प्रत्यक्षीकरण पर आश्रित है। सत्य ही प्रिय होता है अथवा होना चाहिए। सम्पूर्ण वैज्ञानिक सत्य का आधार हमारा साधारण अनुभव है। अतएव कला तभी सत्य होती है जब वह जीवन और अनुभव के निकट रहकर उसकी अभिव्यञ्जना के लिये सौन्दर्य का माध्यम स्वीकार करती है। जन-जीवन से जितनी दूर कला होती है उतनी ही वह असत्य और अप्रिय होगी। सत्य कला जीवन का 'यथावत्' चित्रण करती है। इस वैज्ञानिक तथ्य में यदि हम अपने युग की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों को और जोड़ दें तो कला के पीछे रहने वाली प्रेरक शक्ति को हम समझ सकेंगे। इन परिस्थितियों के कारण जीवन अत्यन्त विस्तृत, जटिल और गतिशील हो उठा है। आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति, बुद्धि का सम्पूर्ण बल और जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणा इसी जटिल परिस्थिति को सुलझाने में लगे हैं। अतएव कोई कला अथवा साहित्य जो युग के जीवन-केन्द्र से हट कर, जन-जीवन की मूल प्रेरणाओं की अवहेलना करके, सौन्दर्य का सृजन करने को उन्मुख है तो वह निश्चय 'बेसुरा' सौन्दर्य होगा। यथार्थवाद कला के लिये आधुनिक युग की मुख्य देन है।

जीवन के विस्तार के साथ यथार्थवाद के भी कई स्तर और रूप हो गये हैं। एक तो पूंजीवाद, सामन्तवाद आदि मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना जन-जीवन की यथार्थ भावना है। इसमें क्रोध, विनाश, क्रान्ति, विद्रोह आदि के भाव प्रबल रहते हैं। साहित्य का काफ़ी भाग इसी भावना से भावित है।

दूसरे, सम्पूर्ण जीवन में मध्यकालीन धार्मिक एवं राजनैतिक भावना और परिस्थितियों के कारण कुछ अंशों का दमन हुआ था। उस समय समाज में स्त्री-पुरुष, मालिक-नौकर, राजा-प्रजा आदि के अनेक नैतिक आदर्श उपस्थित किये गये थे जो उस काल के लिये उपयुक्त होते हुए भी अब असामयिक प्रतीत होते हैं। न केवल असामयिक ही, प्रत्युत वे आदर्श जीवन के विकास

को और उसकी विकासशील शक्तियों को संकुचित करते प्रतीत होते हैं। यथार्थ-वादी कला में मध्यकालीन नैतिक आदर्शों के खोखलेपन का उद्घाटन भी किया जाता है।

यथार्थवाद का तीसरा रूप वह है जिसमें आधुनिक जीवन के संघर्ष का दिग्दर्शन मिलता है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र की समस्याओं का यथावत् चित्रण और उनका स्पष्टीकरण आधुनिक कला का एक आदर्श है। यह कला मनोवैज्ञानिक होती है, क्योंकि इसमें कलाकार जन-जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करके उनके मानसिक अनुभवों और उत्तापों का अनुगम करता है। इस प्रवृति के फल-स्वरूप जनता के लिये समझने योग्य सरल, रोचक साहित्य और कला का सृजन हो रहा है। लोक-गीत जिसमें मानो जनता के प्राणों की पीड़ा पुलकित हो रही आज हमें अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते हैं। जन-भाषा और मुहाविरों का प्रयोग भी इसी प्रवृत्ति की उपज है।

केवल अतीत अथवा वर्त्तमान से सन्तुष्ट न होकर कला का रुख अब भविष्यत् के निर्माण की ओर हो चला है। एक नवीन युग की कल्पना ने जिसमें सच्ची मानवता का उदय होगा तथा जीवन भ्रामक धर्म और नीति के बन्धनों से मुक्त होकर आगे बढ़ेगा, कला को नवीन शक्ति और प्रेरणा प्रदान की है तथा कला-सृजन के लिये अनन्त अन्तराल खोल दिये हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने एक ओर जहाँ अनेक प्राचीन भ्रमों को स्पष्ट किया है वहाँ विश्व के वैचित्र्य को और भी बढ़ा दिया है, क्योंकि आज का मनुष्य जीवन के विस्तार की सीमा पृथ्वी तक ही नहीं मानता। वह अनन्त-विश्व में विहार करने वाला प्राणी है। इससे कल्पना को अवकाश मिला है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने, दूसरी ओर, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भारी क्रान्ति उत्पन्न की है अपने अनुसन्धानों के बल से नवीन आशा को जन्म दिया है। इस प्रकार सब मिला कर विज्ञान ने कला का दमन नहीं किया, प्रत्युत एक नवीन शक्ति और क्षेत्र प्रदान किया है। वस्तुतः यथार्थवाद की यही प्रगतिवादी शाखा जो है आदर्शवाद से दूर नहीं है। यद्यपि हमारे देश का 'प्रगतिवादी' कहलाने वाला साहित्य प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्वेष, वर्त्तमान पूंजीवाद और सरकार के प्रति

विद्रोह की भावना से प्रभावित है, तथापि यह मानना होगा कि सच्चे प्रगति-वाद में 'आशा-वाद', अतीत के ऊपर विजय पाने का उल्लास तथा भविष्यत् के निर्माण के लिये दृढ विश्वास, अदम्य उत्साह तथा आनन्द के भाव होने चाहिए। सच्चा आदर्शवाद भी यही है जो सच्चे यथार्थवाद से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

आदर्शवाद की पलायनवाद भी एक शाखा है। जीवन की जटिल समस्याओं से घबरा कर सरल जीवन की कल्पना करना ही इसका उद्देश्य है। संकल्प की दुर्बलता जहाँ इस प्रवृत्ति का दोष है वहाँ कल्पना के लिये विशेष क्षेत्र का आविष्कार इसका गुण है। हम जटिल जीवन से भाग कर जीवन की सरल सरणि की खोज में कभी 'अतीत' में जाते हैं, कभी आदिम काल में, कभी सुदूर भावी की कल्पना करते हैं। मानना होगा कि बुद्ध के वैराग्य की भाँति ही पलायन-प्रवृत्ति ने कला के एक भाग को समृद्ध बनाया है।

नैतिक बन्धनों से युक्त होने की इच्छा ने यथार्थवाद के नाम से कुरुचि पूर्ण कला के सृजन को भी प्रोत्साहन दिया है जिसके फल-स्वरूप हमें 'सनीमे की कला' प्राप्त हुई है। 'सनीमे की कला' और उसके 'कलाकारों' के विषय में हम इतना ही कहेंगे कि यद्यपि अच्छे बने हुए घर में जहाँ सुन्दर कमरे, रसोई-घर आदि होते हैं वहाँ यथार्थ यह भी है कि उस घर में शौचालय और मूत्र-गृह भी होता है, तथापि हम दर्शक अतिथि को घर में इन वाद वाले स्थानों का दूर से संकेत करके अच्छे स्थानों में ले जाते हैं। 'सनीमे की कला' यथार्थवाद के नाम से जीवन के शौचालयों और पेशाबघरों तथा भद्दी और कुरुचिपूर्ण प्रवृत्तियों—और इससे भी बढ़ कर नैतिक आदर्शों से पतित 'वीरों' और 'नायकों' के चित्रण—आदि का उद्घाटन करना अपना परम ध्येय समझे हुए है। 'सनीमे की कला' को, जो हम आज देखते हैं, कला कहना कला का भारी अपमान है।

(५)

कला के कई वादों में प्रभाववाद (Impressionism) प्रसिद्ध है। जब हम फ़ोटो देने के लिये केमरे के सामने उपस्थित होते हैं तो हम एक ऐसा

रूप धारण करते हैं तथा ऐसी मुख-मुद्रा और भाव-भंगिमा स्वीकार करते हैं जो हमारे स्वाभाविक रूप से पृथक् होती है। इसके स्थान पर यदि हम बोलते हुए, बैठे या अन्य किसी कार्य में स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त किसी क्षण में केमरे के द्वारा, हमारे बिना जाने हो, चित्रित हो जायें तो वह हमारा वास्तविक रूप होगा, किन्तु इसमें यह अवश्य ही कुछ अद्भुत प्रतीत होगा क्योंकि बोलते समय कभी होंठ खुले रहते हैं तथा कभी बड़ी विचित्र मुद्रा बन जाती है। क्षण-क्षण में बदलने वाली मुख-मुद्रा पर ध्यान न देकर हम एक स्थिर चित्र ही अपने सामने रखते हैं। प्रभाववाद के अनुसार कला के लिये जीवन के किसी क्षण में जो उसका रूप उदय होता है उसका सृजन करना ही परम श्रेय है। इस क्षणिक किन्तु सत्य 'प्रभाव' (Impression) का मूर्त्त माध्यमों द्वारा उद्घाटन करना कला का लक्ष्य है। न केवल मानव-आकृति में, किन्तु प्रकृति के किसी भी क्षेत्र में कलाकार किसी वस्तु के स्थिर रूप का दर्शन न करके उसके क्षणिक रूप को हृदयंगम करता है। यह रूप अवश्य ही हमारी 'स्थिरता' को खोजने वाली आँखों के लिये अद्भुत प्रतीत होगा।

कला-जगत् की बहुत ही आधुनिक उपज अयथार्थवाद (Super-realism) है। इसका कथन है कि हमारे जीवन का वह अंश जो स्पष्ट और शब्दों में व्यक्त करने योग्य है बहुत थोड़ा है। विचार के द्वारा हम जीवन के स्पष्ट अंगों को समझते हैं अथवा उन अंगों को स्पष्ट बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न का फल विज्ञान है। किन्तु जीवन का बहुत बड़ा अंश या तो गम्भीर वेदनाओं और भावनाओं में अव्यक्त रहता है जिसे शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता या केवल छाया मात्र का आभास उत्पन्न किया जाता है, अथवा, वह चेतन भाग के नीचे अचेतन और अर्द्ध-चेतन अवस्था में रहता है जहाँ उसे यद्यपि व्यक्त होने का साधन प्राप्त नहीं होता तथापि उसमें व्यक्त होने की प्रेरणा निरन्तर बनी रहती है। इस अव्यक्त, अस्पष्ट, अचेतन किन्तु मानव-व्यक्तित्व के अधिकांश भाग को चित्र, मूर्ति, काव्य, संगीत आदि के द्वारा मूर्त्त बनाना कला का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसी कारण कला का जीवन से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है और इसीसे वह एक ऐसी कमी को पूरा करती है जिसके

लिये विज्ञान असमर्थ है। कलाकार इस अस्पष्ट भाग को मूर्त्त माध्यम द्वारा सौन्दर्य के उपकरणों से सजा कर हमारे लिये प्रस्तुत करता है। किन्तु इसके लिये मूर्त्त माध्यम क्या हो सकता है? हम अपने ही अन्तर में ऊर्मिल वेदनाओं और आकाँक्षाओं का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकते। अतएव भाँति-भाँति के प्रतीकों (Symbols) का उपयोग कला में किया जाता है। उदाहरणार्थ : अंगारक ब्रह्मचारी गोविन्द की कला का एक नमूना लीजिये। इसमें गोल, चक्राकार नालिकाकार पिरेमिडाकार आदि अनेक ज्यामितिक ठोस आकारों का इस प्रकार विन्यास किया जाता है कि दर्शक में कभी 'अनन्त' का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कभी 'मोक्ष', कभी 'रहस्य' कभी 'ब्रह्म' का अनुभव होता है। इसी प्रकार अन्य कलाओं में भी जीवन की गम्भीर किन्तु अस्पष्ट वेदनाओं को मूर्त्त करने के लिये अनेक प्रतीकों का उपयोग किया जाता है।

प्रयथार्थवाद वस्तुतः कला के आदिम आदर्श का पुनर्जागरण है। यह रहस्यवाद है जिसका स्थान साहित्य और कला में इसीलिये निश्चित है कि यह जीवन के अनन्त अवकाशों और अनिर्वचनीय किन्तु अप्रतिषेधनीय अंशों को समूर्त्त करती है। यह कला उस आदिम मनुष्य की तंत्री के नाद में मिलती है जिसको सुनने से अव्यक्त और अकथनीय वेदना का अब भी उदय हो जाता है। ग्राम्य गीतों में तथा लोक में अब भी प्रचलित नृत्यों में तथा उनकी कुछ ध्वनियों में अब भी अद्भुत 'अवसाद' का अनुभव किया जा सकता है। जन-काव्य में इसी कला की गहरी छाप है। इसी कला के संस्कृत नमूने वेद, उपनिषद्, गीता तथा हमारे युग में कबीर और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों में मिलते हैं। किन्तु इस कलानुभूति की प्रकृष्टता जन-काव्य और जन-गीतों में जितनी है उतनी 'संस्कृत' कहलाने वाली कला में नहीं है।

हमें उचित है कि कला के उच्च आदर्शों की रक्षा के लिये संस्कृति और सभ्यता के प्रभावों से जन-कला को बचायें और वैज्ञानिक साधनों से उसकी सुरक्षा करें। जन-गीतों का संग्रह तथा पिछड़ी हुई कहलाने वाली जातियों के संगीत, नृत्य, चित्र आदि का अध्ययन और संरक्षण प्रत्येक सभ्य देश इस समय कर रहा है। लोओनार्ड आदम नामक जर्मन विद्वान् ने 'प्रिमिटिव आर्ट'

पुस्तक में आदिम कहलाने वाली अनेक जातियों की कला का अध्ययन किया है। कला के मूल-तत्त्वों को समझने वाले विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि सभ्य और संस्कृत कहलाने वाली कला की अपेक्षा आदिम कला में कलात्मकता अधिक है। भारतीय ग्राम-गीतों में सरल स्वर और शब्द-विन्यास के द्वारा जन-जीवन की वह आर्द्र और द्रावक झाँकी मिलती है जिसे हमारे 'संस्कृत' काव्य नहीं पा सके हैं। विवाह, कन्या की विदा, अनेक माङ्गलिक और धार्मिक अवसर हमारे जीवन में आते हैं जब जीवन की मूल-प्रेरणाएँ, आत्मा की आदिम और प्रखर अनुभूतियाँ, मानसिक उद्वेलन और हार्दिक पीड़ाएँ, सब जग उठती हैं। हम 'सभ्यता' के नाम से इनको छिपाते हैं, किन्तु हमारे ग्रामों के सरल जीवन में इनके उद्रेक के लिये पर्याप्त अवकाश अभी प्राप्त है। अतएव ग्राम-गीतों और नृत्यों में हमें शुद्ध आनन्दमय कला के ऊँचे से ऊँचे आदर्श मिल सकते हैं। सच्चा यथार्थवाद और प्रगतिवाद भी इसी जन-कला में विद्यमान है।

उपसंहार

मनुष्य ने आदिम अवस्था से अपने आप को उठाने के लिये जो प्रयत्न किये हैं उनकी दो दिशाएँ रही हैं। एक तो, जीवन के लिये उपयोगी बाह्य साधनों का अधिकाधिक विकास किया है। हम इस विकास को 'सभ्यता' कहते हैं। दूसरे, मनुष्य ने अनेक शक्तियों का विकास करके अपने आध्यात्मिक वैभव में वृद्धि की है जिसके फल-स्वरूप विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला आदि मानवी-सम्पत्ति का विकास हुआ है। विकास के इस अंग को हम 'संस्कृति' कह सकते हैं। कला से संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये इनका विशेष स्वरूप निरुपण करना होगा।

आदिम अवस्था से लेकर अब तक हमारे रहन-सहन, खान-पान, यातायात के साधनों और प्रकारों में बहुत अन्तर हो गया है। आज जिस संसार में मनुष्य रहता है उसमें पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और अग्नि इन पाँच मूल-तत्त्वों को छोड़कर सभी कुछ उसी का आविष्कार किया और बनाया हुआ है। वर्त्तमान वैज्ञानिक अनुसंधानों ने तो अनेक प्राकृतिक कार्यों को अपना लिया है जिससे अब कृत्रिम वायु अथवा अनेक प्रकार के पेय जल और गर्मी पाने के अनगिन साधन उसे प्राप्त हैं। यान की गति का तो ठिकाना ही क्या ? आत्म-रक्षा और आक्रमण के साधनों का आविष्कार तो इस सीमा को पहुँच चुका है कि मनुष्य को अपने से ही भय उत्पन्न हो गया है। उसी प्रकार हमारे समाज की व्यवस्था भी उत्तरोत्तर जटिल होती गई है और अब तो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्याएँ इतनी विकट हो गई हैं कि इनको सुलझाने के लिये चरम बुद्धिमत्ता की अपेक्षा प्रतीत होती है। जीवन के बाह्य साधनों की वृद्धि और विकास जिसका लक्ष्य इसे अधिक समर्थ और सुखी बनाना हो हम 'सभ्यता' कहते हैं।

हम निश्चय ही आदिम मनुष्य की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं।

भय और असुविधाओं से मुक्त होने पर, मनुष्य में आन्तरिक सुख की प्रेरणा उत्पन्न होती है। वह बुद्धि की तृप्ति के लिये गवेषणा करता है और प्रकृति के अनेक क्षेत्रों में व्यापक तत्त्वों और नियमों का अनुसन्धान करके 'विज्ञानों' का निर्माण करता है। उसके सामने 'उचित' और 'अनुचित' के नैतिक प्रश्न उपस्थित होते हैं। व्यवहार के आधार-भूत सिद्धान्तों की खोज की जाती है। मानव-जीवन के आदर्शों का पता लगाया जाता है। जीवन के परम सत्यों के ऊपर दार्शनिक विवेचन प्रारम्भ होता है जिसके फल-स्वरूप न केवल व्यक्तिगत जीवन में, अपितु सामूहिक जीवन में शान्ति, प्रेम, सौहार्द, वैराग्य, सत्य के प्रति दृढ़ विश्वास की भावना, विचारों का मूल्य, व्यवहार में शालीनता, भद्रता और कुशलता आदि दैवी गुणों का उदय होता है। यह मनुष्य की संस्कृति है।

सभ्यता और संस्कृति में निकट अथवा घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई मनुष्य अथवा समाज सभ्यता की चरम उन्नति पर पहुँच कर भी आवश्यक रूप से संस्कृत नहीं होता, जैसा कि हमारे युग में हुआ है। इसी प्रकार संस्कृति का चरम शिखर सभ्यता को अधिक स्पर्श किये बिना भी खड़ा रह सकता है जैसा कि दर्शन, कला और धर्म-प्रधान प्राचीन युगों में था। एक भारतीय साधु को लीजिए जो सच्चे अर्थ में साधु है। वह संस्कृत तो अवश्य है क्योंकि उसमें मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास हो चुका है। उसमें दार्शनिक गाम्भीर्य, उदारता, क्षमता आदि गुण विद्यमान हैं। परन्तु मान लीजिए वह साधु वन में रहता है और साइकिल, मोटर से न चल कर पैदल चलता है, दो एक सादे कपड़े पहन कर, भीख मांग कर, जीवन यापन करता है सो आज का मनुष्य उसे 'सभ्य' कहने में संकोच करेगा दूसरी ओर, आज का फैशनेबिल युवक सभ्य दिखते हुए भी 'संस्कृत' तो अवश्य ही नहीं है।

स्वस्थ जीवन में सभ्यता और संस्कृति दोनों का सामञ्जस्य उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार 'आन्तरिक' और 'बाह्य' का शारीरिक और आध्यात्मिक का सामञ्जस्य, आवश्यक है। कला इन दोनों के मध्य में मिलन-बिन्दु है, क्योंकि यह दोनों से ही प्रेरणा और शक्ति पाती है और दोनों को ही ऊर्वरता, समृद्धि और सौन्दर्य प्रदान करती है। कला-कृति जैसे चित्र, मूर्ति, काव्य आदि को

लीजिए। इसमें मूर्त्त अथवा पार्थिव माध्यमों के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों की स्पष्ट अभिव्यञ्जना होती है। सभ्यता के विकास से मूर्त्त माध्यमों का विकास और आविष्कार होता है। यदि आदिम मनुष्य ने पत्थर के औजारों से गेरू की सहायता से गुफ़ा की भित्तियों पर जंगली जानवरों के भावमय चित्र बनाये थे तो गुप्तकाल में जो भारतीय सभ्यता का सुवर्ण-काल था सुन्दर पत्थरों और गुहाओं को काट कर बने हुए मन्दिरों में अनेक वर्णों की सहायता से बौद्ध-चित्रों का निर्माण हुआ था। कला में 'कौशल' नामक पदार्थ सभ्यता के विकास से ही प्राप्त होता है और इससे भी बढ़कर, कला का सम्पूर्ण बाह्य कलेवर, उसका वैभव, सभ्यता की ही देन होती है।

कला भी सभ्यता को सौन्दर्य प्रदान करती है, उसे रुचिकर और 'मानवीय' बनाती है। कला में रूप, भोग और अभिव्यञ्जना के तत्त्व रहते हैं; इसमें सन्तुलन, सापेक्ष, लय आदि सिद्धान्तों का निरूपण होता है। सभ्यता का विकास जिन भवन, गृह सभालय आदि अनेक निर्माणों को प्रोत्साहन देता है उनमें कला के समावेश से सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। हम शुद्ध 'उपयोगिता' से सन्तुष्ट नहीं होते। सभ्यता के विकास के साथ जिन नित्य नवीन उपयोगी वस्तुओं का निर्माण होता है उनमें कला के सौन्दर्य-सिद्धान्तों का अधिकाधिक समावेश होने से 'उपयोगिता' में आनन्द और रस का संचार होता है।

यदि कला केवल 'वस्तु' ही नहीं है तो उसका प्राण अवश्य ही संस्कृति के विस्तार और विकास की अपेक्षा रखता है। प्रत्येक युग की कला उस युग के सांस्कृतिक विकास से अभिव्यञ्जना की सामग्री पाती है। चित्र, मूर्ति अथवा साहित्य में जिन दया, क्षमा, वीरता, आदि के आदर्शों का उद्घाटन किया जाता है वे किसी समाज की संस्कृत रुचियों के परिचायक होते हैं। कलाकार की आत्मा में समाज के स्पष्ट और अस्पष्ट, चेतन और अचेतन भावों का उदय होता है। ज्यों-ज्यों समाज की रुचियाँ, विचार और भाव अधिकाधिक स्पष्ट और संस्कृत होते जाते हैं, कला में भी उन्हीं की ध्वनि, उन्हीं का अनुरणन होता है। संस्कृति ही कला की उत्पत्ति के लिये मूल-भूमि है।

कला संस्कृति को सरसता और सौन्दर्य प्रदान करती है। यदि जीवन के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्श कला से कोई सम्बन्ध न रखें तो इनकी नीरसता अवश्य ही इनको अरुचिकर बना देगी। सभी देशों में दर्शन और कला, धर्म और कला, नीति और कला का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अपने अपने विषयों में रोचकता लाने के लिये इन्होंने कला के सौन्दर्य-सिद्धान्तों का उपयोग किया है। बुद्ध का वैराग्य, कबीर का रहस्य-वाद, तुलसी का भक्ति-दर्शन चित्रकारों, मूर्तिकारों और कवियों के हाथों में पड़ कर न सुन्दर ही हुए, इनके सत्य की प्रतीति भी अधिक दीप्त हो उठी।

कला का समाज पर व्यापक प्रभाव होता है। अतएव समाज के लिये उचित है कि वह संस्कृति अर्थात् दार्शनिक विचारों, नैतिक आदर्शों आदि के विकास से कला के लिये उचित सामग्री। उपस्थित करे, और, सभ्यता के विकास द्वारा उसे पर्याप्त उपकरण और साधन उपलब्ध करे। संस्कृति और सभ्यता के विकास से अवश्य ही कला का वैभव बढ़ेगा। कला के विकास से उस समाज में जन-रुचि का आविर्भाव और संस्कार होगा। कला अपने सरस स्पर्श से सत्य को सत्यतम और शिव को शिवतम बनाकर मानव-मन में अधिक प्रतीति उत्पन्न करेगी। हम जिन आदर्शों को भी अपनायेंगे, जिन व्यवहारों को उचित, जिन भाव को मूल्यवान् समझेंगे, कला अपनी शक्ति से उनको स्पष्ट बनायेगी। कला की इस व्यापक शक्ति को समाज के विचारक नेता अपने आधीन रखें तो कल्याण की आशा की जा सकती है। यदि यही कला लालची, दुष्ट मनुष्यों के हाथ में पड़ जाती है अथवा समाज ही कला के लिये अनुचित उदाहरण उपस्थित करता है तो निश्चय ही कला की शक्ति उस समाज को नष्ट करने लगती है। यद्यपि यह सत्य है कि कला की स्वतन्त्रता का अपहरण न होना चाहिए, उसके लिये सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक बन्धन हानिकारक सिद्ध होंगे, तथापि कला की अनियंत्रित शक्ति, विशेषतः उस परिस्थित में जब कि उससे सामाजिक आदर्शों में हानि होती है, अवश्य ही उचित प्रतीत नहीं होती। यदि कलाकार की सौन्दर्य-भावना उसे सृजन के लिये प्रेरित करती है तो निश्चय है कि वह भावना 'मंगल' की विनाशक नहीं होगी, विधायक ही हो

सकती है। कला के आदर्श लोक-मंगल का विरोध कर हमें मान्य नहीं हो सकते। वास्तविक कला लोक के लिये सौन्दर्य का सृजन करती है जो स्वयं परम मंगल का रूप है।

कला हमें सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के लिये भी आदर्श प्रदान करती है। सौन्दर्य वस्तुतः अनेक के सामञ्जस्य, सन्तुलन और समता का नाम है। सामाजिक व्यवस्था जिसमें अनेक वर्गों अथवा व्यक्तियों का सामञ्जस्य नहीं है, जिसमें विषमता है अथवा एक वर्ग दूसरे का अपघात करता है, वह न केवल अन्यायपूर्ण है, वरन्, असुन्दर भी है। इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में भी अनेक भावों, विचारों, आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों का समावेश रहता है। यदि इनमें विषमता और दमन रहता है, यदि इसके विभिन्न अङ्गों में सन्तुलन और सापेक्ष का अभाव है तो वह मनुष्य अवश्य ही अस्वस्थ होगा। सुन्दरता का सर्वोत्तम उदाहरण 'पुष्प' है जिसकी पंखड़ियाँ अलग-अलग होती हुई भी कोमल तन्तुओं से जुड़ी रहती हैं; एक दूसरे से समभाव में श्लिष्ट रहती है, रंग, रूप और गन्ध में सामञ्जस्य रहता है। स्मरण रहे अन्ततोगत्वा सौन्दर्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त 'सन्तुलन' में आकर परिसमाप्त होते हैं। यह सन्तुलन ही 'सत्य' है, यही 'शिव' है, यही 'स्वास्थ्य' है और यही न्याय भी है। इस सिद्धान्त की अवहेलना से कला में असुन्दर का आविर्भाव होता है, विज्ञान में 'असत्य', समाज में अकल्याण तथा जाति और व्यक्ति के जीवन में अस्वास्थ्य उत्पन्न है। हम जिसे अन्याय कहते हैं वह सन्तुलन का अभाव है। सौन्दर्य की अवहेलना न केवल पाप है, भयावह भी है, क्योंकि समता और सन्तुलन के अभाव से समाज में जो असन्तोष फैलता है उसका उपचार एक मात्र क्रान्ति है।

विद्रोह, महायुद्ध सौन्दर्य के सिद्धान्तों के अपमान का फल हैं। केवल व्यापक क्रान्ति ही जीवन में सौन्दर्य की पुनः प्रतिष्ठा कर सकती है।

पठनीय पुस्तकें

दार्शनिक ग्रन्थ

1. G. L. Raymonds — The Essentials of Aesthetics
2. H. Read — The Meaning of Art
3. G. Santayana — The Sense of Beauty
4. G. Santayana — Reason in Art
5. Vernon Lee — Beauty and Ugliness
6. Vernon Lee — The Beautiful
7. B. Croce — The Essence of Aesthetics
8. Hegel — The Philosophy of Fine Art
9. Kant — Critique of Judgment
10. Baudouin — Psychoanalysis and Aesthetics
11. E. F. Carritt — The Theory of Beauty
12. B. Bosanquet — A History of Aesthetics
13. G. Gentile — The Phiosophy of Art
14. S. Alexandar — Artistic Creation and Cosmic Creation
15. C. Bell — Art
16. A. B. Govind — Art and Meditation
17. A. K. Kumarswami — The Dance of Shiva
18. A. K. Kumarswami — The Transformation of Nature in Art
19. M. R. Anand — Tne Hindu View of Art
20. J. M. Thorburn — Art and Unconscious

अन्य पुस्तकें

1. Indian Sculpture — S. Kramrisch
2. The Hindu Temples — S. Kramrisch
3. Buddhist Wall Paintings — Langdon Warner
4. Six Limbs of Painting — A. N. Tagore
5. Anatomy of Indian Painting — A. N. Tagore
6. Indian Shilp Shastra — M. A. Ananthalwar
7. Somnath and other Temples in Kathiawar — J. H. Cousins
8. The Story of Stup — A. H. Longhurst
9. The Stupa Symbolism — M. R. Anand
10. Ajanta — G. Yazdani
11. Mahabodhi — A. Cunningham
12. Sanchi and its remains — F. C. Maisy
13. Introduction to Indian Painting — A. K. Coomarswamy
14. Indian Art through the Ages — A. K. Haldar
15. Studies in Indian Painting — N. C. Mehta
16. The Development of Early Hindu Iconography — A. A. Macdonell
17. Indian Images — B. C. Bhattacharya
18. Ideals of Indian Art — E. B. Havell

19. Indian Sculpture and Painting — E. B. Havell
20. Rock-cut Temples of India — J. F. Ferguson

संस्कृत ग्रन्थ

१. शिल्प-रत्नम् , २. विष्णु-धर्मोत्तरम्, ३. मान सार, ४. चित्राङ्कन, ५. प्रतिमा लक्षण विधानम्, ६. मय शास्त्र, ७. विश्वकर्मा प्रकाश, ८. चित्र लक्षणम्, ९. नाट्य शास्त्र, १०. शुक्रनीति, ११. ध्वन्यालोक, १२. रसगङ्गाधर, १३. काव्य प्रकाश, १४. साहित्य-दर्पण, १५. काव्य मीमांसा ।